जाय, तो कौन मनुष्य फिर खुल्लमखुल्ला पशु की तरह व्यवहार करने पर गर्व करेगा ? तब यह निरी असम्भवता ही होगी। मानव के भीतर पशुता है, पर वह उस पशुता में मनुष्यता का गौरव माने, यह अचिंतनीय बात जान पड़ती है। और अगर आज ऐसा है तो मुझे पक्का विश्वास है कि निकट भविष्य में ऐसा नहीं रहने वाला है। उसके लिए कितनों को मौत के घाट उतरना पड़ेगा,—कहना कठिन है। पर, निश्चय ही आशा करनी चाहिए कि काफी संख्या में ऐसे लोग प्रस्तुत होंगे जो बिना खून लिए अपना खून दे देंगे। उस स्वेच्छापूर्वक अहिंसा-भावना के साथ बहाए हुए अपने खून से लोकमत में चैतन्य भर जायगा। वैसा जाग्रत जनमत ही मानवता के पक्ष का सच्चा बल होगा।

'मेरा विचार है कि इस मामले में अन्तर्राष्ट्रीय सेना, या पुलिस, या अन्तर्राष्ट्रीय गुप्तचर-विभाग अन्ततः हमारी मदद करने वाले नहीं बनेंगे। क्योंकि यह सर्वथा असत्य है कि हिंसा से हिंसा शान्त हो सकती है।

'व्यावहारिक' के नाम पर पहले ऐसी ही बातें सूझती हैं। पर जब तक राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय (=भाईचारे की) भावना नहीं है, तब तक 'लीग आफ़ नेशन्स'-जैसी संस्थाओं को व्यवहारोपयोगी पाना भी असम्भव है।

तब यही शेष रहता है, और यह पूर्णतः व्यावहारिक है, कि मेल और एकता में विश्वास रखने वाले अपनी जान को वैसी ही सस्ती समझ लें जैसी कि हिंसा में विश्वास रखने वाले दूसरे की जान को समझते हैं। वे अपनी जान देने को तैयार हो जावें, जैसे कि हिंसा वालों की सन्नद्ध फौजें जान लेने को तैयार रहती हैं।

सच बात यह है कि यदि शक्ति नीति से जीतती दीखती है तो इसीलिए कि जब शक्ति सेवी अपने को बचाता नहीं है और खतरे उठाकर अपने मंतव्य पर दृढ़ रहता है, तब, नीति-मानने वाला वैसे ही अपने संकल्प पर कटिबद्ध होकर खतरे नहीं उठाता। वह शान्ति चाहता है, पर उसकी कीमत चुकाना नहीं चाहता। इसका उपाय यह है कि नैतिक पुरुष कर्मण्य भी हो।

२—विविध देश : उनका पारस्परिक सम्बन्ध

प्रश्न—किसी देश की अपनी आवश्यकता का अर्थ क्या समझा जायगा ?

उत्तर—देश की अपनी आवश्यकताओं के बारे में निर्णायक उस देश को ही होने देना होगा, निर्णायक मैं नहीं हो सकता। यहाँ मुख्य बात वृत्ति की है। देश के सब लोगों को जरूरी खाना-पीना और कपड़ा और सामाजिक विस्तृति और मानसिक उन्नति की सुविधा होने का मौका होना चाहिए। आवश्यकताओं की मर्यादा पदार्थों की गिनती द्वारा नहीं बाँधी जा सकती। सच तो यह है कि धीमे-धीमे विकास के साथ 'सरकार' नाम की चीज लुप्त हो जायगी। सरकार माने बाहरी शासन। भीतरी शासन की कमी है, इसी से तो बाहरी शासन जरूरी हो जाता है। उस बाह्य शासन का अभिप्राय है अन्तस्थ शासन को जगाने और मजबूत बनाने में सहायक होना। जो सरकार यह नहीं करती वह भूल करती है। जैसे-जैसे अन्तः शासन जागेगा, वैसे-ही वैसे बाह्य आतंक के उपादान कम होते दीखेंगे। इसलिए, जब कि यह नहीं कहा जा सकता कि गणना में देश की आवश्यकताएँ क्या हैं, तब यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक देश को उत्तरोत्तर स्वायत्त शासन की ओर बढ़ना चाहिए। उसकी ओर बढ़ते हुए देश का परिग्रह (और वैसा भौतिक परिग्रह ही उस देश के आर्थिक प्रश्न को खड़ा करता है) कम होता जायगा। देश की आर्थिक समस्या तब खुलकर विकेंद्रित (Decentralize) होती जायगी। वह एक सिमटी गुत्थी की गाँठ की भाँति नहीं रहेगी। पार्थिव लालसाएँ व्यक्ति को कम होंगी क्योंकि उनकी जरूरत न रहेगी और व्यक्ति की सामान्य आवश्यकताएँ व्यक्ति के थोड़े परिश्रम से अनायास पूरी हो जाया करेंगी। उसके लिए बड़ा आयोजन State Planning दरकार न होगा।

जब आर्थिक चिन्ता न रही, तब देश की चिन्ता सांस्कृतिक हो रहेगी। और इस चिन्ता के फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान कला-साहित्य जन्म लेंगे।

प्रश्न—किसी पीड़ित देश का सम्पन्न देश के प्रति क्या भाव रहेगा?

उत्तर—जिसे अभाव का बोध होता है ऐसा देश सम्पन्न मुल्कों की तरफ थोड़े-बहुत जलन-कुढ़न के भाव से देखेगा। पर यह अभाव का बोध प्राप्त वस्तुओं की गणना पर अवलम्बित नहीं है। यह तो लालसा की तीव्रता के अनुपात में होता है। सन्तोष बड़ा गुण है। धनवान् कब असंतुष्ट नहीं होता? इसका यह मतलब नहीं कि भूखे को सन्तोषी रहने के लिए कहा जा रहा है, बल्कि आशय यह है कि सन्तोषी होने के लिए यह कहा जा रहा है कि कोई भूखा न रहे। भूख में सन्तोष और कठिन होता है। इसलिए भूख है, तो खाना अवश्य चाहिए। उसके लिए प्रयत्न भी चाहिए। परन्तु फिर भी उसकी तृष्णा नहीं चाहिए। यह कुछ हम गहरी बहस में जा रहे हैं। जो कहा, उसका अर्थ यह हो जाता है कि जो आवश्यकताएँ हैं, उन्हें हम पूरी अवश्य करें और वैसा करने के लिए कुछ उठा भी न रक्खें। फिर भी, उनके प्रति ममत्व न रक्खें, अर्थात् उनके जुटाने में विवेकहीन न हो जायँ। अपनी जरूरतें पूरी करने में हम जिस-तिस उपाय का आश्रय नहीं ले सकते। उपाय वैध ही काम में लाये जायँगे।

इसको स्पष्ट करने के लिए उदाहरणों से काम लें। एक मुल्क में अन्न कम होता है और जनसंख्या बढ़ती जाती है। उस मुल्क के पास कला-कौशल है, कोयले और धातु की बहुतायत है। यह तो है, पर अपने बाशिन्दों के खाने का सामान पूरा नहीं है और रहने की भी मुश्किल होती जाती है। अब स्पष्ट है कि उस मुल्क को अपने कला-कौशल का लाभ और अपने यहाँ के कोयले और धातु की अधिकता का लाभ और मुल्कों को देना चाहिए। एवज में वहाँ से अन्न-खाद्य का लाभ प्राप्त कर लेना चाहिए। जनसंख्या उस मुल्क की बहुत ही बढ़ती जाती है, तो उन्हें बाहर फैलना चाहिए। मैं समझता हूँ, विवेक से काम लेने पर यह भी सम्भव नहीं रहेगा कि कोई मुल्क भूखा

नंगा रहे।

पर मान ही लीजिए (जो कि एकदम गलत है) कि ऐसे पूरा साथ नहीं हुआ, तब कहना मुझे यह है कि मुल्क भूख को सह सकता है, लेकिन दूसरे मुल्कों को लूट नहीं सकता। उन पर चढ़ाई करके उनको गुलाम नहीं बना सकता। अपनी भूख के नाम पर, अपनी आवश्यकता के नाम पर, दूसरे पर अत्याचार नहीं किया जा सकेगा। यह जो आजकल उपनिवेश रखने का रिवाज है, उसमें कुछ साम्राज्य-विस्तार की गन्ध है। इससे उसका समर्थन भी कठिन है।

मेरे खयाल में सब देश अपने ऊपर यदि अकाट्य कुछ नैतिक मर्यादाएँ स्वीकार कर लें, तो आत्म-विकास की ओर उपनिवेशों की माँग की आज की अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का सच्चा सीधा सुलझाव भी नज़र आ जायगा। दुनिया में इतने आदमी नहीं बढ़ गए हैं कि समाधान मिले-ही-मिले। दुनिया के आदमियों के रहने का ढंग ही बिगड़ा हुआ है जिससे एक ओर लोग अघेट रहते हैं तो दूसरी ओर लाखों टन खाद्य-सामग्री समुद्र में डुबो दी जाती है। समाधान तो समस्याओं का है और फिर मानव-मस्तिष्क विज्ञान की नई-नई सूझें देता है जो हर संकट में हमारी मदद को उपस्थित हैं। लेकिन, आपस की आपा-धापी को क्या किया जाय? वह ऐसी चीज़ है जो विज्ञान को भी संहारक गैस और अन्य शस्त्रों के आविष्कार और निर्माण से साँस नहीं लेने देती। मानव को तो परमात्मा ने अपनी ओर से बुद्धि दे दी है, कल्पना दे दी है। उसीसे वह आपस में मार-काट करने लग जाय, तो परमात्मा की देन का क्या कसूर है? प्रश्न है, उस देन को मानव की वासना से छुट्टी क्योंकर मिले कि फिर वह सर्व-हितसाधन के काम में आये।

यह तब होगा जब कि हम कहेंगे कि अच्छा, हम अपने से ही ममता छोड़ते हैं। ममता छोड़ते हैं, कर्तव्य नहीं छोड़ते। कर्तव्य छोड़ने से तो अवश्य हमारे साथ अभाव-ही-अभाव रहेगा। कर्तव्य करने और ममत्व छोड़ने से अभाव पास भी नहीं फटकेगा और विग्रह-आग्रह से भी हमें छुटकारा मिलेगा।

आवश्यकताएँ कम होने का अर्थ उनका ऊँचे उठ जाना है। इस लिहाज से आर्थिक आवश्यकताएँ कम करना ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकताएँ बढ़ाने के बराबर भी हो सकता है। अर्थात् भौतिक तल की आवश्यकताएँ जितनी कम होंगी, उतनी ही ऊँचे तल की आवश्यकताएँ प्रकट होंगी। भौतिक परिग्रह कम होगा तभी आत्मिक ज्ञान-ध्यान के लिए समाज अथवा राष्ट्र अवकाश-संपन्न होंगे। मुझे ऐसा मालूम होता है कि अर्थ-शास्त्र का अध्ययन धीमे-धीमे कम और धर्म-शास्त्र का ज्ञान शनैः-शनैः बढ़ना चाहिए।

प्रश्न—किसी राष्ट्र को अन्य राष्ट्र से, जरूरतों को पूरा करने के बदले, अधिक-से-अधिक लेने की भावना रहती है। इसी कारण उन मुल्कों में व्यापार की प्रेरणा भी है। स्वार्थ के बिना कोई मुल्क क्यों किसी को कुछ देने को तैयार होगा?—तब किस भाँति स्वार्थ को व्यापार का आधार होने से रोका जाय?

उत्तर—हाँ, यह प्रश्न है। आप शायद चाहेंगे कि धन और स्वार्थ के तल से हटकर इस प्रश्न का हल न सोचा जाय। अर्थ-शास्त्र के तल पर ही उसे सोचना फलदायी होगा।

मुल्कों में आदान-प्रदान तो आवश्यक है ही। आवश्यकताएँ सब की हैं, इसलिए सबको कुछ-न-कुछ औरों से लेने की जरूरत है। पर एक 'लेना' तो छीन लेना है, दूसरा 'कुछ देने के बदले में लेना' होता है जिसको समझौते का, समझदारी का या 'व्यापार का लेना' कह सकते हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि झपट लेने से काम नहीं चलेगा। इससे हमारी आदतें बिगड़ेंगी और हमारी ही उत्पादन की सच्ची शक्ति कम होगी।

तब देने के बदले में ही लेने का मार्ग रह जाता है। और यह आकर्षक बात सही मालूम होती है कि क्यों न खूब कसकर वसूल किया जाय और चतुरता से काम लेकर कम-से-कम बदले में दिया जाय। किन्तु, यह नीति आर्थिक लाभ की दृष्टि से भी अन्त में लाभदायक नहीं होगी।

इसका उदाहरण लें। किसी के पास खूब गहना है, और मानिए कि

उसकी कीमत ज्यादा वसूल करने लिए वह इस बात में रहता है कि जब दुर्भिक्ष पड़े और माँग तीखी हो जाय, तब उसे बेचे। ऐसे, एकाएक मालूम हो सकता है कि, बेचनेवाला अपना खूब लाभ कर लेगा। यह भी हो सकता है कि लाभ उठाने के साथ-ही-साथ वह अपने को दुर्भिक्ष-पीड़ितों का उपकारी कहने लग जाय। क्योंकि, जब लोग भूखे थे, तब उन्हें खाने को किसने दिया ?—उसीने तो दिया ? महँगे ही मोल सही, पर जब अन्न का दाना दुर्लभ था तब अन्नदाता तो वही रहा न !

मैं मानता हूँ कि वह चतुर व्यापारी अपने को चाहे जितना ही छले, पर सच यह है कि इस तरह उसने कोई बड़ा काम नहीं किया। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो बहुत दिनों तक आदान-प्रदान के प्रवाह को रोक रखने के कारण सम्पत्ति के उत्पादन और वृद्धि में उसने बाधा पहुँचाई। गल्ला जल्दी ही बिक जाता, तो दुर्भिक्ष की पीड़ा कम व्यापती और जो लोग भूख के कारण निकम्मे रहे, वे कुछ काम में लगते और उपजाते। इस प्रकार दुनिया की सम्पत्ति और समृद्धि में कुछ बढ़वारी होती।

व्यापार के भीतर स्वार्थ की तो गुंजायश है, पर वह स्वार्थ जितना ही अविरोधी होगा, व्यापार के हित साधन में उतना ही सफल होगा। उग्र स्वार्थ अगर एक की जेब को भरता है तो साथ ही दूसरे को दीन बनाता है और जगत् का क्षोभ बढ़ाता है।

मुझे तो इसमें कठिनाई नहीं जान पड़ती कि व्यापार की प्रेरणा अविरोधी स्वार्थ हो। अर्थात् देने वाले और लेने वाले दोनों में ही एक-दूसरे के स्वार्थों का खयाल हो।

पैसे का प्रवाह जितना तेज होगा उतना ही धन अर्थात् सम्पत्ति बढ़ाने में सहायक होगा। व्यापारी इस बात को अनुभव से जानता है और उसे जानना चाहिए। छल से या चालाकी से या मजबूरी से फायदा उठाकर जो अधिक नफा ले लिया जाता है, वह स्थायी नहीं है। अधिकांश वह दूसरे के अज्ञान पर सम्भव बनता है। उससे परस्पर का सम्बन्ध घना और मीठा नहीं बनता। इससे उस प्रकार के देने-लेने में बढ़वारी नहीं होती। मैं एक

चार जिससे अधिक दाम वसूल कर लूँगा, रुता चलने पर अथवा समर्थ होने पर वह मेरे साथ का सम्बन्ध तज देगा। तब मेरा लाभ भी रुक जायगा।

अर्थात्, उस स्वार्थ व्यापार में भी अदूर दृष्टि का द्योतक है।

संक्षेप में आपके प्रश्न का जवाब यह रह जाता है कि दूरदर्शी व्यापारी मन्द स्वार्थ अथवा अविरोधी स्वार्थ से काम लेगा। साथ ही प्रत्येक देश को यह भी समझना चाहिए कि जगत् के अन्य देशों के दैन्य के बीच उसकी अकेले की अपनी समृद्धि निरर्थक-सी ही चीज है। वह समृद्धि, इस प्रकार, अनुपयोगी भी हो जाती है। स्वूब भरा हुआ थाल सामने रखकर कोई उसका आनन्द कैसे ले सकता है, अगर आस-पास गिड़गिड़ाते भूखे आदमी उसे घेरे हों? वे जब तक आँखों के आगे से टल न जायँ, या उनका गिड़गिड़ाना बन्द न हो जाय, तब तक मेरी समझ में नहीं आता कि किस प्रकार भोग्य वस्तु में भी भोग-बुद्धि तृप्त की जा सकती है? वह धन बेकाम है, वह धन ही नहीं है, जो निर्धनता फैलाता है।

३—देश : इकाई और उसका अन्तरंग

प्रश्न—राष्ट्र क्या मानव-जाति के सुसंगठित जीवन की जरूरी इकाई है? क्या वह अपने-आप में द्वन्द्व-युक्त नहीं है? एक राष्ट्र के भीतर क्या ऐसे वर्ग या श्रेणियाँ नहीं हैं जो आपस में बेमेल हों?

उत्तर—पहले ही हम को यह याद रखना चाहिए कि हमारे शब्द धारणाएँ (= Concepts) हैं। वह स्वयं सचाई नहीं हैं। मत-धारणा अन्तिम नहीं होगी। वह निरन्तर विकासशील है।

राष्ट्र हमारे राजनीतिक व्यवहार के लिए आज एक इकाई बना हुआ है। कुछ सदी पहले राष्ट्र का भौगोलिक और राजनीतिक रूप कम था, जातीय रूप अधिक था। हिटलर का अत्याधुनिक राष्ट्रवाद भी एक तरह का जातिवाद है। इस तरह, आज जो 'राष्ट्र' से समझा जाता है, पहले ठीक वही नहीं समझा जाता था और आगे भी वही समझा जायगा, ऐसी आशा नहीं है। इसलिए, राष्ट्र मानव समाज या मानव-जीवन की अन्तिम इकाई है,—यह कहना ठीक नहीं है। जो अन्तिम नहीं है, वह शाश्वत भी नहीं है। और ऐसी चीज आज जरूरी हो, तो कल गैरजरूरी भी हो सकती है।

अब प्रश्न यह है कि क्या एक इकाई में दो विरोधी अंश रह सकते हैं? मैं मानता हूँ कि साम्य वही कीमती है जो दो विषमताओं को मिलाए। विषमताएँ जब तक परस्पर विषम ही हैं, तब तक बेशक साम्य असिद्ध है। लेकिन गहरी-से-गहरी विषमताओं में कहीं एकता का सूत्र न हो, तो वे हो तक नहीं सकतीं।

शायद ऊपर की बात कठिन हो गई। हम अपने को लें। मैं अपने को और आप अपने को एक इकाई मानते हैं न? हम अपने में एक हैं

ही। हमारा वह एकपन अत्यन्त सिद्ध है। 'मैं' के माने ही, नहीं तो, क्या रहते है ?

मैं एक हूँ, तब भी अनेक विकल्पों का युद्ध क्या मेरे भीतर नहीं होता रहता है ? वात-पित्त-कफ़, सत्त्व-रज-तम, ये तीन तत्त्व, तीन गुण, आपस में तो तीन ही हैं। फिर भी तीनों का संयोग मुझ एक में है। वे तीनों भिन्न और विरोधी होकर भी जब तक आपस में एक-दूसरे के साथ मिलकर रह सकते हैं, तभी तक मेरा जीवन सम्भव है। उनका विरोध अगर आपस की एकता की सम्भावना को बिल्कुल तोड़ बैठे, तो वही मेरी मौत हो।

इस तरह प्रत्येक इकाई को, प्रत्येक सत्ता को, किन्हीं दो (अथवा अनेक) के मध्य आकर्षण अथवा अपकर्षण की परिभाषा में ही समझा जा सकता है। अर्थात् कोई इकाई विविधता से खाली नहीं है।

स्पन्दन, जीवन, चैतन्य, गति—ये सब शब्द दूसरे के, यानी कुछ प्रति तत्त्व के, अस्तित्व की शर्त के बोधक हैं।

तत्त्व-द्वैत है, इसका मतलब यह है कि उनमें किंचित् विरोध है ही।

इसी तरह राष्ट्र वह नहीं है जिसमें एक ही जाति, एक ही प्रान्त, एक ही दल, एक ही श्रेणी हो। उसमें विविध श्रेणियाँ, विविध जातियाँ, कई प्रान्त, कई हित (Interests) अनिवार्य हैं। जो इन कइयों को अपनी भावना से एकता में नहीं पिरो देती वह राष्ट्रीयता भी नहीं है। Democracy (जन-तन्त्र) का भी यही अर्थ है। उसके माने हैं 'सब का राज्य'। उस शब्द के अर्थ के साथ व्यभिचार करके स्थूल वास्तविकता में उसे एक पार्टी का राज्य, या अराज्य बनाया जा सकता है। पर 'राष्ट्र' के असली माने यही हैं कि जो अपने भीतर के विरोधी दीखने वाले अंगों में अपने प्राणों की एकता पहुँचाए। इस प्रकार की एकता जो दे सकता है, वह देश स्वस्थ और बलिष्ठ है। और जो नहीं दे सकता, वह रुग्ण है और बिखर कर लुप्त हो जाने वाला है।

प्रश्न—यह तो ठीक है कि विविध प्रान्त, विविध जातियाँ आदि छोटी-छोटी इकाइयाँ मिलकर एक राष्ट्र-जैसी बड़ी इकाई के

भीतर एक हो सकते हैं, और इसके लिए किसी राष्ट्रीय सामान्यता (National Affinity) और उसमें निहित हितैक्य (unity of interest) का होना जरूरी हैं। किन्तु, यदि राष्ट्र किसी ऐसे दो भागों में बँटा है जिनमें ऐसी कोई सामान्यता (Affinity) अथवा हित की अभिन्नता (unity of interest) नहीं हो सकती तो वहाँ राष्ट्र-भावना कैसे विवर्द्धित हो सकती है?

उत्तर—अगर आधारभूत वैसी कोई एकसूत्रता नहीं, तो राष्ट्र की सत्ता का टिकना सचमुच सम्भव नहीं है। लेकिन मान लीजिए कि राष्ट्र आज है, कल चाहे वह नहीं भी रहने वाला हो, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि आज तक के लिए जरूर एकता का आधार वहाँ है जो उसके विविध अंगों (प्रान्तों) को एकत्रित थामे हुए है।

सवाल अब यह रह जाता है कि वैसी एक सूत्रता जब दीखती नहीं, पहचान में और पकड़ में नहीं आती, तो उसको किस भाँति हिसाब में लिया जाय? वह है, ऐसा ही क्यों कर मानें?

तो, इसका जवाब होगा कि, अगर बुद्धि उसको नहीं पाती तो श्रद्धा से उसको मानें। नहीं मानने से तो काम नहीं चलेगा।

मान लीजिए कि साँप का फन उसी साँप की पूछ को अपना नहीं समझता। वह अपने साँप-पन को नहीं जानता। फन बस अपने को फन जानता है जिसमें खा जाने की शक्ति है, जिसमें जहर है और तेजी है। और पूँछ को वह निष्क्रिय जड़ की भाँति अपने से भिन्न देखता है और पूँछ को हिलती हुई देखकर वह उसे कोई अपने से अलग खाद्य-जीव समझ लेता है। अगर हम कल्पना करें कि फन ने पूँछ को खाना शुरू कर दिया, तो साँप का परिणाम क्या होगा?—स्पष्ट है कि परिणाम कुछ नहीं होगा।

यानी, कोई एक अंग दूसरे से अपना इतना विरोध मान ले कि दूसरे के नाश में अपना जीवन समझे, तो इसका परिणाम शून्य होगा। अर्थात् यह कोरा तर्क है, इसमें सम्भवनीयता नहीं है। साँप अपनी पूँछ को

निगलता देखा नहीं गया है। हाँ, उसके फन और पूँछ को आपस में चोट लेते-देते अवश्य देखा गया है।

इसलिए किन्हीं दो में ऐकान्तिक विरोध असत्य है। जो ऐसा विरोध ठानते या ठानना विचारते हैं, वे भ्रम पालते और नाश बुलाते हैं।

लेकिन, साथ ही आपका यह प्रश्न मालूम होता है कि क्या राष्ट्र के प्रति ही व्यक्ति की वफादारी है? राष्ट्र के बाहर क्या किसी और के प्रति लगाव नहीं हो सकता? मैं हिन्दुस्तान में रहता हूँ। हिन्दुस्तान का, जो एक राष्ट्र है, मैं अंग हूँ। हिन्दुस्तानी होने के साथ मैं अमुक धर्मावलम्बी भी हूँ। और मान लीजिए, वनस्पति-शास्त्र में रस लेता हूँ।' अब कल्पना कीजिए कि उसी हिन्दुस्तान का एक और व्यक्ति अंग है, जो उस धर्म से बिलकुल सहानुभूति नहीं रखता और वनस्पति शास्त्र में जिसे कोई रस नहीं है। उसके मुकाबले में अमरीका का कोई आदमी उक्त धर्म में प्रीत रखता है और वनस्पतियों के सम्बन्ध में तो बहुत ही अनुसन्धानप्रिय है।

अब क्या हो? क्या मैं उस अमरीकन का मित्र न हो जाऊँ? क्या यह मित्रता अनुचित है? क्या यह असम्भव है कि वह हिन्दुस्तानी तो मेरे निकट बिलकुल अपरिचित रह जाय और मुझमें और उस अमरीकन में गाढ़ी मैत्री हो जाय? मैं मानता हूँ कि वैसी मैत्री अनुचित नहीं है, बल्कि खूब उचित है।

अब समझिए कि अमरीका और हिन्दुस्तान लड़ पड़े। (यह कहने की भाषा है। असल में हिन्दुस्तान और अमरीका लड़ ही नहीं सकते। लड़ना तो लड़ना, वे आपस में जितने हैं उससे एक इंच दूर या पास नहीं हो सकते। लड़ते लड़ने वाले हैं, जिनको सरकारें तनख्वाह देकर लड़ाती हैं।) ऐसी लड़ाई के वक्त मैं हिन्दुस्तानी क्या करूँ? स्पष्ट है कि लड़ाई को चाहे लड़ने वाले कितना ही घमासान बना दें, पर अमरीकन के साथ मेरी मैत्री गाढ़ी से तनिक भी कम गाढ़ी नहीं होनी चाहिए। फिर भी, हिन्दुस्तान के प्रति मेरा लगाव कम नहीं हो सकता। मैं देश की चाल-ढाल रखूँगा, देश का खद्दर पहनूँगा, मेरे व्यावहारिक प्रेम का लाभ पड़ोस से मिलना आरम्भ

होगा, और वहाँ से जड़ बसाकर फैलेगा। देश-प्रेम का सच्चा अर्थ पड़ोसी-प्रेम है। विदेश से युद्ध उसका झूठा अर्थ है।

प्रश्न—शासन-यन्त्र का आरम्भ व्यक्ति की अधिकार-भावना के आधार पर हुआ या समाज-विकास की आवश्यकता के रूप में हुआ ?

उत्तर—अगर हम इतिहास को केवल अतीत का बखान न मानकर उसमें किसी प्रकार के चरितार्थ की सम्भावना मानते हैं, तो कहना होगा कि शासन-संस्था प्रगतिशील विकास की राह में ही बन खड़ी हुई है। उस संस्था में परिवर्तन बराबर होते आए हैं। देखा जाय तो ये परिवर्तन मनमाने नहीं हैं, उनमें क्रम और संगति है। पहले मुखिया सरदार ही राजा होता था जो कोरा हाकिम समझा जाता था। अब वह सेवक भी माना जाने लगा है। पहले वह सबको सब-कुछ देने वाला समझा जाता था, अब अगर राजा है भी तो आम लोगों की सभा (Parliament) खुद उसका भत्ता बाँधती और पास करती है। राजा नाम का 'राजा' है, उसका अधिकार आज साफ़ तौर पर प्रजा में से उसे प्राप्त होता है।

विकास के अनुकूल जब कि शासन-यन्त्र में विकास होता गया, तब बेशक इसको भी एक ऐतिहासिक सत्य मानना होगा कि शासन-सत्ता का बीजरूप से आरम्भ व्यक्ति की अधिकार-भावना में से हुआ। एक गुट्ट के सरदार ने अपना बल दूसरे सरदार से लड़कर आजमाया। जो जीता वह दूसरे गुट्ट का भी मालिक बन रहा। पहले राज्य सचमुच ऐसे ही बने होंगे। लेकिन इसका इतना ही मतलब है कि समाज-विकास इच्छा-वासनाओं द्वारा चलने वाले व्यक्तियों के कृत्यों द्वारा ही अपने को सम्पन्न करता गया। अर्थात् इतिहास का हेतु समष्टिगत है। वह समष्टिगत हेतु व्यक्तियों द्वारा निष्पन्न होता है। व्यक्ति स्वयं जिस भावना से कर्म करता है, उस भावना में ऐतिहासिक तथ्य का मूल्य नहीं पायगा।

इसी से किन्हीं बड़े लोगों को बड़े-बड़े परिवर्तनों के कर्ता मानने की आदत अब इतिहास-शास्त्र में कम होती जाती है। तनिक अलग होकर देखें,

बड़ी पृष्ठ-भूमि पर देखें, तो व्यक्ति साधन-मात्र रह जाता है और इतिहास का उद्देश्य व्यक्ति में बन्द नहीं जान पड़ता, वह इतिहास-भर में व्याप्त होता है।

प्रश्न—शासक अपने किस बल पर समाज से अधिकार प्राप्त करता है?

उत्तर—इस बल का स्वरूप बदलता चला जा रहा है। पशु-बल की जगह अधिकाधिक नैतिक बल की मान्यता होती जाती है। असल में प्रगति स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने में है। जहाँ तक आम जनता का मानसिक विकास पहुँचा है, ठीक उसी तल का बल जिन लोगों में अधिक है, वे उस काल के शासक बन जाते हैं। आज कोई मारने-काटने की ताकत के बल पर बड़ा हो सकता है, यह विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। लेकिन पहले ऐसा हो सकता था।

शासक में, यह तो साफ ही है कि, शासित की अपेक्षा बल की अधिकता होगी। अब ज्ञान और बल ये दो चीजें हैं। ज्ञान सक्रिय होने पर प्रबल होता है, निष्क्रिय ज्ञान निर्बल है। इसलिए यह तो हो सकता है (और होगा) कि पशु-बल की जगह नैतिक बल के हाथ में शासन हो जाय। पर यह ध्यान रखने की बात है कि नैतिक-बल चाहिए, नैतिक-ज्ञान काफी नहीं। कोरा नैतिक-ज्ञान पशु-बल को हरा नहीं सकता। हाँ, नीति का अगर सच्चा बल हो, तो उसके आगे पशु-बल तो हारा ही रक्खा है।

प्रश्न—आज जो शासक हम देखते हैं क्या वे बिलकुल नैतिक बल पर टिके हैं? यदि ऐसा है तो क्या हम हरएक राज्य को सन्तोषपूर्ण न मानें?

उत्तर—नहीं, नैतिक बल पर नहीं टिके हैं। लेकिन अगर नैतिक बल पर नहीं टिके, तो इसका यह भी अर्थ है कि जनता में नैतिक बल अभी जाग्रत ही नहीं है, वह मूर्च्छित पड़ा है। मैं तो यह ही कहना चाहता हूँ कि शासक-वर्ग जिस तल पर है, उससे ऊँचे तल का नैतिक-बल संगठित नहीं है। इसी का यह परिणाम है कि जो शासक हैं, नीति-बलहीन होकर भी

वे शासक बने हैं। हम शासक-वर्ग को 'अनैतिक' आसानी से न कह दें, क्योंकि अगर सचमुच ही कोई नैतिक-शक्ति है, तो वह अनीति से शासित नहीं हो सकती।

प्रश्न—समाज के नैतिक बल से हम ठीक-ठीक क्या समझें? वह कहाँ निहित रहता है, और शासक पर इसका प्रभाव क्योंकर सम्भव होता है?

उत्तर—समाज अपने व्यक्तियों से ही जाँचा जा सकेगा। दो दाने निकालकर देखने से जैसे पकती हुई खिचड़ी का अनुमान किया जाता है, वही उपाय यहाँ है। व्यक्तियों से भिन्न समाज क्या है? और किसी दूसरी तरह समाज तोला-परखा नहीं जा सकता है। वस्तुओं और व्यक्तियों को विविध मूल्य देने की विधि में उस समाज की नैतिकता का मान सहज चीन्हा जा सकता है।

समाज का औसत व्यक्ति जिस अंश तक आत्मनिष्ठ, दूसरे के प्रति उदार, शासनतन्त्र के प्रति स्वभावतः निर्भय और कर्तव्यशील हो, उस समाज को उसी अंश में नैतिक-बल-संयुक्त कहना चाहिए।

अगर समाज के सब व्यक्ति नैतिकता के बारे में जागरूक हैं, तो उस जन-समाज के मध्य कोई रूढ़ शासन-संस्था अनावश्यक हो जायगी। क्योंकि नैतिकता का अर्थ है खण्ड का सम्पूर्ण के प्रति निवेदन और समर्पण।

नैतिकता का अधिष्ठान हृदय है। समाज का हृदय क्या है? कहना चाहिए कि शिक्षक-वर्ग, लेखक-वर्ग, ब्राह्मण-वर्ग उस समाज का हृदय है। शासक-वर्ग समाज के बाहु हैं। बाहु-बल हृदय-बल के वश से बाहर हो तो उस समाज को ज्वरग्रस्त कहना चाहिए।

शासन के प्रति नैतिक-बल या नैतिक-जन का क्या रुख हो? स्पष्ट है कि शासन उसके निकट सेवा के दायित्व का ही दूसरा नाम है। जहाँ जन-सेवा की भावना नहीं है वैसे शासन के प्रति नीति-भावना-प्रधान पुरुष निर्भीक परन्तु सद्भावनाशील रहेगा।

प्रश्न—प्रतिनिधि-शासक ही नैतिक बलयुक्त शासक कहा जा

सकता है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—होना तो चाहिए, पर आज के दिन ठीक ऐसा है नहीं। वोटों की गिनती द्वारा जो प्रतिनिधि चुने जाने की पद्धति है, क्या उसमें सच्चे प्रतिनिधि चुने जाने अथवा किसी के सच्चे प्रतिनिधि बनने की सम्भावना भी रहती है ?—नहीं रहती। ऐसे प्रतिनिधि भी देखने में आते हैं जिन्हें खबर नहीं कि वे कहाँ के प्रतिनिधि हैं और जहाँ के प्रतिनिधि हैं, उन्हें खबर नहीं कि हमारा कोई प्रतिनिधि भी है। इसलिए अगर 'प्रतिनिधि' शब्द से वोट-गणनावाले प्रतिनिधि का भाव आता है, तो कहना होगा कि नैतिक पुरुष प्रतिनिधि पुरुष हो अथवा नहीं भी हो। अधिक सम्भावना उसके प्रतिनिधि नहीं होने की ही है।

प्रश्न—अधिक सम्भावना उसके प्रतिनिधि नहीं होने की ही क्यों है ?

उत्तर—ऐसा इसलिए कि वोट स्वतन्त्र नहीं होती है, स्वतन्त्रता से नहीं दी जाती है। वातावरण में दल-प्रचार और दल-आतंक का ऐसा विकार भरा रहता है कि वह वोट खुले मन की होने ही नहीं पाती। फिर रिवाज प्रतिनिधियों के 'खड़े होने' या 'खड़े किये जाने' का है। खड़े होने की तरफ आँख उसकी अधिक लगी होती है जो महत्त्वाकांक्षी है। और महत्त्वाकांक्षा अनैतिक है। इससे आजकल की चुनाव-प्रथा (Election system) नैतिकता को बढ़ाती हुई नहीं देखने में आती।

—:o:o:o:—

४—शासन-तन्त्र-विचार

प्रश्न—दोष वास्तव में स्वयं लोगों की ही अनैतिकता का है, उस प्रथा (System) का क्या दोष है ? यदि प्रथा का है, तो आप अन्य कौन-सी प्रथा तजवीज करेंगे ?

उत्तर—दोष किसका कहा जाय ? विज्ञान-शुद्ध यह कहना होगा कि चुनाव-विधान और एतत्कालिक लोक-स्थिति, ये दोनों परस्पर विषम सिद्ध हो रहे हैं।

लोगों को विधान के अनुकूल बनाया जाय या विधान को ही लोकस्थिति के अनुकूल बनाया जाय ?—यह प्रस्तुत प्रश्न नहीं है। और यह व्यावहारिक राजनीति का भी प्रश्न नहीं है। राजनीति का सम्बन्ध तात्कालिक संभव से है, आगामी उचित से नहीं।

आज सचमुच राह नहीं सूझती कि चुनाव-प्रथा से किस रूप में समझौता करें कि उसके दोष से बचा जा सके और उसकी सुविधाएँ प्राप्त हो जायँ। ऐसा भी मालूम होता है कि लौकिक तल पर, अर्थात् राजनीति के तल पर, जन-संख्या का सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किये ही गुजारा है। क्योंकि राजनीति लोगों की भौतिक आवश्यकताओं के प्रश्न को सामने रखकर चलने को बाध्य है, और वैसी आवश्यकताएँ सब में हैं और सब में लगभग एक-सी ही हैं। सभी के पेट है, सभी को खाना चाहिए। सभी के तन है, सभी को कपड़ा-लत्ता भी चाहिए। इस मामले में ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, दुष्ट-साधु सब समान हैं। इस तरह राजनीति मुख्यतः संख्या का प्रश्न है।

पर संख्या गड़बड़ भी डाल देगी। जन-तन्त्र में भीड़-वृत्ति का फल भी देखने में आता है। डिक्टेटर-शिप उसी की प्रतिक्रिया है। फिर भी तमाशा

यह है कि डिक्टेटर मत-गणना के सिद्धान्त पर भी अपना समर्थन आवश्यक समझता है।

इससे मैं सहसा इस सम्बन्ध में कोई सुधार का निश्चित प्रस्ताव सामने नहीं कर सकता। फिर भी मत-गणना वाले तन्त्र से (Democracy से) समाज की आशाएँ पूरी नहीं हो रही हैं, यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

प्रश्न—चुनाव-सिद्धान्त को दोषपूर्ण न मानकर, क्या हम आशा नहीं कर सकते कि लोग धीरे-धीरे जैसे ही वोट का दायित्व समझते जायँगे वैसे ही क्रमशः यह चुनाव-प्रथा ही आदर्श प्रथा बन जायगी?

उत्तर—किसी को दोषपूर्ण मानना उतना ही अलाभकारी है जितना उसको निर्दोष मानना। जगत् में जो है, अपूर्ण है। पूर्णता आदर्श की ही स्थिति है। विशिष्ट परिस्थितियों में जो निर्दोष हो, वह उन परिस्थितियों के आने के पहले तो सदोष है। अतः, प्रश्न गुण-दोष का नहीं, स्थिति और साधन की परस्पर विसंगति का है। चुनाव-सिद्धान्त अपने आप में विचारा खराब क्यों समझा जाय? यदि ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सके, जहाँ उस प्रथा के दोष सब छूट जायँ, लाभ-ही-लाभ रह जायँ, तो मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं रहेगी। पर घटना के आधार पर जो निर्णय होना है वह क्या कल्पना और सम्भावना के आधार पर किया जा सकता है? फिर भी, निराशा को स्थान नहीं। मार्ग है ही नहीं, ऐसा नहीं। आज भी क्या हमारे बीच में बिना 'वोट' डाले विश्वास का और अधिकार का आदान-प्रदान नहीं होता दीखता है? प्रत्येक परिवार में कोई एक बुजुर्ग होता ही है। क्या परिवार के सब सदस्य कभी एक जगह मिलकर 'बैलट' द्वारा उसे अपना बुजुर्ग या प्रमुख चुनते हैं? फिर भी, उसकी प्रमुखता बहुत सहज-भाव से निभी चलती है।

इससे, मैं समझता हूँ, कि चुनाव की प्रथा के और विधान के बिना भी प्रतिनिधित्व के लाभ उठाये जा सकते हैं।

प्रश्न—मताधिकार मानव का सिद्ध अधिकार है और चुनाव-

द्वारा उसका अवसर देना भी प्रतिनिधि-शासन के लिए अनिवार्य सिद्धान्त होना चाहिए। इसलिए उसकी राह ही से चलकर क्यों न सम्भव दोषों को दूर करते चलें? दूसरे रही परिवार के बुजुर्ग की बात। वह पैतृक रूप में मिला होता है और पैतृक प्रभाव ही वहाँ काम करता होता है। फिर भी सभी परिवारों में बुजुर्ग-क्रम सफल होती नहीं देखी जाती। किन्तु, समाज के लिए उस बुजुर्ग का भी तो किसी प्रकार निर्णय करना होगा। वह कैसे करें?

उत्तर—चुनाव की प्रथा वाले दोष को चुनाव द्वारा ही हम कैसे दूर करते चलें, यह मुझे साफ नहीं दीखता। धीरज से, धर्म से वह काम होगा, यह तो मैं मानता ही हूँ। मेरी शंका तो यही है कि आज की परिस्थिति में चुनाव से वह काम कैसे हो जायगा? क्या वह उस प्रकार हो भी सकेगा?

विवेक का वोट हृदय का वोट है। वोट विवेक का ही हो, हृदय का ही हो—इसके लिए या तो प्रत्येक व्यक्ति में विवेक-शक्ति इतनी जाग जाय कि वह किसी दलीय दबाव से आतंकित न हो, या फिर वातावरण में से दला-तंक ही इतना क्षीण हो जाय कि व्यक्ति के विवेक में विकार न आवे।

इसका मतलब ही दूसरे शब्दों में यह होता है कि सामूहिक जीवन में अधिकार की चेतना मन्द हो, जिम्मेदारी की ही भावना प्रधान हो। तब वोट की छीन-झपट न होगी। चुनाव तब बहुत सहज काम होगा और बिना कोलाहल के वह पूरा हो सकेगा। यों कह सकते हैं कि वह तब इतना तूल ही न पकड़ेगा कि 'प्रश्न' कहलावे। ऊपर के परिवार के उदाहरण में हम क्यों न मान लें कि बिना प्रथा के हमने उस तत्त्व का लाभ उठा लिया है। परिवार में बुजुर्ग के प्रमुख माने जाने में यह सुगमता है कि वह बुजुर्ग है। यह उचित ही है, मैं इसमें कोई आपत्ति नहीं देखता। उस बुजुर्गी के दायित्व के पैतृक होने में क्या हानि है? हाँ, उसमें आशंका बनी रहती है कि परि-वार का युवक सदस्य शर्मा-शर्मी, संस्कारवश उन्हें बुजुर्ग मान तो ले, पर पूरे मन से वैसा न मानता हो और अन्दर-अन्दर से कुढ़े। तो मैं कहूँगा कि उस युवक को खुलकर अपनी विवेक-सम्मत राय प्रकट कर देनी चाहिए।

लिहाज में भी झूठा आचरण नहीं करना चाहिए। अगर मान लिया जाय कि उसने खुलकर कह भी दिया कि अमुक बुजुर्ग परिवार के प्रमुख होने योग्य नहीं है, पर उससे शेष लोगों को यह बात नहीं जँची, तो युवक का क्या कर्तव्य है। प्रकट है कि सुशासित सोसायटी में जो उसका कर्तव्य अथवा परिणाम होगा, वही उस परिवार में भी होगा।

मेरे कहने का आशय यह कि शासक को शासित का विश्वासपात्र होना चाहिए, यह तो सुशासन के लिए अनिवार्य सत्य बात है ही। पर ऐसा सदाशय चुनाव की प्रथा के गर्भ में ही रह और निभ सकता है, ऐसा मानने का कारण नहीं है। बल्कि चुनाव की प्रथा जब तक अपने तात्कालिक फल द्वारा उस सत्य का समर्थन करे, तभी तक वह प्रथा सह्य है, अन्यथा नहीं। सत्य को प्रथा-गत कहना प्रथा को मुख्य और सत्य को अनुगत बनाना है। कहने का मेरा मतलब यही है कि चुनाव की प्रथा से उस ही का अभिप्राय झूठा होता हुआ दीख पड़ता है, इसी से प्रथा को छोड़ने या बदलने की बात उठी है।

प्रश्न—किन्तु, समाज अपने बुजुर्ग को कैसे पाये, इस पर भी कुछ आप कहेंगे ?

उत्तर—परिवार को अपना बुजुर्ग पाने में कोई दिक्कत होती हुई मैंने नहीं देखी। क्योंकि सब एक-दूसरे के निकट परिचित रहते हैं, और वातावरण में स्पर्द्धा का भाव न होने के कारण सबको समन्वित पारिवारिक हित का ध्यान रहता है। अहमहमिका की भावना वहाँ नहीं रहती।

समाज भी अगर इसी प्रकार भीतर से बनता हुआ उठे तो उसे अपने ठीक नेता को पाने में कठिनाई नहीं होगी। मुझे प्रतीत होता है कि यह 'भीतर से बनना' ही सच्ची Democracy है।

अब यह प्रश्न है कि स्वाभाविक बुजुर्ग अगर नालायक हो, तो उसकी जगह दूसरे को चुनने में क्या नियम रखा जाय ? लेकिन, सच बात यह है कि यदि परिवार में स्वास्थ्य है, तो वह किसी से अपने लिए नियम की अपेक्षा नहीं रखेगा और उसे तत्सम्बन्धी नियम का अभाव भी कभी नहीं

खलेगा। और अत्यन्त सहज भाव से उस परिवार का कोई-न-कोई केन्द्र-पुरुष चुन जायगा। 'चुन जायगा,' यह भी कहना अधिक है। क्योंकि, चुने जाने की नौबत आने से पहले ही परिवार का केन्द्र भरा हुआ दीखेगा और परिवार अपने को तनिक भी केन्द्रहीन अनुभव न करेगा।

प्रश्न—परिवार में 'बुजुर्ग' से मतलब क्या वृद्ध से है? क्या समाज में भी आप ऐसे ही बुजुर्ग की कल्पना करते हैं?

उत्तर—उम्र की बुजुर्गी बेशक कोई कम चीज नहीं है, क्योंकि वह अनुभव की बुजुर्गी भी है। लेकिन, इसके अतिरिक्त भी जीवन में कुछ और बातें हैं। बहर हाल इस सम्बन्ध में स्वार्थहीन नागरिकों की बुद्धि पर क्यों न भरोसा किया जाय? और क्यों उस बारे में एक का मन्तव्य माँगा जाय? ऐसा तो मालूम होता है कि पचास वर्ष की अवस्था से पहले किसी के ऊपर नेतृत्व का बोझ आ जाने की आशंका उस स्थिति में कम हो जानी चाहिए।

प्रश्न—समाज की आपा-धापी की अनैतिकता का कारण क्या उसकी वह बनावट ही नहीं है जिसका कि आधार सम्पत्ति का निजी आधार, private property है?

उत्तर—नहीं, यह तो मन नहीं स्वीकार करना चाहता कि अगर किसी के पास खूब जायदाद या Private property हो तो मेरे लिए लालच का शिकार होना ही अकेली अनिवार्यता है। इसलिए, व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था आपा-धापी का कारण है, यह कथन योग्य नहीं मालूम होता। आपा-धापी का कारण आपा-धापी की वृत्ति है। उस वृत्ति का कारण क्या है, और फिर उस कारण का कारण क्या है,—ऐसे गहरे उतरेंगे तो वहाँ जा पहुँचेंगे जहाँ प्रश्न होगा कि असत्य का कारण कौन-सा सत्य है? इस प्रकार ऐसी जगह जा टकराना होगा जहाँ बुद्धि की भाषा कोई समाधान नहीं दे सकती। मैं मानता हूँ कि अपनी चोरी का कुसूर दूसरे के धन को बतलाना काफी नहीं है, वह ठीक भी नहीं है।

इस तरह आपाधापी को कम करने के लिए सीधे आपा-धापी की वृत्ति मन्द करने की बात ही व्यक्ति को सुनानी होगी।

अगर बुराई के, Vicious circle के, चक्कर को तोड़ना है तो स्वयं टूटकर उससे बाहर होना सबसे पहली जरूरत है। उस चक्कर में पड़े रहकर कार्य-कारण के तर्क से, Cause and effect से, बुराई को अपने से बाहर तै करके उस पर आक्रमण करने की चेष्टा करना अर्थकारी न होगा। जंजीर की एक कड़ी दूसरी को दोष दे, दूसरी तीसरी को,—तो इस तरह जंजीर के टूटने की नौबत न आयगी।

लेकिन, यह तो स्पष्ट ही है कि यथाशक्ति उस आपा-धापी की वृत्ति को मन्द करने के लिए जो बाहरी स्थित्यनुकूलता की सहायता पहुँचाई जा सके, वह भी पहुँचाई जावे। समाज का विधान बेशक उत्तरोत्तर वैसा ही बनता जाना चाहिए, और बनाने की कोशिश करते चलना चाहिए, जिसमें विषमता कम-से-कम हो और नेकी का पालन सरलता से किया जा सके। समाज की अवस्था व्यक्ति के मानस-पर दबाव डालती ही है। उस अवस्था को उस दिशा में सुधारना होगा जिसमें वह दबाव न्यून से न्यूनतर होता जाय और अन्त में व्यक्ति और समाज का सामंजस्य सिद्ध हो जावे।

'प्राइवेट प्रॉपर्टी' शब्द को गैरकानूनी ठहराने-मात्र से काम नहीं चल जायगा। जमीन जमींदार की है, यह कहकर भी वह जमीन जमींदार के पेट के अन्दर नहीं समा सकती। यह तो खुली और उजली सचाई है कि जमीन है,और उसमें अन्न पैदा होता है। यहतो एक प्रकार की भाषा का ही प्रयोग कि जमीन 'इस' की है या 'उस' की है। उस भाषा के प्रयोग को बदलकर यह भी कह सकते हो कि जमीन जमींदार की नहीं, Commune की है, देश की है, समाज की है, या संघ की है। लेकिन, यह भाषा के प्रयोग का बदलना ही है, उससे सचाई बदल गई समझना भ्रम है। हाँ, केवल भ्रम है। स्थिति में वास्तविक अन्तर उस समय अवश्य आ गया समझना चाहिए जब उस जमीन के व्यवस्थापक व्यवस्था-मात्र के कर्तव्य को तो अपना माने, उससे आगे जमीन पर अपना अधिकार न जाने। मैं नहीं जानता कि स्टेट का एक वेतन भोगी कर्मचारी, जिसका नाम हम चाहे कितना भी सुन्दर और कर्तव्य-बोधक (Impersonal) रक्खें, इच्छा होने पर क्यों अपने अधिकार का

दुर्व्यवहार नहीं कर सकता? और अगर दुर्व्यवहार करता है, तो सिवा इसके कि उसका नाम जमींदार नहीं है, एक बुरे जमींदार की तुलना में उसमें क्या अच्छाई रह जाती है?

कहने का यह आशय न समझा जाय कि समाज के विधान में किसी भी बाहरी परिवर्तन की आवश्यकता उचित नहीं है। लेकिन, उस परिवर्तन का भी औचित्य जहाँ निहित है, उसकी ओर निगाह रखने की बात मैं अवश्य कहना चाहता हूँ।

प्रश्न—जब आप मनुष्य की आपा-धापी का कारण वृत्ति को बतलाते हुए कार्य-कारण के सिद्धान्त का सहारा लेते ही हैं, तो फिर वृत्ति का भी कोई कारण बतलाने से क्यों इन्कार करते हैं?

उत्तर—इन्कार नहीं करता। पर, किसी का अन्तिम कारण पकड़ा जा सकेगा, या मैं पकड़कर दिखा सकता हूँ,—इस बारे में अवश्य अपनी और मानव की असमर्थता स्वीकार करता हूँ।

लेकिन, इस असमर्थता से उबरने का सीधा-सा उपाय भी तो हरेक के हाथ में है, और मानव-गत अन्तिम सत्य भी वही है। अपने सारे सोचने-विचारने, करने-धरने का आधार मैं स्वयं ही हूँ। सबसे आदिम तथ्य मेरे पास 'मैं' है। इसलिए, हर बुराई का आदि कारण मैं अपने को मानूँ और पाऊँ, मेरे लिए सर्वोत्तम सत्य यही है। कोई प्रश्न समक्ष आवे तो उसका सच्चा उत्तर अन्त में इसी स्वरूप में समझ मिलेगा कि 'मुझको' ऐसा अथवा वैसा मालूम होता है। उसी उत्तर में से फिर व्यक्तिगत प्रश्न बन खड़ा होगा कि अब मैं क्या करूँ? इस 'क्या करूँ?' के प्रश्न का जो तात्कालिक समाधान नहीं करता मालूम होता, वह समाधान सच्चा भी नहीं है।

इसलिए, जब यह दीख पड़ा कि मुझमें लोभ के कारण आपा-धापी की वृत्ति है, तो अपने से बाहर कहीं उसका दोष डाल देने से मेरा काम नहीं चलने का। लाख वैज्ञानिक कही जाने वाली विचारधारा का यह तकाजा हो कि लोभनीय पदार्थ होने के कारण ही लोभ मुझ में हो सका है, फिर भी, मुझे उस वैज्ञानिकता से संतोष नहीं होना चाहिए। मेरा तर्क तो

यह होना चाहिए कि मुझ में लोभ न होता, तो कोई पदार्थ लोभनीय होता ही कैसे ? हम देखें, कि दूसरा ही तर्क प्रेरक हो सकता है।—मैं तो मानता हूँ कि सत्य तर्क भी वही है।

इसलिए, उस वृत्ति का कारण हम जितना भी चाहें खोजें, पर मेरा आग्रह है कि उसको अपने भीतर ही खोजें तो ठीक होगा। बाहर खोजने से विज्ञान बढ़ सकता है, पर भलाई नहीं बढ़ सकती। और हम जानते हैं कि विज्ञान से भलाई बढ़े तब तो उसमें अर्थ है, नहीं तो विज्ञान व्यर्थ है।

अन्त में यही निर्णय हाथ रहा न कि व्यक्ति में आपा-धापी की वृत्ति है जिसे कम करते चलना चाहिए ?

वह क्यों है ?—कह दो, क्योंकि अभी पशुता है, क्योंकि जड़ता है, माया है, अविद्या है, असत्य है, आदि आदि। किन्तु, दीख पड़ेगा कि यह शृङ्खला कार्य-कारण की (Cause and effect की) नहीं है, बल्कि कारण ही कारण की है। इस तरह, चाहे बीच में से ही क्यों न हो, हम किसी भी कारण की कड़ी को ले बैठें तो हर्ज नहीं है। आदि-कारण पाने का आग्रह दर्शन-शास्त्री को होता है, और वह विशेष प्रेरक भी नहीं है। जब बुद्धि कार्य-कारण-शृंखला का पसारा ऐसा फैला लेती है कि उस पर विवाद की समाप्ति ही नहीं हो सकती, तब, कर्म के अर्थ में तो उसका परिणाम शून्य ही रहता है। इसीसे बौद्ध पांडित्य ('बौद्ध' धर्म नहीं) सदा शून्य-वादी है।

प्रश्न—व्यक्ति में समाज से अनपेक्षित होकर ऐसी असत् वृत्तियाँ हैं, तो मानना होगा कि वे उसके मूल-स्वभाव में हैं। तब तो उनके दूर करने का प्रश्न व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि हम मानव-स्वभाव स्वीकार करके ही कोई काम कर सकते हैं, इन्कार करके नहीं। और अगर यह मानें कि वे विकारी वृत्तियाँ हैं, तो, विकार जिस बाहरी संयोग से पैदा हुआ, उस पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

उत्तर—आदमी सचमुच समाज से अलग नहीं है। समाज का भाग

है, समाज से अभिन्न है। बेशक विकार पूरी तौर पर 'मैं' की परिभाषा में न समझा जा सकेगा। जरूर उसमें 'पर' को भी आना पड़ता है। विकार स्व-भाव नहीं है।

इसलिए, समाज को संस्कार देते रहने का प्रश्न अत्यन्त संगत है। उधर से उदासीन होने की कल्पना भी मुझे नहीं है। फिर भी, मेरा आग्रह तो इतना ही है कि समाज जब कि आदमी के व्यवहार का क्षेत्र है, तब अन्तःप्रेरणा ही असल में उसकी कार्य-विधि का मूल है। मैं कभी यह नहीं कहना चाहता कि जिसको वह 'अन्तःप्रेरणा' कहे, वह बिलकुल उसकी अपनी ही है और सामाजिक अवस्था का उस पर प्रभाव नहीं है। प्रभाव है, पर व्यक्ति को यदि व्यर्थ (passive) न ठहरा कर हम उसे समाज-रचना में सचेष्ट भागीदार (active participant) समझते हैं, तो व्यक्ति को उस प्रेरणा का कर्ता भी मान लेने में हानि नहीं है।

पर यहाँ तो फिर विचार की उलझन आ जाती है। यह उलझन परमात्मा का नाम लेने से ही दूर हो सकती है। परमात्मा जिसमें 'स्व' और 'पर,' subject और object, व्यक्ति और समाज, साधन और साध्य दोनों एक हो जाते हैं।

अन्तिम हेतु (Final cause) जो है, वह आदि निमित्त भी है। वह स्वयंभू है। उसमें सत्य भी है, असत्य भी है। पुरुष और प्रकृति उसी के दो रूप हैं। वह स्वयं सृष्टि है और स्रष्टा है,—वह परमात्मा।

इससे, असल में अगर देखा जाय तो ईश-निष्ठा से चलना ही सब प्रश्नों का समाधान है। क्या प्रश्न सामाजिक, क्या राजनीतिक। क्योंकि जाग्रत ईश-निष्ठा का अर्थ है स्व-पर-समन्वय की चाह और पहचान।

प्रश्न—कार्य-कारण, नैतिकता अथवा अनैतिकता, पाप-पुण्य या आपा-धापी के विचार को छोड़कर हम क्यों न मान लें कि हमारा जीवन केवल समय के साथ बाह्य परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित (adjust) करने में है और इसलिए उन परिस्थितियों के ही आवश्यक निदान में और उनके साथ सामंजस्य-सिद्धि

(Harmonised) होने ही में हमारी समस्याओं का हल है।

उत्तर—मैंने जो कहा वह इससे कुछ दूर तो नहीं जा पड़ता। मेरा शेष के साथ समन्वय हो,—बेशक इसी में पूरी सिद्धि है। लेकिन, समन्वय साधने चलते हैं तभी प्रश्न खड़ा होता है कि क्या तो कार्य है और क्या अकार्य है, क्या नीति है और क्या अनीति है? समन्वय-हीनता में दुःख है, इससे वह अनीति भी है। बेशक, हम अन्तिम हेतु ढूँढने के चक्कर में भटक भी सकते हैं। ऐसे भटक जा सकते हैं कि जो उसका वास्तव अभिप्राय था, यानी समन्वय, उसको ही भूल जायँ। दर्शन-शास्त्र के नाम पर अधिकांश जो कुछ प्राप्त होता है, वह ऐसी ही भटकन का इतिहास है। इसीलिए मैं स्वयं निश्चेतन और निष्क्रिय दर्शन के हक में नहीं हूँ।

फिर भी यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति तत्काल की दृष्टि से कार्य-अकार्य का निर्णय करने को उद्यत है, वह धीमे-धीमे उस प्रश्न को स्थूल से अधिक सूक्ष्म और concrete के बजाय abstract के रूप में देखने लग जायगा। उसकी बुद्धि लाचार करेगी कि वह जाने कि क्या होने से कोई कर्म दुष्कर्म और दूसरा कर्म पुण्य-कर्म हो जाता है। यह कि व्यक्ति और स्थिति का समन्वय होना चाहिए, यह निर्णय भी तो आखिर प्रश्न को स्थूल से सूक्ष्म बनाने के उपरांत ही मानव-बुद्धि प्रस्तुत कर सकी है।

इसीलिए, सच्ची बात तो यही है कि मुक्त प्राणी अपने को, अपने 'मैं' को, सब में मिला देता है। तब निस्सन्देह नीति-अनीति, कार्य-कारण, सत्-असत्, ये सब द्वित्व से संभव बनने वाले प्रश्न उसके निकट असम्भव बन जाते हैं। वह मात्र सच्चिदानन्द होता है। लेकिन उससे पहले...?

प्रश्न—आज की सामाजिक व्यवस्था में जैसी आर्थिक एवं राजनीतिक जटिलताएँ उपस्थित हैं, उनमें कितने ही पुरुष अन्तर से नैतिक होते हुए भी अनैतिकता का जरिया बने हुए हैं। समाज की व्यवस्था ही को बदले बिना क्या यह दोष दूर हो सकता है?

उत्तर—आप सवाल को क्यों गहराई पर छूते हैं? बात असल यह है कि जो कुछ होता है, मैं और आप उसके करने वाले नहीं हैं। इसलिए,

उस होने में अपने-आप में कोई दोष नहीं है। नीति-अनीति घटना में नहीं होती है। इसलिए, 'व्यक्ति नैतिक होने पर भी लाचार है कि विषम समाज-रचना का अंग होने के कारण वह उस विषमता को अपने व्यक्ति-गत अस्तित्व-मात्र से पोषण दे,' यह कहने का विशेष आशय नहीं बनता। मैं जितना अपने सम्बन्ध में जागरूक हूँ, उतना ही कम शिकार हूँ। व्यक्ति समस्त के प्रति, समाज के प्रति, अपना नैतिक कर्त्तव्य निबाहता है,—इसी में यह गर्भित हो जाता है कि वह समाज-व्यापी अनीति को बढ़ाता नहीं, घटाता है।

मानिए कि मैं अहिंसा का कायल हूँ। उस अहिंसा के धर्म के पालन में; मान लीजिए कि, मैं किसी के तलवार के वार के नीचे मर जाता हूँ।

अब एक तर्क यह हो सकता है कि मैं अगर मरने के लिए तैयार न होता तो मारने वाला अपनी तलवार से मुझे न मार सकता,—अर्थात् हिंसा न कर सकता। इस तरह मैंने अपनी अहिंसा की भावना के कारण उसकी हिंसा को उत्तेजना दी! हिंसा का शिकार होकर मैंने हिंसा को बढ़ावा दिया!

ऊपर का तर्क ठीक तभी हो सकता है जब मेरा मरना प्रमादवश और भीरुतावश हुआ हो। लेकिन, अगर वह वैसा नहीं है,—स्वेच्छापूर्वक, श्रद्धा-पूर्वक अगर मैं उस तलवार के नीचे मर सका हूँ,—तो ऊपर का तर्क सर्वथा भ्रान्त हो जाता है।

मैं नीतिनिष्ठ रहता हूँ, इतने में मेरे अपने जीवन की उऋणता आ जाती है। ऐसा व्यक्ति, जान पड़ता है, अनीति और असत्य से जीवन में सदा ही मोर्चा लेता हुआ दीखेगा। सचाई का मार्ग बड़े-से-बड़े योद्धा ही के योग्य है। यह मानने से भी क्या हाथ आता है कि व्यक्ति के नीति-निष्ठ होने में सिद्धि नहीं है जबकि समाज-रचना अशुद्ध है। क्योंकि, व्यक्ति की नीति-निष्ठा ही समाज की शुद्धि का कारण होती है।

असल में देखा जाय, तो क्या हम अपने भी हैं? क्या हम होनहार के हाथ की कठपुतलियाँ नहीं हैं? बात सच हो, फिर भी इस कारण अपने दायित्व को समाज पर टालने की बुद्धि नहीं की जा सकती। आरम्भ में भी

कहा जा चुका है कि दोष की जड़ को अपने में न खोजकर समाज में उसे खोजने चलने में त्राण नहीं है। उस तरह की वृत्ति में कुछ-न-कुछ अपने को खतरे से बचाने की, ज्ञात नहीं तो अज्ञात, भावना जरूर है।

प्रश्न—समाज-व्यवस्था में (Social order में) परिवर्तन करने न करने के प्रति भी क्या मनुष्य की भावना के हिंसक या अहिंसक होने का प्रश्न उठता है ?

उत्तर—हिंसा-अहिंसा का प्रश्न, आदमी देखे तो, किसी-न-किसी रूप में हर काम में और हर घड़ी उसके साथ रहता है, और रहना चाहिए। यदि आत्म-निरीक्षण जरूरी है, तो यह भी जरूरी है। समाज को कुछ नया सुधरा हुआ रूप पहनाने की चिन्ता असंगत है। आत्म-मोक्ष में समाज का मोक्ष आता है और सच्चा समाज-सुधारक उसी राह को पकड़ कर सच्चा बनेगा।

प्रश्न—मुझे पूरी तृप्ति नहीं हुई। मुझे एक-एक सवाल पूछने दीजिए। क्या आप समाज के वर्तमान रूप और अवस्था से संतुष्ट हैं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्या आप उसमें कुछ ऐसी चीजें नहीं देखते जिनको सुधारा जा सकता है और सुधारना चाहिए ? क्या यह अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति समाज-संगठन में त्रुटियाँ देखे और उन्हें पूरा करने में कटिबद्ध न हो जाय ? और अगर ऐसा व्यक्ति है, तो चाहे फिर अपने व्यक्तिगत जीवन में वह नीति-अनीति, हिंसा या अहिंसा का कितना भी बारीक अन्वीक्षण करता रहता हो, क्या हम उसको अनुत्तरदायी नहीं कहेंगे ? इस तरह शायद हम यह भी देख सकेंगे कि अहिंसा का विचार ही हमारी मदद नहीं करता, बल्कि समाज की सामाजिक समस्याओं पर भी सोच-विचार आवश्यक है। आप के कहने में यह ध्वनि आती है कि वैसा सोच-विचार जरूरी नहीं है,—अपने ही पाप-पुण्य का ध्यान रखना चाहिए।

उत्तर—मैं नहीं जानता कि इसका जवाब बहुत सरल दीख पड़ेगा। समाज-रचना की वर्त्तमान अवस्था से मुझे असन्तोष है। असन्तोष है, इसके माने यह कि असन्तोष की मुझ में शक्ति है। असन्तोष सच्चा है, तो मैं चैन से नहीं बैठ सकता।

अब प्रश्न होगा कि मैं क्या करूँ ? कहाँ से कैसे आरम्भ करूँ ?

मान लीजिए, असन्तोष बहुत है। फिर भी, अधीरता से मैं काम लेना नहीं चाहता। बस यही नहीं कि मैं कुछ करते रहने का सन्तोष चाहता हूँ, बल्कि मैं जड़ को पकड़ना चाहता हूँ और असन्तोष से जल्दी छुट्टी पाने को उतावला नहीं हूँ।

तब सवाल होगा कि वह समाज कहाँ है जिसे सुधारूँ ? उसको पकड़ूँ तो कैसे ? तब जान पड़ेगा कि जैसे डाक्टर के हाथ में मरीज़ रहता है, उस भाँति समाज मेरे हाथ में आता ही नहीं। लाख कोशिश करूँ, उसका पल्ला भी मेरे छूने में नहीं आता। तब यह जानना ही पड़ता है कि समाज मुझ से भिन्न नहीं है, मैं समाज से भिन्न नहीं हूँ। चाहकर भी मैं कुछ करने के लिए समाज से आरम्भ नहीं कर सकता, मुझे अपने से ही आरम्भ करना होगा। इसीलिए, अधिक-से-अधिक ज़ोर भी इस बात पर कम हो सकता है कि मैं अपने सुख को सदा समाज के हित में देखूँ। समाज-सुधार को सदा ही स्वधर्म की परिभाषा में खोलकर देखने का प्रयास करना होगा। अन्यथा वर्तन करने से चक्कर ही कट सकता है, गति नहीं की जा सकती।

आप देखिए न, हमारे सब व्यापार जिस इकाई को लेकर सम्भव बनते हैं; वह है व्यक्ति। उस व्यक्ति को चलाने वाला है मन। क्या आप समझते हैं कि बिना उस मन को खयाल में लाए कोई परिवर्त्तन हो सकता है ? यह कहने की बिलकुल मंशा नहीं है कि मन की कोई स्वतन्त्र सत्ता है। मन की बिलकुल भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। स्वतन्त्र सत्ता तो त्रिकाल और त्रिलोक में एक ही है जिसको सर्व-साधारण के साथ हम भी कह दें, ईश्वर। लेकिन, आदमीका वह मन उस आदमी की क्रिया का आदि-स्रोत है। इससे मैं फिर-फिर कर यही कहूँगा कि आदमियों के उन मनों को सँभालने और चैतन्य बनाने

से ही कुछ होगा। जो समाज-शास्त्र के सहारे और अर्थ-शास्त्र के सहारे अपने मन की मूर्च्छा को दूर हुआ पाते हैं और इसी भाँति उनमें प्रेरणा जागती है, तो वे अवश्य वैसा करें। लेकिन, समाज-शास्त्र अथवा अर्थ-शास्त्र में तब और उतनी ही सच्चाई मानी जायगी जब और जितनी मात्रा में कि वे उस मानव के मानस को चेताते हैं। इस बात को मानने में कर्मठ को क्यों बाधा होनी चाहिए, मैं नहीं देख पाता।

प्रश्न—क्या देश, जाति अथवा राष्ट्र मानवता की जीवित इकाई हैं? उन सत्ताओं में क्या कोई आत्मा-जैसी चीज ओत-प्रोत होकर जीती है?

उत्तर—अगर वे जीवित हैं, तो जीवित हैं। इकाई के तौर पर उनकी कोई अलग निज में सत्ता नहीं है। आस्ट्रिया कल था, आज कहाँ है? आत्मा एक है और सर्वव्यापी है। उसकी कोई बँधी इकाई नहीं है। मैं एक हूँ, मेरा परिवार एक है। इसके बाद मेरा मोहल्ला, नगर, प्रान्त, देश ये सब भी एक-एक हैं। उसके आगे यह भी सच है कि समूची धरती (Earth) एक (planet) है। अपने सौर-परिवार को (Solar System को) एक कहा जा सकता है। इससे आगे बढ़ें तो स-चराचर ब्रह्मांड एक है। जीवन की, आत्मा की, इकाई को इन सब में से कहाँ किसमें एक जगह बाँधें? इनमें से किसको इतना ऐकान्तिक सच कह दें कि दूसरा झूठ हो जाय?

इसलिए, उस तरह का प्रश्न व्यर्थ है। यानी, उस प्रश्न की सार्थकता प्रश्न ही बने रहने में है। उसका पक्का जवाब कभी कुछ नहीं बनेगा।

मैं और आप व्यक्ति हैं। इसलिए, पक्की तौर पर तो आत्मा की व्यक्तिगत इकाई की बात ही हमारे भीतर बैठ सकती है।

लेकिन, हममें ही कुछ ऐसी भी चेतना है जो व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रम करके असीम का स्पर्श भी अनुभव करती है। उसी निरन्तर आत्म-साधनशील चेतना के उत्तरोत्तर विकास के अनुरूप हम कहने को बाध्य होते हैं कि मुझसे बड़ा समाज का व्यक्तित्व है; अथवा कि मैं नहीं हूँ, राष्ट्र ही है। इस प्रकार का कथन असत्य नहीं है। पर, उसकी सत्यता तभी निर्भ्रान्त है

जब कि वे कथन स्वयं विकासशील हों। अर्थात्, मैं समाज का हूँ, यह कहना तभी सही होगा जब कि मुझे कल्पना हो कि समाज भी आगे जाकर किसी बृहत्तर मानव-समाज की है। अगर वह कल्पना नहीं है, तो मेरा समाजवाद मिथ्या दंभ भी हो सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रवाद अथवा स्टेट-वाद कोरे मिथ्या घोष हो सकते हैं।

प्रश्न—व्यक्ति का व्यक्तित्व और समाज का व्यक्तित्व क्या दो अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं?

उत्तर—शुद्ध सत्य की दृष्टि से नहीं हैं। लेकिन, सौ फीसदी सचाई को किसने प्राप्त किया है? इससे उनमें निरन्तर संघर्ष देखने में आता है।

५—व्यक्ति और शासन-यन्त्र

प्रश्न—व्यक्ति और स्टेट के निर्णय में जब संघर्ष हो, तो क्या व्यक्ति को स्टेट के सामने झुकना चाहिए ?

उत्तर—मैं नहीं जानता कि व्यक्ति अपने इंकार पर कैसे जी सकता है। अर्थात् स्टेट का निर्णय स्वधर्म के विरुद्ध हो तो व्यक्ति कैसे झुक सकता है ? झुकता है, तो अपने व्यक्तित्व को खंडित करता है, यानी अधर्म करता है।

प्रश्न—जब व्यक्ति का स्वधर्म होता है, तो क्या स्टेट का स्वधर्म नहीं होता ? और क्या वह व्यक्ति के स्वधर्म से बड़ी चीज नहीं है जिसके सामने कि उसको झुकना चाहिए ?

उत्तर—स्टेट का स्वधर्म क्यों नहीं होगा। बेशक, स्टेट के संचालन की जिम्मेदारी जिन्होंने अपने ऊपर ली है, उनसे यही आशा करनी चाहिए कि उन्होंने स्टेट के और अपने स्वधर्म को अभिन्न बनाकर चलना स्वीकार किया है।

यहाँ अपनी वही पहली स्वयंसिद्ध धारणा याद रखनी चाहिए कि सचाई में सब एक है। अगर कोई स्टेट अहंकार के कारण अपने से बड़ी सत्ता के साथ अपना अविरोध भूल जाय और विकारग्रस्त हो जाय, तब सच्चे धर्म को मानने वाला व्यक्ति क्या करे। क्या वह स्टेट की वेदी पर अपने विवेक का खून कर दे ? स्टेट को ऐसा देवता नहीं माना जा सकता जो सर्वसम्पूर्ण (infallible) हो। इसलिए, स्टेट का संचालन जब मानव-धर्म से अविरोधी न होकर विरोधी हो जाय, तब उसकी सविनय अवज्ञा का हक व्यक्ति का सुरक्षित समझना चाहिए।

प्रश्न—उन सब व्यक्तियों के समन्वित विवेक से, जो कि उसमें हैं, स्टेट बनती, जीती और चलती है। तब फिर स्टेट के

विवेक में व्यक्ति के विवेक की अपेक्षा कोई कमी होगी, ऐसी सम्भावना ही कैसे हो सकती है ?

उत्तर—क्यों यह सँभावना नहीं हो सकती ? क्या आप, अथवा कोई देश, अपने यहाँ के सेनाधिनायक को ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानते हैं ? हिन्दुस्तान के वाइसराय क्या हिन्दुस्तान के सबसे विवेकवान् पुरुष कहे जायँगे ? कुछ साल बाद, जब वह वाइसराय न रहेंगे, तब क्या कोई उन्हें पूछेगा भी ? शासनकर्त्ता लोग ही क्या महापुरुष हैं ? असल में देखा जाय, तो उस वर्ग में महापुरुषों की संख्या सबसे कम होती है ।

आपने कहा, 'समन्वित विवेक'। पर आज की स्टेट का विवेक 'समन्वित विवेक' नहीं है, वह औसत विवेक है । जो विवेक का बाजार-भाव है, स्टेट का विवेक लगभग उसी तल पर रहता है । मैं नहीं जानता कि क्यों बाजार-भाव को अंतिम भाव माना जाय । हमें जानना चाहिए कि बाजार में दर घटती-बढ़ती रहती है । जानना चाहिए कि वह क्या मूल तथ्य है जो उन मूल्यों में परिवर्त्तन लाता है । क्या वह तथ्य व्यक्ति की अन्तःप्रेरणा से ही आरम्भ नहीं होता ?

प्रश्न—जो व्यक्ति सब से महान् है, वही अनिवार्यतः क्यों न स्टेट की चोटी पर हो ?

उत्तर—अनिवार्य यह है कि वह स्टेट की चोटी पर न हो । जिसने जीवन को सत्य की शोध के लिए ही समझा है, वह गवर्नर होना कैसे स्वीकार कर सकता है ? गवर्नर जरूरी तौर पर वह प्राणी है जो शासन के लिए थोड़ा या बहुत बाहरी बल का भी प्रयोग करता है । जो जितना महान् है, बाह्य बलका प्रयोग उसके लिए उतना ही कम सम्भव है । उसका बल-मात्र नैतिक बल है । गवर्नर केवल नैतिक बल से नहीं, बल्कि सेना-बल से, यानी गवर्नरी के बल से, भी शासन करता है । इससे यह सदा के लिए असंभव है कि सच्चा पुरुष किसी राष्ट्र का शासन-प्राप्त अधिनायक हो । राजा बड़ा नहीं होता । बड़ा वह कि जिसका बड़प्पन बढ़ता ही है, गिरता कभी नहीं । मौत के बाद भी वह बढ़ता है । इतिहास उसे चमका ही सकता है, धुँधला

नहीं कर सकता।

प्रश्न—क्या आपका यह कथन कैसी भी उन्नत-से-उन्नत स्टेट पर लागू होना चाहिए ?

उत्तर—उस स्टेट को छोड़कर जहाँ स्टेट का अनुशासन मानो धर्मानुशासन ही है। पर यह स्थिति इतिहास में अत्यन्त विरल है। यह होती है तो टिकती नहीं। मोहम्मद साहब की खिलाफ़त ऐसी ही संस्था थी। बौद्ध आदर्श से अनुप्राणित अशोक ऐसा ही हो चला था। पर शक्ति और धर्म में अविरोध और ऐक्य का स्थापन इतना कठिन बना हुआ है कि उन दोनों में विरोध मानकर चला जाय तो विशेष हानि नहीं। धर्म वह है जहाँ व्यक्ति अपने को दासानुदास मानता है। और वह उसकी सच्ची दासानुदासता ही दुनिया के लिए बड़प्पन बन जाती है। और फिर, दुनिया उसके ऊपर अपना ऐश्वर्य भी लाद दे तो अचरज नहीं। लेकिन, जहाँ समझदारी की बातचीत करना लाजमी हो, वहाँ हम ऐसी अनन्य घटनाओं को हिसाब में ही क्यों लावें ?—क्यों, है न ?

प्रश्न—क्या आपका मतलब यह है कि महान् पुरुष स्टेट के दायित्व को अपने ऊपर लेना ही नहीं चाहते अथवा यह कि वह उन तक पहुँचता ही नहीं ?

उत्तर—अधिकार की परिभाषा में वे सोच ही नहीं सकते और शासन का दायित्व अधिकारहीन होने पाता ही नहीं।

प्रश्न—अधिकारहीन शासन होने से आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अधिकार-हीन शासन' से अभिप्राय है पूरी तरह प्रेम और धर्म का शासन। किन्तु, जहाँ प्रेम है और धर्म है, वहाँ 'शासन' शब्द ओछा मालूम होता है। फिर भी, आखिर किन्हीं शब्दों में तो उसे कहना होगा। इसलिए, यह कहें कि शासनहीन शासन सर्वोत्तम है। सर्वोत्तम पुरुष शासन के सर्वोच्च प्रकार से उतरकर हीन-शासन क्योंकर स्वीकार करे ? लेकिन, जब शासन ऐसे सर्वोच्च प्रकार का हुआ, तब आप ही सोचिए कि 'स्टेट' शब्द कितनी सार्थकता के साथ तब वहाँ टिका रह सकेगा ? आप ही

कहिए कि राम-राज्य भी कोई सचमुच राज्य-जैसा आपको मालूम होता है ? राजनीति-शास्त्र (Political Science) में जितनी विधियाँ (o'Cracies) वर्णित है उनमें से भला वह किस किस्म का है ? इसी से उसकी चर्चा यहाँ क्या कीजिए।

प्रश्न—क्या समाज की कैसी भी अवस्था में किसी प्रकार की शासन-विधि(o'cracy) को महान् पुरुप आवश्यक नहीं समझते हैं ?

उत्तर—यहाँ फिर दो शब्दों में भेद करना होगा। आवश्यक समझें भी, पर अंतिम रूप में उचित नहीं समझते। अर्थात्, उस शासन का संचालन वे अपने ऊपर नहीं ले सकते। हाँ, उसकी वर्त्तमान आवश्यकता को देखते हुए उसे धीर भाव से सहते तो हैं ही। वर्त्तमान की दृष्टि से अपरिहार्य उसे मानकर भी, भविष्य की दृष्टि में, उसे परिहार्य भी देखते हैं। अर्थात् व्यावहारिक रूप में उसे आशीर्वाद दे सकते हैं, पर तब भी उनकी आत्मा के भीतर क्या बेचैनी की आग समाप्त हो जाती है ? उनका सर्वस्व तो वह आग है। तब किस भाँति वे अपने को किसी भी नाम की शासन-प्रथा के साथ जोड़ दें ? क्योंकि उनकी लगन तो शासन-हीन शासन को स्थापित करने पर लगी रहती है।

प्रश्न—आप मानते हैं कि महान् पुरुप वर्त्तमान को दृष्टि में लेकर किसी-न-किसी प्रकार के शासन को आवश्यक और अपरिहार्य समझते हैं। किन्तु, इस आवश्यक कार्य को करने के लिए स्वयं तैयार न होकर, जबकि समाज का भी उनके पीछे आग्रह हो, क्या वे किसी दूसरे से इस कार्य के किए जाने की आशा करते हैं ? यह कहाँ तक उचित है ? क्योंकि कार्य आवश्यक है, और उसका किया जाना भी।

उत्तर—क्यों, इसमें अनुचित क्या है ? हाथ से मैं हाथ का काम चाहूँ, तो क्या उस हाथ को तर्क करने का मौका है, कि मस्तक तो यह काम नहीं करता, मैं भी यह नहीं करूँगा।

हाँ, यह सही है कि किसी की मर्जी के खिलाफ अथवा कि उसके

स्वभाव के विरुद्ध महापुरुष किसी से कोई काम नहीं लेगा। किसी को अपनी महा-पुरुषता का इतना भान है कि उसे शासन-कार्य में अन्तःकरण से अरुचि हो, तो बेशक किसी के कहने से भी उस काम में क्यों पड़ने लगा? लेकिन, महापुरुषता नकल करने से क्या मिल जायगी? जो इस भ्रम में पड़े हैं, वे महापुरुष तो क्या बनेंगे, स्वयं जो कुछ हैं उससे भी हाथ धो बैठेंगे।

प्रश्न—प्रश्न यह नहीं था कि महान् पुरुष की इन्कारी की दूसरे लोग भी नकल करेंगे या नहीं। बल्कि, प्रश्न तो यह था कि जिस काम का किया जाना आवश्यक और अपरिहार्य है, फिर उसके करने में अनौचित्य कैसा? और तिस पर भी उस समाज-कार्य में, जो कि कर्तव्य है, रुचि का क्या प्रश्न? इसके भी अतिरिक्त जब हम किसी को महान् कहते हैं तो हमारा मतलब यह नहीं है कि वह केवल हाथ है, या मस्तक ही है। बल्कि, उसकी महत्ता में तो समाजोपयोगिता की उतनी ही बड़ी क्षमता है।

उत्तर—यहाँ आवश्यक से अभिप्राय है होनहार। होनहार अपरिहार्य भी है। उचित से आशय है, करने योग्य। होनहार सहने योग्य अवश्य है, पर वह उसी कारण करणीय है, ऐसा नहीं। इसी आशय में मैंने कहा कि जो आवश्यक है, अर्थात् होनहार है, उससे रुष्ट और विक्षुब्ध होकर अपने को अक्षम बनाने का अधिकार आस्तिक जन को नहीं है। वह उसमें किंचित् सहयोग देकर भी उसके दोषों के प्रति असहयोग भाव ही रखता है।

आपकी यह बात ठीक है कि महापुरुष मस्तक-ही-मस्तक नहीं है, वह हाथ भी है। ऐसा नहीं है, तो महापुरुष ही नहीं है। इसीलिए, यह सत्य है कि महापुरुष अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उस समय की मर्यादाएँ भी और आकांक्षाएँ भी उसमें स्वरूप पाती हैं। युग का प्रतिनिधि है, यानी उसकी त्रुटियों का भी प्रतिनिधि है। वह काल-पुरुष (Man of Destiny) होने के कारण एकान्त भाव से किसी एक दल अथवा एक वर्ग के साथ नहीं हो सकता। वर्ग अथवा दल उसके साथ लग पड़ें, वह

दूसरी बात है। उधर शासन लगभग अनिवार्य रूप से प्रधान दल के हाथ में होता है।

प्रश्न—राष्ट्र अनेक व्यक्ति एवं वर्ग के एक संगठन के रूप में यदि कोई सत्ता (entity) रखता है, तो उसे उस सत्ता के संगठित एवं सामूहिक रूप में हित-अहित की चिन्ता भी होनी चाहिए। इस चिन्ता के अनुसार उसे संगठित रूप में ही कार्य करने का अधिकार भी होना चाहिए। और इस प्रकार हर व्यक्ति के हित-अहित की चिन्ता उसकी चिन्ता हो जाने से क्या हर व्यक्ति के आचरण पर भी उसका अधिकार नहीं हो जाता ?

उत्तर—प्रश्न जटिल हो गया है। वह जटिल होता ही जायगा और उसको अब उदाहरण देकर ही दर्शाना सम्भव हो सकता है। गूढ़ शब्दावली उसको और गूढ़ बना देती है।

अपने शरीर और व्यक्तित्व को लीजिए। आपका शरीर समझिए कि बाह्य राष्ट्र है। हाथ-पैर उसके अंगोपांग हैं। व्यक्तित्व उसी शरीर के भीतर की अन्तरंग सचाई है। हमारे ही कुछ ऐसे अंग और उपांग भी हैं जो दीखते नहीं हैं। जैसे हृदय है, मस्तिष्क है।

आपके प्रश्न का यह आशय हो जाता है कि क्या समूची देह को अधिकार नहीं है कि वह प्रत्येक अंग और उपांग को अपने अधीन माने और क्या अंग और उपांग का कर्तव्य नहीं है कि वह समूचे शरीर के प्रति अपने को समर्पित समझे ?

अब मैं कहूँगा कि इस प्रश्न में भूल है। हमारा व्यक्तित्व अंगोपांगों से जुदा नहीं है। उनसे अलग होकर वह है ही नहीं। उन अंगों में फिर तरतमता भी है। कुछ कर्मेन्द्रिय हैं, कुछ ज्ञानेन्द्रिय हैं। हमारा अपना-पन हमारे ही कुछ विशिष्ट अंगोपांगों के साथ अधिक अभिन्न है, यह कहने में कुछ बाधा नहीं है। कहा जा सकता है कि आपके हृदय में आपका ही व्यक्तित्व अधिक समाहित है, समूची देह में भी उतना नहीं है।

इसी तरह कोई विशिष्ट व्यक्ति हो सकता है जिसमें राष्ट्र-चेतना मूर्तिमान्

हो गई हो, अथवा कि जो विश्व-चेतना से परिचालित हो। ऐसी अवस्था में मानना होगा कि लाखों आदमी एक तरफ और वह आदमी अकेला एक तरफ होकर भी राष्ट्र का विशेष सच्चा प्रतिनिधि है।

एक शब्द है 'बेताज बादशाह', (Uncrowned king) उस शब्द में क्या भाव है ? क्या यह पक्की तौर पर नहीं कहा जा सकता कि बेताज बादशाह ताजवाले राजा से सदा बड़ा होता है ?

क्यों ?—इस 'क्यों' में ही आपका उत्तर आ जाता है।

पुराणों में कथन है कि दुर्योधन ने कृष्ण की अक्षौहिणी सेना को लेना पसन्द किया, अकेले कृष्ण को लेना पसन्द नहीं किया। यह उसके हक में मूर्खता ही हुई। क्योंकि संख्या में सचाई नहीं है।

इसी भाँति एक व्यक्ति राष्ट्र से बड़ा हो सकता है, इसको बहुत स्थूल अर्थ में न लेवें। न तो इसे बहुत वैज्ञानिक अर्थ में ही लें। क्योंकि, राष्ट्र सहस्रों मीलों में होता है, और व्यक्ति साढ़े तीन हाथ का ही होता है। इससे उस कथन के अभिप्राय को लेना चाहिए और उस दृष्टि से इस कथन में तनिक भी अतिरंजन नहीं है।

प्रश्न—क्या राष्ट्र अथवा किसी भी संगठन का अपने अंगों पर नियन्त्रण रखना सर्वथा अनुचित और आवश्यक है ?

उत्तर—सर्वथा आवश्यक है। लेकिन, उसकी आवश्यकता क्यों है, इसका ध्यान रखना चाहिए। वे अंगोपांग अपने को सुशासित रखना सीखने की आवश्यकता में हैं। वही आवश्यकता पूरी करने के लिए बाह्य संगठन उपजता है।

व्यक्ति हैं जो समाज के अभाव में उच्छृंखल ही हो जायँगे। उनको चारों ओर से चूँकि समाज का (—दण्ड का) दबाव दबाए है, इसी से वे चारित्र तौर पर चलते दीखते हैं। तो मैं कह सकता हूँ, और यह कहना बिलकुल यथार्थ होगा, कि उन व्यक्तियों की स्वशासन की अक्षमता ही बाहर आकर सामाजिक दण्ड-विधान का स्वरूप लेती है।

सोसायटी के व्यक्ति जिस योग्य होते हैं उसकी संस्थाएँ उतनी ही योग्य

होती हैं। जहाँ कानून ज्यादा है वहाँ उसको सार्थक करने के लिए अपराध-वृत्ति भी उतनी ही है।

प्रश्न—जब समाज का नियन्त्रण आवश्यक और उचित ही है, तो क्या हर व्यक्ति का यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता है कि वह उसकी अवज्ञा न करे ?

उत्तर—हाँ, अवज्ञा धर्म नहीं है और यदि किसी विषम परिस्थिति में अवज्ञा करनी भी पड़े, अर्थात् वैसी अवज्ञा धर्म भी हो जावे, तो भी यह शर्त है कि वह सर्वथा सविनय ही होगी।

आग्रह यदि हो सकता है, तो सत्य धर्म के कारण ही हो सकता है और प्राणी-मात्र के लिए आग्रह के सत्याग्रह होने की एक अनिवार्य शर्त अहिंसा-मयता हो जाती है।

ऐसा व्यक्ति किसी के प्रति बुद्धिपूर्वक विद्रोही नहीं होता। वह सबका हित चाहता है। जो सबका है, वही हित सच्चा भी हो सकता है। उस सच्चे हित को ध्यान में लेकर हमारे माने हुए बहुत से झूठे हितों को (=स्वार्थों को) वह (=सत्याग्रही) तोड़ने में जरूर तत्पर दीखता है। इस तरह व्यवहार में वह उग्र विद्रोही भी जान पड़े, पर भीतर से वह स्नेही ही है।

प्रश्न—क्या हर प्रकार का बाह्य शासन मनुष्य के चरित्र-विकास में बाधक नहीं है और इसलिए अनुचित भी ?

उत्तर—नहीं, अधिकतर साधक है। बाह्य शासन, पहले ही कहा जा चुका है, तभी तक शासन-रूप में टिक सकता है जब तक अन्तःशासन में कुछ त्रुटि है। जब भीतर से जीवन स्वावलम्बी हो आयगा तब बाह्यावलम्ब अनावश्यक होकर स्वयं बिखर रहेगा। अण्डे का खोल तभी तक है जब तक भीतर जीवन पक नहीं पाया है। (शावक) समर्थ बना कि खोल टूट ही जायगा। क्या हम यह कहें कि वह खोल बच्चे बनने में बाधक है ?

प्रश्न—किन्तु, वास्तविक विकास क्या भीतरी अभाव की स्वाभाविक स्वानुभूति के बिना सम्भव है ? क्या उसके लिए

अपनी त्रुटियों की अनुभूति आवश्यक ही नहीं है ?

उत्तर—अवश्य आवश्यक है। त्रुटि को पहचानना तो है ही। मगर उसे दूर करना है। उसे पोसना नहीं है।

प्रश्न—किन्तु बाह्य शासन के होते हुए क्या वह स्वाभाविक स्वानुभूति सम्भव है ?

उत्तर—जरूर, बल्कि बाह्य अवरोध के कारण वैसी अनुभूति अनिवार्य ही हो जाती है। हमारे सपने क्यों सच नहीं हैं ? इसी से तो कि वे बाह्य के स्पर्श पर छू हो जाते हैं। हमारी मनगढ़न्त बातें मनगढ़न्त हैं, यह बोध हमें तभी तो होता है जब उनसे दुनिया टस से मस होती नहीं दीखती। वैसा बाह्य अवरोध निरन्तर हमारी अनुभूति को चैतन्य और जाग्रत बनाता है। बल और किसका नाम है ? अवरोध है, तभी तो बल आवश्यक है। वह अवरोध जितना दृढ़ होगा, उतना ही तो बल को प्रबल होना होगा। might is resistance।

आप कहेंगे, शासन को पहले साधक बताया गया, अब उसी को अवरोधक कहा गया है। हाँ, कहा तो गया है। कारण, अवरोधक होने के द्वारा ही वह साधक होता है, क्योंकि अन्ततः हममें आत्म-चैतन्य जगाता है।

प्रश्न—क्या बाह्य जीवन स्वयं ही बिना किसी कृत्रिम अवरोध के आत्मा में समन्वय की प्रेरणा नहीं जगाता है, और इसलिए स्व-शासन की भावना पैदा करने का कार्य नहीं करता है ? फिर, स्टेट के शासन की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—समन्वय तो चाहिए न ? 'चाहिए' में गर्भित है कि अभी समन्वय है नहीं। आप कहते हैं कि अगर स्टेट-जैसी चीज भी कोई न हो और धाँधली ही हो, तो क्या यह न मानें कि ऐसी अवस्था में मनुष्य में और समाज में खूब त्रास पैदा होगा, और उसके कारण समन्वय पाने की उत्कंठा भी उतनी ही तीव्र होगी ? एक प्रकार के विचारक हैं जो ऐसा सोचते हैं। वे कहते हैं, अँधेरा खूब घना होगा तो प्रकाश को उसी में से फूटना पड़ेगा। एक हद से पार पहुँचने पर कोई वस्तु अपने ही नाश का

कारण हो जाती है। इसी से मचने दो क्रान्ति, क्योंकि जब घमासान होगा, तब शान्ति का असह्य अभाव ही शान्ति को खींच लायगा। वह बात झूट न हो, पर ऐसे लोगों को 'न'कार-सेवी कहना चाहिए। शायद निहिलिस्ट ऐसा ही दल था।

लेकिन हममें समन्वय न हो, पर समूचे ब्रह्माण्ड में भी वह समन्वय नहीं है ऐसा मानने के लिए न गुंजायश है, न इजाजत हो सकती है। सब मिलकर, कहना होगा कि, अब भी इस समूचे महाविश्व में तो एकस्वरता ही प्रकट हो रही है। सूरज समय पर उगता, समय पर छिपता है। इसमें तनिक भी व्यतिरेक नहीं हो पाता है। यदि वैसी एकस्वरता मानव-व्यापारों में हमें नहीं दीखती, तो कारण यही मानना चाहिए कि मानव-बुद्धि मर्यादित है और अहंकार के वश में है। सब मिलकर समन्वय है ही, इस तरह भी वही है, यह मैं कहना चाहता हूं। धन (+), और ऋण (−) आपस में कट-मिलकर बराबर हो जाते हैं न ? वैसे ही यहाँ समझिए। अन्तः-शासन में कुछ ऋण है, तो वाह्य शासन बाहर से जुड़कर स्थिरता को कायम रखता है। यह साम्य संतुलन (=Equatory Balance) शाश्वत तत्त्व है। धन और ऋण सदा इस अनुपात में रहेंगे कि परिणाम स्थिरता हो। धन अंश को, अर्थात् बाहरी शासन को, कम करना है, तो स्पष्टतया भीतरी शासन के परिमाण को बढ़ाना ही उसका उपाय है। इसलिए, अपनी न्यूनता कम करना जगत् की परिपूर्णता को बढ़ाना ही है। 'स्वराज्य' का अर्थ अपने विकारों पर राज्य पाना है। यह नहीं है तो कैसे कहें कि वह सच्चा स्वराज्य है ?

प्रश्न—व्यक्तिगत रूप से क्या आप किसी व्यक्ति को घूँसे के जोर के नीचे अनुचित कार्य से रोक रखने का प्रयत्न करेंगे और समझेंगे कि वह सुधर जायगा ? क्या स्टेट अपराधी-वर्ग के लिए एक वैसा ही संगठित घूँसा नहीं है ?

उत्तर—व्यक्तिगत रूप से मैं पसन्द नहीं करूँगा। मैं नहीं मानता कि सरकार (स्टेट) जरूरी तौर पर वैसा बँधा हुआ घूँसा ही है या कुछ भी वह

और नहीं हो सकती।

प्रश्न—जो बात आप व्यक्तिगत रूप से पसन्द नहीं करेंगे, उसे स्टेट के लिए क्यों उचित समझते हैं? वह भी तो व्यक्तियों ही का समुदाय है। और स्टेट की दंड-व्यवस्था अपराधी-समाज के लिए एक रूप में घूँसा ही लगा देने का डरावा नहीं तो और क्या है?

उत्तर—जब तक मैं जज होने से बच सकता हूँ, तब तक किसी को जेल भेजने की लाचारी से भी बचा हुआ हूँ। क्या आप सब को ऐसा देखना चाहते हैं कि हजारों रुपये मासिक आमदनी के साथ मिलने वाली जजी की कुर्सी और जजी के ओहदे को वे न-कुछ के लिए छोड़ दें? आप न चाहें, पर मैं अलबत्तह ऐसा चाहता हूँ। पर वैसा दिन देखना किस के नसीब में है? जब तक मुझ पर जजी का बोझ नहीं है, तब तक मैं अगर जेलखानों के खिलाफ रहूँ तो इसमें क्या बाधा उपस्थित होती है? बाधा तो तब हो जब कोई जज होकर दण्ड देने से जी चुराये।

यहाँ फिर उन्हीं दो शब्दों के अन्तर को याद रखना होगा: आवश्यक और उचित। जो होनहार है, अपरिहार्य है, उसी पर औचित्य की समाप्ति नहीं है। होनहार का विरोध जैसे मूर्खता है, वैसे ही उसके आगे आदर्श की अभिलाष न रखना भी एक मूर्खता ही है। वह आदर्श आगे भविष्य में रहता है। वर्त्तमान को भविष्य की ओर प्रगति करनी है कि नहीं? इससे वर्तमान स्वीकार तो अवश्य होना चाहिए, पर औचित्य (यानी भविष्य) भी उसमें बन्द है, ऐसा कैसे माना जा सकता है?

हाँ, अपराधी के लिए स्टेट आतंक स्वरूप ही है। वैसे ही जैसे कि पापी को ईश्वर का आतंक मालूम हो सकता है। इसके यह माने नहीं कि आतंक को ईश्वर का गुण माना जाय अथवा यह कि आतंक उसका स्वभाव है। बल्कि इसका तो यह अर्थ लगाना चाहिए कि अपराधी के भीतर की अपराध-वृत्ति वैसे आतंक-बोध की मूल कारण है। साँच को जग में आँच कहाँ है? इससे, अगर आग में झुलसाने की शक्ति है, तो उसे भी दुर्गुण

हम क्यों समझें ? क्योंकि जो साँच नहीं है, उसी को तो आग झुलसा सकती है। इसलिए, अगर स्टेट सदोष वस्तु भी है, तो दोषी को ही वह दोष छुएगा। निर्दोष व्यक्ति स्टेट के दोष भी मानो हर लेता है।

प्रश्न—आपने कहा है कि आज के जैसे समाज में किसी स्टेट या शासन के न होने से धाँधली मचेगी। तो इससे, आप शासन को वर्तमान के लिए उचित समझते हैं, ऐसा अर्थ नहीं निकलता ? और क्या इससे सहयोग करने को आप तैयार नहीं होंगे ?

उत्तर—फिर वही उचित और आवश्यक शब्दों में वजन करने की मैं सलाह दूँगा। स्टेट-यन्त्र टूट जाय तो आज तो उससे अलाभ ही होने वाला है। लेकिन, मैंने कहा कि समाज की वैसी अवस्था की भी मैं कल्पना कर सकता हूँ जब स्टेट का यन्त्र अपना सब लाभ दे चुका होगा और जब वह अपने-आप में नहीं, बल्कि अपने फल के रूप में, यानी इतिहास में ही, वह जिन्दा रहेगा। आज की कली कल फूल हो जाती है, वह फूल फिर परसों फल हो जाता है। फल की इच्छा से मैं अधीर होकर कली से नाराज नहीं हो सकता।—फल की तृष्णा में कली को नोंचना अपने को फल से वंचित कर लेना है। अब पूछा जा सकता है कि उचित क्या है ? कली उचित है, कि फूल उचित है, कि फल उचित है ? देखा जा सकता है कि असल में उचित तो विकसित होते रहना है। कोई अवस्था अपने-आप में उचित अथवा अनुचित नहीं है।

इसलिए, जब औचित्य का प्रश्न है तब उचित उसी को ठहराना होगा जो वर्तमान अवस्था को विकास की ओर ले जाय। इसीलिए, मैं कहता हूँ कि स्टेट नामक संस्था में बहुत कुछ है जो आवश्यक है, अर्थात् ठीक आज के दिन उससे छुट्टी नहीं पाई जा सकती। फिर भी, जो कुछ आज है, उस सब के साथ मेरा निरपवाद सहयोग आवश्यक रूप में आने वाले कल के प्रति मेरी अनास्था अर्थात् आदर्श-हीनता का द्योतक होगा। अगर कल पर मैं विश्वास न रक्खूँ, और आज के आज को ही बस मान बैठूँ तब तो जीवन का अर्थ ही लुप्त हो जायगा। जीवन में अर्थ तभी तक शेष है जब

तक हम वर्तमान को सम्पूर्ण नहीं मानते और भविष्य के प्रति भी अपना नाता समझते हैं। इसी में यह गर्भित है कि वर्तमान के दोषों से हमें असहयोग करना होगा जिससे कि उसकी भविष्योन्मुख प्रगति में हमारा उतना ही कटिबद्ध सहयोग हो सके।

६—व्यक्ति और समाज

प्रश्न—समाज की मर्यादाओं से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—समाज को यहाँ हम किसी सूक्ष्म भाव में न लें। वैसे समाज उस जन-समूह को कह सकते हैं जिसमें कोई संस्कृति की अथवा किसी और प्रकार की एकता व्याप्त है। इस तरह मानवता में कई समाज हैं। एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की मर्यादा क्या है ?—स्पष्टतः वह मर्यादा दूसरा व्यक्ति है। इसी तरह, एक समाज के अधिकारों की मर्यादा वहीं आ जाती है जहाँ से दूसरे पड़ोसी समाज के अधिकारों पर दबाव पड़ना आरम्भ होता है।

इस परिभाषा में देखें तो एक की स्वतन्त्रता सदा दूसरे की सत्ता से मर्यादित है। उस अर्थ में स्वतन्त्रता कोई चीज ही नहीं रहती। पूर्ण स्वतन्त्रता केवल उद्दण्डता है।

इसका आशय यह कि अधिकार जहाँ तक कर्तव्य के साथ चले, वहीं तक जायज है। नहीं तो अधिकार अपने-आप में कोई भी चीज़ नहीं है, वह कोरा अहंकार है।

मैं अपने घर में स्वतन्त्र हूँ, इसका यही मतलब है कि दूसरे घर वाला मुझे टोक नहीं सकेगा। लेकिन, अपने घर में स्वतन्त्र होने का मतलब यह कभी नहीं है कि मैं अपने घर को गलीज रख सकता हूँ। एक हद से ज्यादह मेरे घर की ग़लाज़त बढ़ी कि पड़ोस के घर वाले का मेरे प्रति अधिकार बढ़ जायगा और जरूर वह उस बारे में मुझे टोक सकेगा। क्योंकि रहने के लिए हमारे घर दो हैं, पर साँस लेने के लिए वायु तो एक है। जितना मैं कर्तव्य-पालन करता हूँ, उतना ही मेरा अधिकार बढ़ता जाता है। मेरी मर्यादाएँ उतनी ही क्षीण होकर व्यापक होती जाती हैं।

अन्त में मर्यादाओं की निश्चिति के बारे में यही तत्व निर्णायक हो सकता

है। एक व्यक्ति की सीमा दूसरा व्यक्ति है और एक समाज की सीमा दूसरा समाज है। वे सीमा अधिकारों की हैं, प्रेम-व्यवहार की वे सीमाएँ नहीं हैं।

आज भी हमारी दुनिया के राजनीतिक नकशे में यद्यपि देश और विदेश में अन्तर है, लेकिन कोई आदमी अगर राजकारण से बिलकुल अछूता हो, मान लीजिए कि मंगल ग्रह का वासी ही कोई हमारे बीच में उतर आया हो, तो उसे, चाहे वह कितना ही घूमे, देश की सीमा और विदेश की सीमा कहीं भी दिखाई नहीं देगी। यों भी, क्या डाक-तार आज भी सब देशों को एक ओर इकट्ठा नहीं बनाये हुए हैं? अतः, जहाँ मेल है वहाँ सीमा का प्रश्न ही नहीं उठता। मेल की मर्यादा किसने बाँधी है? मर्यादाएँ लड़ाई की अपेक्षा से, यानी उसकी आशंका के कारण, बनती और बनानी होती हैं।

समाज की मर्यादा का प्रश्न इसी अपेक्षा से सम्भव बनता है। तब मैं कहूँगा कि दूसरे समाज के अहित-चिन्तन में भी एक समाज अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन करता है। लड़ाई ठानना बेशक मर्यादा को तोड़ना है। लेकिन, भय के मारे लड़ना तो नहीं, परन्तु दबकर बैठ जाना और मन में दुर्भावनाएँ रखना, यह भी मर्यादा का उल्लंघन है। आदर्श मर्यादित नहीं है, पर कर्तव्यनिष्ठा जितनी एक में है, वहीं तक उसके अधिकारों की मर्यादा है।

प्रश्न—कर्तव्य मर्यादित नहीं है, पर कर्तव्यनिष्ठा जितनी एक में है, वहीं तक उसके अधिकारों की मर्यादा है, क्या इस बात को कुछ स्पष्ट कर कह सकेंगे?

उत्तर—हाँ हाँ। मुझे अधिकार है कि मैं हरएक के दुःख को बँटाने की इच्छा करूँ। दूसरे के दुःख में साझी होना मेरा कर्तव्य है।

अब, दूसरों के दुःखों में सचमुच जितना मैं साझी हो जाता हूँ, उनके प्रति क्या उतना ही मेरा अधिकार नहीं हो जाता?

उदाहरण लीजिए। अनजाने किसी के मकान में घुसना मेरे लिए निषिद्ध ही है। लेकिन, मानिए कि रात-भर मैं पड़ोस में बच्चे का कराहना सुनता रहा हूँ। सवेरे मैं बेधड़क उस घर में पहुँचता हूँ। बच्चे की तबियत पूछता

हूँ, दवाई आदि की व्यवस्था करता हूँ। अब यह साफ है कि अगर मैं सच्ची सहानुभूति से प्रेरित हूँ तो अपरिचित मकान में घुसने का अधिकार भी मेरा माना जा सकता है। चाहे बच्चे का पिता अनुपस्थित हो, और माता वहाँ अकेली ही हो, और चाहे सामान्य प्रचलित सामाजिकता इसमें दोष देखने को भी उतारू हो जाय, फिर भी पराये घर में मेरा वह प्रवेश अनधिकृत नहीं कहा जा सकेगा।

ऊपर के उदाहरण से प्रकट है कि कर्तव्य की निष्ठा अपरिचित गृह प्रवेश के बारे में मेरे अधिकार की मर्यादा को बढ़ा देती है। वह निष्ठा जितनी हो, अधिकार भी उतना ही हो जायगा।

इसके बाद यह प्रश्न कि कर्तव्य किस भाँति अमर्यादित है, उलझन नहीं उपस्थित कर सकता। मैं जब तक समस्त से ऐक्य न पालूँ, तब तक चैन भी कहाँ पा सकता हूँ? जिसने वैसा ऐक्य पाया, उसमें कौन अधिकार समाने से बच गया। प्रेम का अधिकार मर्यादित नहीं किया जा सकता, प्रेम कर्तव्य है। जहाँ फल की चाहना है, उस प्रेम में अप्रेम भी है। इसलिए मर्यादा है भी तो उसी प्रकार के वासनामय प्रेम के लिए वह है। जो प्रेम की पीड़ा में से निकलता है वह कर्म अनधिकृत कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न—अधिकार-भावना क्या स्वाभाविक है?

उत्तर—हाँ, स्वाभाविक मान लेनी होगी। लेकिन, हितकर वहीं तक है जहाँ तक कर्तव्य पूर्ति में वह काम आती है। अन्यथा अधिकार अपने-आप में तो कोई वस्तु ही नहीं।

प्रश्न—कर्तव्य-पूर्ति में अधिकार-भावना क्योंकर काम आती है?

उत्तर—मैं अपने पुत्र का पिता हूँ। उसकी देख-माल का, पालन-पोषण का, शिक्षा-दीक्षा का पहला कर्तव्य मुझ पर आता है। इससे यह मेरे अधिकार के अन्तर्गत है कि मैं इस बारे में निर्णय करूँ। जब तक पुत्र स्वयं निर्णय करने योग्य न हो, तब तक उसके लिए निर्णय करके देने का अधिकार मेरा हो जाता है कि नहीं? मैं उसे कई बातों का वर्जन कर सकता

हूँ, किन्हीं और बातों का आदेश दे सकता हूँ। यह मेरे कर्तव्य-गत अधिकार का एक उदाहरण हुआ। ऐसे ही अन्य समझे जा सकते हैं।

प्रश्न—कर्तव्य को छोड़कर, संसार की सम्पत्ति-जैसी वस्तुओं के प्रति जो अधिकार-भावना है, क्या वह भी किसी हद तक वांछनीय है?

उत्तर—कर्तव्य-भावना से अलग होकर कोई अधिकार का मद वांछनीय नहीं है। लेकिन, कर्तव्यपूर्वक हम धन-सम्पत्ति भी क्यों अपने पास नहीं रहने दे सकते? मुझे कोई सभा खजानची चुने और अपना कोष मुझे सौंप दे, तो क्या मैं उसके कोष को सम्भालकर रखने से डर जाऊँ? सभा के खजानची की हैसियत से उस कोष पर अपना एक प्रकार का अधिकार भी मानकर मुझे चलना होगा, ऐसा न करने से मैं खजानची के दायित्व से च्युत हो जाऊँगा। हाँ, जिसमें मेरा कुछ भी नहीं है, यह तो सिद्ध ही है। यहाँ तक कि यह शरीर भी शुद्ध 'मैं' नहीं हूँ। आत्मा भी क्या कोई मेरी अपनी है? क्योंकि जीवात्मा परमात्मा का अंश ही है। लेकिन, वह तो भावना की और तत्त्व की बात हो गई। प्रयोजनीय भाषा की तो यही पद्धति होगी कि जो धन मेरी देखरेख में है, वह मेरा समझा जाय। इसीलिए 'प्राइवेट प्रापर्टी' का समूलोन्मूलन नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रापर्टी (=सम्पत्ति) स्वयं नष्ट नहीं हो सकती। जो हो सकेगा वह इतना ही कि व्यक्ति उसे अपना मानकर भी एक धरोहर माने। इससे अधिक और चाहिए भी क्या? त्याग और निर्मोह कोई स्थूल कर्म नहीं हैं। वह तो वृत्ति में होने योग्य हैं। नहीं तो, पदार्थों के प्रति अस्पृश्यता का भाव बना लेने से व्यक्ति अक्षम ही बनता है।

प्रश्न—जब मैं जानता हूँ कि इस पृथ्वी के तल पर मेरा भी कोई स्थान है तो मैं किसी भी वस्तु को क्यों नहीं कह सकता कि वह मेरी ही है और उसे मन चाहे जिस प्रकार खर्च करूँ?

उत्तर—अगर आप कह सकते हैं, तो दूसरा भी क्यों नहीं कह सकता? और अगर पदार्थों के बारे में यह कहा जा सकता है तो व्यक्तियों

को लेकर क्यों नहीं कहा जा सकता ? यानी, क्या कारण है कि कोई आपको अपना गुलाम न बना ले ? उस गुलाम के स्थान से आपको क्या वह तर्क ठीक लगेगा जिससे आप गुलाम बना लिए गए ? अगर तब वह ठीक नहीं है, तो और भी किसी अवस्था में वह ठीक नहीं है। अमुक (वस्तु) 'मेरी' ही हो, इसमें जरूरी तौर पर यह अर्थ है कि दूसरे की नजर भी उसे छूने न पाए। यह दुर्भावना ही तो कहलाई। वैसी दुर्भावना मनुष्य के अन्दर गहरी पैठी हुई है, यह मानकर भी उसे बढ़ावा तो हम नहीं दे सकते।

प्रश्न—तो क्या आप विश्वास करते हैं कि मनुष्य स्वयं में सत्ता होते हुए भी समझे कि वह कुछ नहीं है और उसका कुछ नहीं है। यहाँ तक कि उस देह के लिए थोड़े से आकाश का भी वह स्वत्वाधिकारी नहीं है ? और ऐसा करने के लिए, भावना के अतिरिक्त, क्या समझ भी उसकी काम दे सकती है ?

उत्तर—अभ्यास-क्रम से, हाँ, समझ भी इसमें श्रद्धा की सहायता देने लगेगी। लेकिन, इस यत्न में सिद्धि पाने का काम एक जन्म का तो है नहीं। इसमें जन्म-जन्मान्तर भी थोड़े हैं।

प्रश्न—लेकिन, ऐसी श्रद्धा के अथवा समझ ही के लिए क्या कारण हो सकता है, यह भी तो समझाइए ?

उत्तर—बिना उसके जिसका काम चल सके वह भाग्यवान् जीव है, इससे अधिक भला मैं क्या कहूँ ? ऐसे सौभाग्यशाली जीव को बेशक जरूरत नहीं है कि वह किसी तरह की श्रद्धा को पास फटकने दे। लेकिन ऐसा वह आदमी है कौन, जिसे न श्रद्धा की जरूरत है, न समझ की जरूरत है ? अगर एक जर्रा भी उसमें समझ है, तो वही काफ़ी है कि उसे बेचैन बना दे और बेचैनी को बिना श्रद्धा के सहारे आदमी और कैसे सहन कर सकता है, मैं नहीं जानता।

प्रश्न—स्वाभाविक और सामान्य तौर पर देखा जाता है कि मनुष्य यही समझते हैं कि वे हैं और उनकी कुछ वस्तुएँ भी हैं। उनका काम आपकी उस श्रद्धा और समझ के बिना तनिक भी

अटकता नहीं दीखता।

उत्तर—मेरी श्रद्धा और मेरी समझ से तो बेशक उनका रत्ती-भर काम नहीं सरेगा, क्योंकि वह उनकी तो है नहीं। लेकिन, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उनके पास अपनी भी समझ और अपनी श्रद्धा नहीं है। अपनी समझ के मुताबिक ही कोई कुछ मानता है तो वह मान सकता है। उसका अस्तित्व ही उन्हीं मान्यताओं पर सम्भव बनता है। लेकिन, यह तो हम देखते हैं कि किसी को दुख कम व्यापता है, किसी को ज्यादह व्यापता है। मुझको यदि दुःख ज्यादा व्यापता है तो मैं अपने को काफ़ी समझदार समझने का हक नहीं रखता। चीजों को बहुत अपनी मानने लगने से वे दुख का कारण होती है। इसीलिए, इस प्रतीति की जरूरत कही गई है कि वस्तुएँ किसी की अपनी नहीं हो सकतीं, कि वे किसी की अपनी नहीं हैं।

प्रश्न—क्या इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि जो चीज़ें आज हमारे पास हैं, कल अगर वे नहीं होंगी तो हमें दुःख उठाना पड़ेगा। और इसलिए केवल उस दुख से बचने के लिए हम समझें कि वे हमारे पास होकर भी हमारी नहीं हैं। किन्तु, क्या इस तरह से हम उस सुख से भी वंचित नहीं हो जाते हैं जो हमें उन्हें अपने पास समझने में होता है? और इसलिए हम क्यों न उन्हें, जब तक भी वे हमारे पास हैं, अपना समझें और साथ ही उनसे वंचित होने के लिए तैयार रहें?

उत्तर—जो अपना समझकर सहर्ष चीज़ों से वंचित होने को तैयार रहता है, वह तो मेरी ही परिभाषा का प्राणी हो गया। यानी, वह उपयोग के नाते वस्तु को अपनी समझ लेता है, फिर भी, न उसे अपने से चिपटाता है, न स्वयं चिपटता है। हमें जब प्यास लगे पानी पी लें। लेकिन, यह तो समझदारी नहीं है कि इसके लिए एक झील पर नाकेबन्दी बैठा दें और किसी दूसरे को पानी लेने उसके पास भी न फटकने दें और कहें कि वाह, हमको पानी की जरूरत है, इसलिए हम किसी को इसमें से पानी नहीं लेने देंगे। हविस और भी बढ़ जाय, तो यहाँ तक सम्भव हो सकता है कि उस

झील का पानी वह कृपण आदमी न स्वयं वरते, न किसी को लेने दे; और उस झील की चौकसी में ही दुबला होता चला जाय। इससे यह भी दीख सकता है कि चीजों से मिल सकने वाले आनन्द को, उन्हें अत्यधिक अपना मान लेने से, हम स्वयं ही कम कर लेते हैं। अतः, सच्चा भोगी भी वह नहीं है जो भोग में तृष्णा रखता है। क्योंकि उसे तो तृष्णा की चाट ही मार डालती है, भोग का आनन्द मिल भी नहीं पाता। इसी से तो उपनिषद्-कार ने कहा, 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'। यानी, त्याग-भाव द्वारा भोग्य को भोगो।

प्रश्न—ऊपर आपने नाकेबन्दी की बात कही और बतलाया कि उसमें मोह है। लेकिन, उस नाकेबन्दी का कारण मोह न होकर क्या लोगों की चिन्ता ही नहीं है जो उन्हें भविष्य की अनिश्चयात्मकता को सोचकर अपनी और अपनी भावी सन्तान की सुरक्षा के लिए करनी पड़ती है।

उत्तर—अरे तो भाई, मोह और किस बला का नाम है ? जैसे भविष्य हमसे ही बनेगा ! अपने अतीत की तरफ देखकर क्या सचमुच कोई छाती ठोककर कह सकता है कि अपने वर्तमान का कर्ता सम्पूर्णता से वही है ? और छाती ठोककर जो यह कहेगा भी उसका वर्तमान शायद किसी की भी ईर्ष्या का कारण न हो सकेगा, क्योंकि वह चहुँ ओर मूर्ख समझा जायगा। आदमी है, तब उसकी परिस्थितियाँ भी तो हैं। आदमी को बनाने और बनाते रहने में क्या चहुँ ओर की परिस्थितियों का कुछ भी महत्व नहीं है ? मनसूबे किसके मन में नहीं होते, लेकिन आ जाता है भूचाल और हजारों वहीं-के-वहीं सो रहते हैं। फिर भी जो मंसूबे बाँधता है, और अपने भीतर के संशय से अपनी रक्षा करने के लिए बाहर जाल फैला घेरा-सा डालकर बैठता है, उसकी अक्ल के लिए मुझ से बधाई मत माँगिए। अपने भीतर के संशय का गड्ढा किसी बाहरी नाकेबन्दी से भरने वाला नहीं है। अपनी हवेली के बाहर लठैत चौकीदार रख देने से क्या भय से हम मुक्त हो जाते हैं ? इससे फिर कहता हूँ, कि सच्ची बात तो श्रद्धा है।

प्रश्न—किसी वस्तु के प्रति मोह या ममता तो मेरी समझ में उस चीज के प्रति लगाव बनाये रखने की चाह ही है, वह उसकी आवश्यकता को मानकर उसे रखने में नहीं है। दूसरे, आपने भविष्य और उसके चान्स जैसी चीज की बात जो कही, उसे मानकर भी मनुष्य हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ नहीं सकता। उससे तो जो कुछ बनेगा करेगा ही। वह कर्म क्या फल लाता है, यह दूसरी बात है। किन्तु, उसके करने से आप कैसे इन्कार कर सकते हैं? और क्या आप ही अपने घर आज खाकर, कल और परसों का भी प्रबन्ध नहीं रखते हैं?

उत्तर—यह बात ठीक है। मैं आज खाता हूँ, कल का भी प्रबन्ध रखता हूँ। लेकिन, इसके लिए मैं अपनी तारीफ नहीं कर सकता। कल का, परसों का, बालकों का, नाती-पोतों का, युग-युगान्तर का ध्यान रखकर उसकी व्यवस्था की मैं सोचूँ, तो वह दूर-दृष्टि नहीं कहलाएगी, वह मोह-दृष्टि कहलाएगी। मोह-दृष्टि इसलिए, कि इस सब शृंखला में मैं अपना-ही-अपना विचार करता हूँ, अपने से पर के प्रति उसमें जरूरी तौर पर अविचार आ मिलता है। अपने भविष्य की चिन्ता रखकर क्या मैं दूसरों के वर्तमान को उजाड़ने नहीं चल पड़ता? तब यह मोह नहीं, तो क्या है?

भविष्य की आकस्मिकता की बात को इसलिए नहीं कहा कि निष्क्रियता फैले। यह तो ठीक मेरे अभिप्राय के विरुद्ध है। मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि व्यक्ति अपने को भाग्य के साथ इतना मिला दे कि वह अपने ही नहीं, समूचे भविष्य का कर्त्ता तक हो जाय, Man of Destiny यानी वह मनुष्य हो जाय जो स्वयं भाग्य है। क्या ऐसा आदमी कर्महीन हो सकता है? लेकिन, ऐसे आदमी को एक बहुत हद तक निष्काम तो होना ही पड़ेगा। यानी, उसे अपनी इच्छाओं को इस भाँति साधना होगा कि जो होनहार है, उसके साथ इच्छाएँ एकम-एक हो रहें।

यह कहाँ की बात है कि भविष्य की सत्ता को अपने हाथ में न मानने से व्यक्ति को कर्महीन मानना पड़ेगा। जो भाग्यहीन हैं, वे ही कर्महीन

होते हैं। जिन्होंने अपनी सत्ता की पृथकता को ही खो दिया है, उन-सा कर्मशाली जगत् में दूसरा कोई हो भी सकता है ?

प्रश्न—आपके विचार से कर्तव्य ही का अधिकार मनुष्य को रखना चाहिए और उसी की इसलिए रक्षा भी करनी चाहिये। शेष उसे कुछ न रखना चाहिए। लेकिन, क्या जीवन कर्तव्य करते रहना ही है, संसार की विभूतियों के उपभोग के लिए बिलकुल भी नहीं ?

उत्तर—हाँ, एक तरह से भोग के लिए संसार नहीं है। पर, कर्तव्य स्वयं ही क्या उपभोग्य नहीं है ? कर्तव्य-कर्म करने के बाद जो आनन्द व्यक्ति को प्राप्त होता है, वैषयिक तृप्ति उसकी समता कर सकती है ? इस-लिए, यह कहा जा सकता है कि भोग भी कर्तव्य में ही समाया हुआ है। नहीं तो, विवेकहीन होकर भोग तो दुख ही पैदा करता है।

७—कर्तव्य-भावना और मनोवासना

प्रश्न—लेकिन, कर्तव्य यदि मनुष्य के स्वभाव की चीज बन जाय, उसमें उसकी दिलचस्पी का सवाल ही न रहे, तब मनुष्य अपना आनन्द कहाँ ढूँढेगा ?

उत्तर—वाह, तब क्या आनन्द ढूँढने जितना भी दूर रह जायगा ? जिस व्यक्ति के लिए कर्तव्य-कर्म ही सहज कर्म हो गया है, उसे तो स्वयं आनन्द बन गया ही समझिए। वह तब आनन्द की जरूरत में नहीं रहेगा, वल्कि आनन्द देने की जरूरत उसमें हो आएगी। यानी, तब लोग उसमें और उससे आनन्द पाएँगे।

प्रश्न—मेरे प्रश्न का अभिप्राय यह था कि जो बात हमारे स्वभाव में आ जाती है, वह हमारे प्रयत्न का लक्ष्य या विषय नहीं रह जाती। यानी, तब प्रयत्न (Pursuing) और उसका लक्ष्य (Object) दोनों खत्म हो जाते हैं। किन्तु, क्या प्रयत्न के बिना, Effort के बिना, जीवन और जीवन का आनन्द सम्भव है ?

उत्तर—हमारा ध्येय (Objective in pursuit) क्या है ? क्या उसे हम आत्म-लाभ से भिन्न कह सकते है ? मैं समझता हूँ, उसे आत्म-लाभ ही कह सकते हैं—वह आत्म-लाभ जो कि परमात्म-लाभ भी है। यानी, अपने सच्चे स्वरूप को पाने के लिए हम जी रहे हैं। मरेंगे, लेकिन उसी हेतु से फिर जियेंगे। जब तक अपना शुद्ध स्वत्व न पा लें, तब तक मौत को भी छुट्टी हम नहीं दे सकेंगे।

शुद्ध स्वत्व चिन्मय है, आनन्दमय भी है। जब हमने अपने ही स्व-भाव को पा लिया और कोई विकार शेष नहीं रह गया, तब आनन्द भी हमसे इतना दूर नहीं रह सकता कि उसे खोजकर पाना हो।

कर्तव्य जहाँ सहज हो गया है, वहाँ वह हेतु ही अनुपस्थित है जो आनन्द में बाधा-स्वरूप होता है। बाधा हटी, कि फिर आनन्द के अभाव का प्रश्न ही मिट गया।

लेकिन, यह स्थिति आपने क्या इतनी सुगम समझ ली है कि जल्दी ही प्राप्त हो जायगी? यह तो पूर्ण सिद्धि की स्थिति है। जहाँ कर्म में काम्य और अकाम्य, कर्तव्य और अकर्तव्य, इस विभेद की आवश्यकता ही नहीं रह गई है, उस स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहना चाहिए। वहाँ फिर ध्याता, ध्यान और ध्येय एक ही हो जाते है। Pursuit शब्द का व्यवहार कर सकें इतना अन्तर भी तब ध्याता और ध्येय में नहीं रहता;—यानी खण्ड पूर्णता को प्राप्त होता है।

प्रश्न—तो आपके विचार से शुद्ध आनन्द किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता, सहज होता है। किन्तु हमारी आँख, नाक, कान, त्वचा, जिह्वा आदि को जो विभिन्न विषयों से आनन्द प्राप्त होता है, क्या यह सब झूठा है?

उत्तर—हाँ, झूठा है। इन्द्रिय-विषय तो झूठा ही है, किन्तु उसके भीतर जो अनिवार्य-रूप में एक अतीन्द्रियता भी रहती है, वह ही उसको सत्य बनाती है। हरेक भोग में उत्सर्ग अनिवार्य है। भोग का सत्य वह उत्सर्ग ही है, उत्सर्ग अतीन्द्रिय है। इसका मतलब यह नहीं कि साधक से सिद्ध की स्थिति तक पहुँचते हुए प्राणी की इन्द्रियाँ जड़ होती जावेंगी, पर वे अपने विषयों में लोभ नहीं रखेंगी। आँख में जब मद चढ़ जाता है, तो क्या आँख की अनुभूति-शक्ति उस समय तीव्र हो जाती है? नहीं, वह मंद ही होती है। इसी भाँति इन्द्रियाँ अनासक्त स्थिति में अधिक जाग्रत, अधिक प्रवृत्त और अधिक आनन्दग्राही होंगी। केवल अन्तर यह रहेगा कि आनन्द किसी अथवा किन्हीं इन्द्रियों का विषय न होकर मानो आत्म-भोग्य होगा।

इन्द्रिय-विषयों के लिए तो बाह्य वस्तु की अपेक्षा होती ही है, किन्तु इन्द्रियातीत आनन्द के लिए, कहा जा सकता है कि, वैसी अपेक्षा नहीं होगी। यह साधारण भाषा में कहा जा सकता है, किन्तु वैज्ञानिक सत्यता

इस कथन से स्पष्ट नहीं होती। वह वैज्ञानिक सत्यता तो यह है कि ऐसे आनन्द के समय खण्ड को समूचे बाह्य का ही युगपत् स्पर्श मिल रहा होता है।

सच्ची भक्ति का आनन्द कोई hallucination जैसा आत्म-विकार नहीं है। वह तो खण्ड में समस्त की स्पर्शानुभूति से पैदा हुआ पुलक है। वह मानव-चेतनागम्य सबसे गम्भीर अनुभूति है!

इस स्थल पर वही अपने स्वयंसिद्ध प्रतिपाद्य को (hypothesis को) हम दुहरा लें। वह यही तो था और है कि मैं अलग नहीं हूँ, कोई भी अलग नहीं है, सचाई में सब एक हैं। इसलिए किसी से अनपेक्षित होकर आनन्द की पूर्णता भी नहीं हो सकती है। वह पूर्णता तो समस्त के साथ ऐक्योपलब्धि में ही है।

लेकिन बस, इससे आगे बढ़ना अथाह में डूबना है। इससे यह चर्चा यहीं रोकें।

प्रश्न—(१) क्या आनन्द एक प्रकार की अनुभूति ही नहीं है?

(२) क्या अनुभूति के बिना भी आनन्द-जैसा भाव सम्भव है?

(३) क्या बाह्य वस्तु के स्पर्श के बिना कोई अनुभूति हो सकती है?

(४) क्या उस दशा में वह जड़ता ही नहीं कही जा सकती?

(५) हम भर-नींद सोते हैं, अथवा जगते हैं, जागने में रोते हैं या प्रसन्न होते हैं,—इन अवस्थाओं में से आप किसे पसन्द करेंगे?

(६) आप बूढ़ा होना पसन्द करेंगे, कि जवान?—बूढ़ा, तो फिर मौत ही क्यों न? और जवान, तो वह किस लिये?

उत्तर—यह प्रश्नों की बौछार हो गई। खैर, एक-एक को लें।

(१) आनन्द अनुभूति है।

(२) जवाब ऊपर आ गया।

(३) बाह्य वस्तु के स्पर्श का अत्यन्ताभाव किसी समय भी सम्भव है, यह मानना ही गलत है। इसलिए यहाँ 'बाह्य स्पर्श' से मतलब स्थूल स्पर्श से हो सकता है। हाँ, वैसे बाह्य स्थूल स्पर्श के बिना अनुभूति हो सकती है, और प्रतिक्षण होती है। गुण का स्पर्श नहीं होता, पर अनुभूति गुण की होती है,—ऐसा क्यों? हमारी सब धारणाएँ (concepts) अनुमान (Inference) हैं। अपने-आप में इनकी सत्ता नहीं साबित की जा सकती। इसलिए जिसको हमने 'बाह्य' कहा और जिसको हम 'अन्तस्' कहें, वे दोनों इतने एक हैं कि उनमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया कभी भी शान्त नहीं होती।

(४) अनुभूतिहीनता जड़ता है। पर यह उस अवस्था पर लागू नहीं हो सकती।

(५) मैं किसी एक अवस्था को क्यों पसन्द करूँगा? फिर समय का सूक्ष्मतम विभाग मानिए कि हमारे पास सेकिंड है, लेकिन उस सैकिंड में ही एक पदार्थ की जाने कितनी स्थितियाँ नहीं बदल जातीं। किसी एक स्थिति को किसी समयखण्ड में बह देना असम्भव-प्राय है। इससे एक सूत्रकार ने कहा है—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'—अर्थात् होना होते रहना है, Being is Becoming। प्रत्येक स्थिति में बनना और बिगड़ना शामिल है। इसलिए परिणमन के (Becoming के) किसी एक रूप को लेकर उसे दूसरे पर तरजीह देना, किसी प्रयोजन से हो तो हो,—अपने-आपमें सही नहीं है। मुझे अगर जागरण पसन्द है, तो कुछ काल बाद बिना नींद लिए वह जागरण असम्भव हो जायगा। इस भांति, जागरण की पसन्दगी के रास्ते में ही नींद को पसन्द करना मुझे सीख लेना होगा। नहीं तो, रात को यदि मैं सो न लूँ, तो, कितने दिन मैं जागता रह सकता हूँ? इसलिए यदि बहुत दिन जागते रहना चाहता हूँ, तो उचित है कि बीच-बीच में सो भी जरूर लिया करूँ। इस दृष्टि से किसी दूसरी की अपेक्षा अमुक एक स्थिति को पसन्द करने का प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण रहता ही नहीं।

(६) बुढ़ापे में वैसे और जवानी के दिनों में जवान की तरह रह सकूँ, यह मैं पसन्द करूँगा।

प्रश्न—आपने जो कुछ ऊपर कहा, ठीक है। किन्तु, मेरे प्रश्न का अभिप्राय तो आत्मा की स्वयंसिद्धि आनन्दावस्था के बारे में समाधान पाने का था। मैं जानना चाहता हूँ कि (स्थूल अथवा सूक्ष्म) बाह्य स्पर्श के बिना वहाँ आनन्द किस प्रकार होगा? क्या वह नींद की-सी जड़-जैसी अवस्था ही न होगी, अगर हो सकती है तो? और क्या हम उसे अपना ध्येय बनायेंगे? और क्या जागरण की जैसी अवस्था, जिसमें बाह्य स्पर्श और अनुभूति है, हेय है?

उत्तर—ना, ना। उस बारे में समाधान न पाइए। वह यों न पाया जायगा। जो बोलता है, उसने समाधान नहीं पाया। जहाँ समाधान है, वहाँ भाषा मूक है। मैं बोल रहा हूँ, इसी से साबित है कि मैं उस समाधान की स्थिति को नहीं जानता। नहीं जानता, तब लाख बातें करूँ, उन बातों सेउस स्थिति का तनिक भी आभास अपने को या किसी को मैं नहीं दे सकता। जो अनिर्वचनीय है उसे वचन में लाना धृष्टता है। मुझे वैसा धृष्ट मत बनाओ। वहाँ जाग नींद है, नींद जाग है। असल में सब शब्द अनन्त की गोद में अपना आकार खो रहते हैं।

और, उस स्थिति से पहले 'स्व' और 'पर,' ये दो भेद हैं ही। इससे एकत्व-स्थिति से पूर्व, 'स्व' के लिए 'पर' की अपेक्षा में ही अपने को जानना और जगाना सम्भव है। जगत् का कोई व्यापार स्व-पर-स्पर्श बिना सम्भव नहीं होता।

प्रश्न—खैर, मैं असल प्रश्न से दूर हट गया। जानना तो मैं यह चाहता था कि यदि मनुष्य आनन्द ही के लिए जीता है तो उस अपने आनन्द के लिए जो कुछ भी वह करे और उसमें उसे आनन्द भी मिलता हो, तो क्या उसके वैसा करने में अकर्त्तव्य की सम्भावना है? है तो क्यों? और उस कर्त्तव्य से उसे लाभ ही

क्या जिससे उसे आनन्द न मिले ?

उत्तर—कर्त्तव्य करने में एक अपना आनन्द है ही। जिसको हम आनन्द मान बैठते हैं, यानी ऐन्द्रियिक विषय, और वह आनन्द जो अतीन्द्रिय है, इन दोनों में विरोध अक्सर होता है। जहाँ यह विरोध नहीं है, वहाँ आप वाला प्रश्न उठता ही नहीं। जहाँ ऐसा विरोध है वहाँ कर्त्तव्य को ही चुनना चाहिए, चाहे फिर उसमें ऊपर से निरानन्द ही दीखता हो।

प्रश्न—मनुष्य समाज का अंग है और समाज के प्रति उसके कर्त्तव्य हैं, मर्यादाएँ भी हैं। लेकिन, यदि समाज किसी समय उसके मार्ग में इस प्रकार रुकावट बनती हो कि जिससे उसका जीवन शुष्क हो जाने की सम्भावना हो, तो क्या उस समय उस समाज के प्रति उसका विद्रोह अनुचित होगा ?

उत्तर—आपके प्रश्न में 'शुष्क' शब्द अनिश्चित मान का द्योतक है। अगर उसका मतलब है कि स्वधर्म-पालन में कोई बाह्य सामाजिक परिस्थिति बाधक होती है, तो अवश्य उसको चुनौती देनी चाहिए। अपने सच्चे 'स्व' के इन्कार पर तो समाज मजबूत नहीं बनेगा। समाज पनपेगा तो अपने 'स्व' के हार्दिक समर्पण से पनपेगा। जैसे विनय हार्दिक ही हो सकती है, निरे नियमाचार की विनय नुकसान पहुँचाती है, वैसे ही समाज-विधान के प्रति व्यक्ति में यदि हार्दिक सम्मान है, तब तो ठीक है। नहीं तो, सिर्फ जाहिरदारी बरतना काफी नहीं है।

प्रश्न—क्या कर्त्तव्य मानकर प्रेम किया जा सकता है ? जैसे मैं अमुक को प्रेम करूँ, तो क्या इस तरह विचारपूर्वक प्रेम संभव हो सकता है ?

उत्तर—इसमें कठिनाई होती है अवश्य, और सदा ही इन दोनों का विरोध भी देखने में आता है। फिर भी, इन दोनों को साथ मिलाए बिना कोई भी स्थिति असम्भव-सी हो जाती है। यों कहिए कि निःसंग प्रेम ही निभ सकता है। संग की आसक्ति जिस प्रेम में है उसके निभने के लिए समाज में अवकाश कैसे हो सकता है ? मोहयुक्त प्रेम के कारण उलझनें

उपस्थित होती हैं।

प्रश्न—प्रेम के लिए क्या कोई आकर्षण आवश्यक नहीं है ?

उत्तर—प्रेम की प्रकृति ही आकर्षण है।

प्रश्न—कहते सुना है दुखियों से प्रेम करना सीखो, गरीबों से प्रेम करना सीखो।—वहाँ क्या आकर्षण हो सकता है ? अथवा कि वहाँ प्रेम की बात ही करना अनर्गल है।

उत्तर—आकर्षण हो सकता तो है। अगर उनके दुख में हम अपना अन्याय देखें, तो उसके प्रति सचमुच बहुत बड़ा आकर्षण होने का कारण हो जाता है। हमारा अपना रोग हमको किस कदर अपना मालूम होता है !—सब पीछे, अपना रोग पहले। एक रोग सब ओर से हटाकर हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है कि नहीं ? इसी तरह, लोगों की गरीबी क्या समाज के लिए रोग नहीं है ? इतनी चैतन्य-बुद्धि हममें अगर जाग जाय, तो मैं मानता हूँ कि समाज के दीन-दलितों में हमें आकर्षण भी हो आए। और वह आकर्षण छोटे-मोटे आकर्षणों को नीचे ही छोड़ दे।

प्रश्न—किन्तु, आकर्षण में तो मोहने की शक्ति होती है, न कि दुखी करने की। फिर ऊपर आप यहाँ कैसा आकर्षण बतलाते हैं ?

उत्तर—क्यों, उस मोह में दुःख की सम्भावना क्या बिलकुल नहीं है ? उस वक्त वह भी सुख-सा मालूम होता है अवश्य, किन्तु, आकर्षण का हेतु तो दुख यानी अपूर्णता ही है। वह दुःख ही आकर्षण द्वारा अपने लिए मानो चैन का मार्ग खोज निकालता है। आकर्षण खुद में सुखकर मालूम होता है, पर उत्पन्न वह सुख में से नहीं हो सकता।

—:o:—
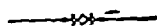
८—आकर्षण और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध

प्रश्न—स्त्री और पुरुष का प्रेम क्या पुरुष-पुरुष अथवा स्त्री-स्त्री के प्रेम से भिन्न है ?

उत्तर—हाँ भिन्न है।

प्रश्न—किस तरह ?

उत्तर—वह शायद कुछ अधिक दुर्निवार्य है और अधिक संगत भी है।

प्रश्न—स्त्री और पुरुष का संयोग—सहयोग भी क्या समाज के प्रति एक कर्त्तव्य है ?

उत्तर—समाज में स्त्री हैं, पुरुष हैं। इसलिए, समाज में उन दोनों का सहयोग न हो, तो समाज कैसे होगा ! हाँ, समाज-भावना के विकास में सहायक होकर वह सहयोग कर्त्तव्य-रूप भी हो जाता है। उक्त सहयोग को नीति द्वारा नियमित-संयत करना पड़ता है जिससे वह संयुक्त सामाजिकता की बढ़ती हुई भावना को मदद दे, उसमें बाधक न हो। दांपत्य और परिवार आदि संस्थाएँ इसी राह में बनी और बनी हुई हैं।

प्रश्न—विवाह का कारण आप के विचार से स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण है, अथवा उन दोनों का समाज के प्रति कर्त्तव्य ?

उत्तर—विवाह की संस्था सामाजिक हेतु से जन्मी है। मैथुन तो पहिले से था। पशुओं में भी है। किन्तु, उसको अनर्गल रहने देने से काम नहीं चलता दीखा। उसे नीति-नियमों में बाँधने की आवश्यकता प्रतीत हो आई। उसको संयम की आवश्यकता ही कहिए। मेरा खयाल है कि नाना कालों और देशों में मानव-जाति ने इस संभोग को नियमित करने की आवश्यकता को लेकर तरह-तरह के प्रयोग और परीक्षण किये होंगे। विवाह वैसा ही

एक प्रयोग है। वह संभोग के लिए नहीं है, संभोग को संयत करने के लिए है। इसलिए मैं मानता हूँ कि उसका आधार भोग नहीं है, विसर्जन है। 'प्रेम' के नाम पर साधारणतया जिस विलास का आशय लिया जाता है, वह विवाह की सार्थकता नहीं है। एक सामाजिक कर्त्तव्य की पूर्ति के अर्थ विवाह का विधान है। 'विधान' का आशय यह कि सच्चे विवाह का वही स्वरूप है, और हर एक विवाह को अधिकाधिक तदनुरूप होना चाहिए। जो ऐसा नहीं है, वह उतना ही कम 'विवाह' है।

प्रश्न—इतिहास से ज्ञात होता है, हर एक पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार सुन्दर-से-सुन्दर स्त्री पर, और वह भी अधिक-से-अधिक संख्या में, अधिकार पाने की चेष्टा करता आया है। तो यह विवाह पुरुष की अधिकार-भावना का विकास-स्वरूप ही क्यों न माना जाय ?

उत्तर—विकास-स्वरूप ऐसे विवाहों को इसलिए नहीं मान सकते कि वे विकास में सहायता नहीं देते। इसमें क्या उस पुरुष का कोई विकास हुआ कहा जा सकता है जिसने ऐसे अनेकानेक भोग-विवाह किए हैं ? या कि उन स्त्रियों का ही किंचित् विकास हुआ माना जा सकता है जिनसे विवाह के नाम पर ये सम्बन्ध स्थापित किए गये और विवाह (?) के कुछ ही बाद जिन्हें जनानखाने में घुटते रहने के लिए पटक दिया गया। इससे समाज का क्या कोई सुख बढ़ा ? किसी व्यक्ति ही का कोई सुख बढ़ा ? फिर यह 'विकास' कैसा !

प्रश्न—मैं यह नहीं कहता कि उस विवाह से समाज का वास्तविक विकास हुआ कि नहीं। बल्कि कहने का अभिप्राय यह था कि मनुष्य की स्त्री पर अधिकार की वृत्ति ही का समाज के साथ समन्वय विवाह-रूप में हुआ है। क्या इसमें आपको कुछ आपत्ति है ?

उत्तर—समन्वय इस रूप में हुआ है, यह तो मैं मान लूँगा। पर इसीमें यह आ जाता है कि अमर्यादित अधिकार जब संभव नहीं दीखा, तब मर्यादा के रूप में यह संस्था पैदा की गई। इसका आशय यही होता है कि

अधिकार की भावना उसके मूल में नहीं है, बल्कि उस अधिकार को संयत करने की आवश्यकता उस संस्था के जन्म का कारण है। विवाह किसी जाति में भी देखिए, वैवाहिक विधि को निष्पन्न करने वाली जो रीतियाँ और जो मन्त्र हैं, उनमें मनुष्य की हीन-वृत्ति नहीं, बल्कि उत्कर्ष वृत्ति ही व्यक्त हुई है। सब विवाह-विधियों में समर्पण की भावना है, वफ़ादारी की प्रतिज्ञा है। यह ठीक है कि प्रबल ने अबल को अपना गुलाम समझने के लिए विवाह-संस्था को एक सहारा ही चाहे बना लिया, किन्तु, ऐसे विवाहित आचरण को कभी भी सफल नहीं समझा गया। इसीसे प्रगट है कि विवाह व्यक्तिगत तृप्ति का प्रश्न ही नहीं है, वह तो समाज-गत धर्म का प्रश्न है।

प्रश्न—कदाचित् आप स्वीकार करते हैं कि विवाह पुरुष के स्त्री-गत अधिकार का संयत-रूप है। किन्तु, वह अधिकार समाज के प्रति भले ही संयत हो गया, किन्तु स्त्री पर तो अधिकार ही रहा। और फिर उसी को यदि मन्त्रों आदि से पवित्र (idealise) भी कर दिया गया सही, किन्तु क्या मूल-रूप ही से वह गलत चीज नहीं हो गई ? सो, प्रश्न यह कि संयत संभोग के लिए उस विवाह ही की कौन आवश्यकता है जिसका आधार केवल स्त्री पर एकाधिकार पाना है ?

उत्तर—पुरुष का स्त्री-गत अधिकार कोई नहीं है। मैंने पहले ही कहा, जिसका दूसरा पहलू कर्तव्य ही नहीं है, वैसा अधिकार अहंकार है। विवाह अहंकार के समर्थन के लिए नहीं है। अगर उस समर्थन में विवाह काम में लाया जाता है, और लाया जा रहा है, तो यह आदमी के भीतर घुसे हुए अहंकार का दोष है।

स्त्री-पुरुष के समाजगत कर्तव्य एवम् उनकी मर्यादित-प्रवृत्ति की पूर्ति की राह में विवाह आता है। इससे एक का दूसरे पर एकाधिकार हो जाता है, यह मान भी लें, तो भी इसमें उस समय तक आपत्ति की कोई बात नहीं है, जब तक कि उस अधिकार को दायित्व-हीन वृत्ति से प्रयुक्त नहीं किया जाता। जैसे एक बालक का औरों को छोड़कर अपने ही पिता पर एकाधि-

कार है और उसमें हमें कोई आपत्ति-योग्य बात नहीं मालूम होती, वैसे ही पति-पत्नी-सम्बन्ध को भी हम क्यों न समझ लें ? ऐसा होता दीख नहीं रहा है, यह तो मैं भी देखता हूँ। फिर भी, जो उचित है उचित उसी को कहना होगा।

प्रश्न—पुरुष जिस स्त्री से विवाह करता है, क्या उसका यह धर्म हो जाता है कि वह उसे छोड़ किसी अन्य स्त्री के प्रति प्रेम-भावना न रक्खे ? और इसी प्रकार क्या उस स्त्री के लिए भी ?

उत्तर—जहाँ तक प्रेम भावनात्मक है, वहाँ तक कोई भी स्त्री या पुरुष प्रेम के क्षेत्र से बाहर क्यों समझा जाना चाहिए ? शरीर-संग वाले प्रेम की बुद्धि बेशक पति-पत्नि के सिवा अन्य में रखना मर्यादा-शील व्यक्ति के लिए उचित नहीं है।

प्रश्न—यदि कोई पुरुष या स्त्री किसी अन्य स्त्री या पुरुष से आकर्षित होकर उस ओर आसक्ति-भाव रखने लगे, तो क्या इस प्रकार उनके पारस्परिक दांपत्य प्रेम में अन्तर पड़ने की सम्भावना नहीं है ? ऐसे समय कर्त्तव्य क्या है ?

उत्तर—कर्तव्य सदा यही है कि जहाँ तक बस चले, ऐसा अपने से कुछ भी न होने देना चाहिए जो सामाजिक सदाचार के विरुद्ध हो। जो विवाहिता है उसी में भोग्य-बुद्धि रखने की इजाजत समाज की ओर से पुरुष को है। वही स्त्री को। अन्यत्र वैसी बुद्धि न रखना कर्तव्य हो जाता है। प्रश्न शायद यह है कि कर्तव्य निबाहा कैसे जाय ? विकार तो हमारे वश में नहीं है। इससे अन्यत्र भी आकर्षण हो आता है और बहुत तीव्र हो जाता है। 'कर्तव्य' 'कर्तव्य' की रट लगाने से वह आकर्षण मिटता हुआ बिल्कुल नहीं दीखता। तब क्या हो ? देखते तो हैं कि ऐसी अवस्था में कुछ-का-कुछ होने लगता है। हत्याएँ होती हैं, अपघात होते हैं। उन्माद होता है, हिस्टीरिया होता है और स्वभाव में तरह-तरह की गाँठें पड़ जाती हैं। ऐसा नुस्खा क्या बताया जाय जो सबको सब काल एकसा उपयोगी हो जाय ? फिर भी, जो इस द्वन्द्व से त्रस्त है, उसे चाहिए कि अपने को निर्बल मान कर

ईश्वर से प्रार्थनापूर्वक सहाय माँगे। निर्बल के बल राम होते हैं। लेकिन राम का बल, अर्थात् प्रार्थना का बल, तभी प्राप्त होता है जब कोई सचमुच अपने को निबल ही मान लेता है। पाप अहंकार से नहीं जीता जा सकता और ईश-कृपा की एक किरण पाप को दार कर सकती है।

प्रश्न—क्या विवाहित स्त्री-पुरुष के लिए आजीवन उसी प्रकार किसी भी हालत में परस्पर बँधे रहना ही हितकर है? अथवा किसी दशा में अलग-अलग हो जाना भी हितकर ही होगा?

उत्तर—हितकर हो, तब उन्हें अलग हो जाना चाहिए। किस दशा में संयुक्त जीवन उन दोनों के और समाज के लिए अवांछनीय है और कब तक वह हितकर है,—इसका निर्णय करने वाले वे दोनों और तात्कालिक समाज के नीति-मान्य पुरुष हो सकते हैं। यह जरूर है कि अलग होने की तबियत मन में आते ही यह समझ लेना उचित नहीं है कि दोनों के अलग हो जाने से झगड़ा मिट जायगा और चैन छा जायगा। इस मामले में सीधा-सा एक लक्षण निर्दिष्ट किया जा सकता है। पति-पत्नी एक-दूसरे को छोड़ने के प्रश्न का विचार उसी अवस्था में करें जब दोनों में परस्पर रोष न हो, कोई बाहरी आकर्षण दोनों को अलग न फाड़ रहा हो और दोनों ठण्डे मन से विवेकपूर्वक अपनी स्थिति पर विचार करने योग्य हों। रोष से प्रेरित होकर गृहस्थी का भंग करना समाज के लिए हितकर नहीं हो सकता और न अन्ततः व्यक्ति के लिए ही हो सकता है।

प्रश्न—ऊपर आपने आकर्षण से प्रेरित होकर सम्बन्ध-विच्छेद करना अकर्त्तव्य कहा है। किन्तु, एक दम्पति यदि संस्कारों की विषमता के कारण अपने उस सम्बन्ध से सन्तुष्ट नहीं हैं, तो क्या उन्हें अथवा उनमें से किसी को भी यह उचित नहीं है कि वह किसी अन्य से सम्बन्ध कर ले जो उसके जैसे ही संस्कार रखता हो?

उत्तर—केवल तृप्ति का अभाव, अथवा कि अरुचि, ऐसा करने के लिए पर्याप्त कारण नहीं है। जब मानव-विवेक अर्थात् धर्म ही सम्बन्ध-विच्छेद को उचित बतायें, तभी वह किया जा सकता है। लेकिन, मैंने कहा

न कि अगर स्त्री-पुरुष परस्पर मिल-बैठकर ठण्डे जी से बिना बाह्य तृष्णा और प्रेरणा के सम्बन्ध-विच्छेद करना विचारें तो जरूर वैसा कर सकते हैं।

प्रश्न—लेकिन करें तो हानि भी क्या है? आखिर जब कभी भी सम्बन्ध-विच्छेद करना हितकर समझा जायगा, तभी, चाहे कितने भी ठंडे दिल से विचारा जाय, उसमें विच्छेद के बाद की परिस्थिति के प्रति झुकाव और उसमें किसी-न-किसी प्रकार आकर्षण होना जरूरी है। यदि ऐसा नहीं, तो विच्छेद करने से लाभ?

उत्तर—नहीं, बाह्य आकर्षण के अतिरिक्त भी विवाह की सामाजिक-परिधि से बाहर जाने की आवश्यकता के कारण हो सकते हैं। मान लीजिए कि पति क्लीव है, या किसी बीमारी से पुंसत्व हीन हो गया है, अथवा कि स्त्री वंध्या है, अथवा पति या स्त्री ने कोई उत्तम-तर मार्ग (जैसे कि गौतम-बुद्ध ने, मीराबाई ने) ग्रहण करने का संकल्प कर लिया है, या कि दोनों में से कोई साथी पागल हो गया है,—आदि स्थितियों में सम्बन्ध-विच्छेद नाजायज नहीं ठहराया जा सकता। थोड़ी देर के लिए समझिए कि पति स्वयं पुंसत्व-हीन है, किन्तु पत्नी की गोद वह भरी हुई देखना चाहता है। पत्नी तो स्वयं सन्तति के लिए इतनी विह्वल नहीं है और वह अपने इसी पति के साथ अपना नेम निबाहने को तैयार है। पर पति को अपने कर्तव्य की चिन्ता है। ऐसी स्थिति में पति समझा-बुझाकर अपने पतित्व के अधिकार से पत्नी को साग्रह मुक्त कर सकता है। ऐसे ही वंध्या स्त्री अपने पति के कुल का नाम उजागर रहा देखना चाहती है, तो वह पति को अनुरोध-पूर्वक दूसरे विवाह के लिए कह सकती है। अभिप्राय यह कि जहाँ प्रेरणा सद्भावना की है, विषय-सेवन की नहीं है, वहाँ विच्छेद अनुचित नहीं है। विषय-तृष्णा की खातिर किये गये तलाक का मुझ से समर्थन न होगा।

प्रश्न—क्या आप के कहने का मतलब संक्षेप में मैं यह समझूँ कि सम्बन्ध-विच्छेद के साथ दोनों पार्टियों की रजामन्दी और एक दूसरे के प्रति सद्भावना हो। यदि ऐसा है, तो क्लीवता, वंध्यापन और सन्तति के अभाव आदि ही को विच्छेद का कारण बनाना

क्यों जरूरी है ? फिर तो कोई भी कारण ठीक हो सकता है यदि उसके लिए वे दोनों खुशी-खुशी तैयार हों।

उत्तर—आपके प्रश्न की भाषा में 'आदि' के साथ 'ही' लगा है। जहाँ 'आदि' लिखा गया, वहाँ अभिप्राय है कि गिनाये गये कारणों के अलावा भी कारण हो सकते हैं।

फिर भी यहाँ एक बात याद रखने की है। दोनों का 'खुशी' से तैयार होना काफी नहीं है। खुशी शब्द जरा बेढब है। मैं ऐसे पति-पत्नी के जोड़े को जानता हूँ, जो दोनों खुश हैं, लेकिन पुरुष अपने को पति जाहिर नहीं करता और स्त्री अपने को विधवा बतलाती है। और इस भाँति खुशी-खुशी स्त्री के तन की कमाई से दोनों धन जोड़ते और फिर उस धन के बल पर समाज में इज्जत बनाने की कोशिश करते हैं। इसलिए 'खुशी' शब्द मौजूँ नहीं है। मैं तो वही शर्त रखना चाहूँगा कि वहाँ बाह्य तृष्णा या प्रेरणा का अभाव हो।

प्रश्न—बाह्य तृष्णा या प्रेरणा से क्या आपका मतलब इंद्रिय-गत विषयों की वासना से है ? यदि है, तो क्या सम्बन्ध-विच्छेद के लिए किसी इन्द्रियातीत यानी संस्कृति से उद्भूत आनन्द की इच्छा करना काफी कारण हो सकता है ?

उत्तर—हाँ बाह्य प्रेरणा से वैसी ही वासना अभिप्रेत थी।

'इन्द्रियातीत' और 'सांस्कृतिक आनन्द', ये शब्द बड़े मालूम होते हैं। लेकिन, ऊपर के उदाहरण में पत्नी को साग्रह दूसरे पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लेने की सलाह देने वाला पति और इसी प्रकार पति को सानुरोध दूसरा विवाह करने के लिए कहने वाली पत्नी,—दोनों की भावना अवैषयिक हैं और सांस्कृतिक भी हैं। आप उन दोनों के सामने पहुँचकर पूछें कि क्या तुम्हारी भावना सांस्कृतिक है और नैतिक है, तो बेचारे दोनों ही शायद घबरा जायँगे और बेहद लज्जित हो रहेंगे।

लेकिन ऐसी अवस्था में उनकी आत्म-लज्जा ही सांस्कृतिक सदाशयता का लक्षण होगी। संस्कृति कहीं यहाँ-वहाँ नहीं रहती है। जहाँ उत्सर्ग है,

संस्कृति वहाँ से आदर्श प्राप्त करती है।

प्रश्न—इन्द्रियातीत और सांस्कृतिक आनन्द से तो मेरा मतलब केवल इतना ही था कि यदि दैवात् किसी बहुत ही परिष्कृत अभिरुचि (refined taste) की कवयित्री स्त्री का किसी देहाती जड़ मल्लुए से सम्बन्ध हो जाय, और बाद में दोनों को यह संयोग कुछ अनमेल जँचे, तो क्या दोनों की रजामन्दी होने पर वे अलग-अलग नहीं हो सकते। और खुशी से अलग-अलग होकर अपने अनुरूप शादी कर लेने में तब क्या हानि होगी ?

उत्तर—दैवात् सम्बन्ध हो जाय, इसका क्या अर्थ ? दैव सीधा अपने हाथों से तो शादी नहीं करता। या तो शादी उन दोनों ने स्वयं कर ली या माँ-बाप ने की। माँ-बाप ऐसी शादी नहीं करेंगे। यदि उन दोनों ने आपस में सम्बन्ध कर लिया जिसे वे दोनों पीछे जाकर पाते हैं कि बेमेल है, तो स्पष्ट है कि किसी बाह्य मोह के कारण उन्होंने वैसी शादी की होगी। मोह सैकड़ों प्रकार का होता है। एक शब्द अँग्रेजी में है 'रोमांस', दूसरा शब्द है 'एडवेंचर'। कुछ ऐसी बहक में ऊपर के प्रकार की शादी हो गई हो तो अचरज नहीं। पर मोह तो अन्त में टिकता नहीं। आज नहीं कल, वह तो टूटेगा ही। वह मोह जब फूटे तो विवाह-संस्था की किस्मत भी फूट गई, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है। आपका प्रश्न है कि कहार और कवयित्री शादी तो करते कर बैठें, लेकिन अब मिलकर रहा नहीं जाता तो वैसी अवस्था में क्या किया जाय ? इस पर मेरे जैसा व्यक्ति, अगर वह कवयित्री मुझे अपने पास आने दें, तो उनसे कहेगा (क्योंकि कवयित्री होने से वह बारीक बातों को अधिक समझने के योग्य होंगी) कि 'सुनो कवयित्री, यह तुम्हारा पति बिल्कुल अयोग्य है न ? लेकिन तुम तो योग्य हो। उसको थोड़ी अपनी योग्यता देकर योग्य बना लो। और सुनो, उससे कवयित्री बनकर बात करोगी, तो कहार कहार ही रहेगा। लेकिन थोड़ी देर के लिए कहारिन बनकर उससे बोलो-चालोगी, तो क्या जाने ऐसे वह कवि ही बनने लग जाय। सेवा बहुत-कुछ सम्भव बनाती है और प्रेम तो असम्भव को

सम्भव बना देता है। सुनो, जो हुआ सो हुआ। उसे मूर्खता कहकर सिर न धुनो। चाहोगी तो उसमें से ही सुन्दर फल निकल सकेगा।

पर मान लीजिए कि कवयित्री बेहद कवयित्री हैं। तो ऐसी हालत में वे जानें और उनका भाग्य जाने, मैं कुछ नहीं जानता।

प्रश्न—यदि कवयित्री देखती है कि प्रस्तुत वातावरण उसकी प्रतिभा एवं सांस्कृतिक जीवन के विकास के सर्वथा प्रतिकूल है और साथ ही वह मछुए के लिए भी उपयुक्त संगिनी नहीं है, और यह भी जानती है कि अलग होने में किसी की नाराजगी का सवाल नहीं है, तो क्यों न वह अलग होकर अपने जीवन को समाज के लिए और अधिक उपयोगी बनाये, बजाय इसके कि वह उसे वहीं बरबाद कर दे?

उत्तर—अगर प्रतिभा सच्ची है, तो वह हर किसी स्थिति को अपने लिए सहायक बना लेगी। मैं नहीं मानता कि रुचि-गत ऐसा कोई कारण हो सकता है जो एक बार विवाह में बँधकर उनके बिछुड़ने को औचित्य दे। अगर किसी कोरी भावुकता में वह विवाह हो गया था, तो उसकी प्रतिक्रिया अनिवार्य है। वैसी हालत में कवयित्री भी जरूर अपने मछुए पति को छोड़ देगी। नहीं छोड़ेगी, तो त्रस्त रहेगी। लेकिन इसमें मुझसे पूछने की क्या बात है? छोड़ना पड़ ही रहा है, तो किसी के कहने-न-कहने का परिणाम ही क्या होगा? कर्मफल क्या टाले टलता है?

प्रश्न—क्या कोई समाज-गत कर्तव्य पति-पत्नी को एक-दूसरे से अलग होने के लिए उपयुक्त कारण हो सकता है?—भले ही उस हालत में दोनों की सहमति न हो।

उत्तर—हाँ, हो सकता है। बुद्ध घर छोड़कर चले गये, तो यह कहना कठिन है कि यशोधरा की उसमें अनुमति थी। लक्ष्मण ने राम का साथ दिया, उर्मिला अयोध्या ही रह गई, तो क्या उर्मिला की यही चाह थी? ये पौराणिक उदाहरण हैं। लेकिन समाज में भी ऐसे उदाहरण यत्र-तत्र मिलेंगे।

प्रश्न—तो क्या वह कवयित्री अपने जीवन-विकास को अच्छे-से-अच्छा अवसर देने में समाज के प्रति अपना कर्तव्य नहीं समझ सकतीं ?

उत्तर—आपको कवयित्री की चिन्ता विशेष है। उसके जीवन-विकास के लिए तो यह और भी परख का मौका है। अपनी उसी साधारण ज़िन्दगी में भी क्यों उस परम ध्येय को नहीं खोजा जा सकता जो ऊँचे-से-ऊँचे काव्य का विषय है ? अगर काव्य भीतर है, तो बाहर की कौन चीज़ रुचिर होने से बच सकती है ?

प्रश्न—अच्छा, यह तो सब ठीक है। लेकिन मेरी समझ में अभी यह नहीं आया कि इन सब शर्तों के साथ जो मैंने कहीं, अलग होने में उनका या समाज का अहित ही क्या हो सकता है ?

उत्तर—विचारपूर्वक और सद्भावनापूर्वक दो मिले हुए व्यक्ति अलग भी हो सकते हैं। यह बात पति-पत्नी सम्बन्ध में भी लागू है। तृष्णापूर्वक, रोषपूर्वक अथवा मदमत्त अवस्था में वे एक-दूसरे से अलग होते हैं, तो उचित नहीं है। यह बात शायद मेरे पहले शब्दों में भी आ गई है।

प्रश्न—ऊपर आपने बतलाया कि पति-पत्नी समाजगत कर्तव्य की पूर्ति के लिए एक-दूसरे की अनुमति बिना भी अलग हो सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि एक को दुखी करके भी बहुतों को सुखी करने का प्रयत्न उचित ही है। किन्तु क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि अहिंसा का आरम्भ हिंसा से भी किया जा सकता है ?

उत्तर—नहीं, इससे यह सिद्ध नहीं होता। हिंसा होती नहीं है, वह की जाती है। मुझको कारण बनाकर अगर किसी का मन दुखी रहता है, तो मैं उस हेतु से हिंसा का अपराधी नहीं समझा जा सकता। हिंसा भावनाश्रित है, इसी तरह अहिंसा भावनामय है। अगर मन में प्रेम भरा है तो ऐसे व्यक्ति का आचरण अहिंसक तो कहलाएगा, फिर भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि उसको कारण बनाकर कोई प्राणी अपने को दुखी नहीं बना

सकता। इस भाँति यह कहना संगत नहीं है कि हिंसा द्वारा अहिंसा फल सकती है। हाँ, हिंसा को देखकर अहिंसा की संकल्प-शक्ति बढ़ जरूर सकती है।

६—विवाह

प्रश्न—क्या आप बतलाएँगे कि विवाह करते समय वर-वधू स्वयं उस संयोग के निर्णायक हों अथवा अन्य कोई ?

उत्तर—मैं यह पसन्द करूँगा कि अपने-अपने बारे में वर-वधू दोनों स्वयं निर्णायक हों। लेकिन दूसरे को चुनने के बारे में, अर्थात् संयोग की उपयुक्तता के बारे में, मुख्य निर्णय उनके अभिभावक लोग करें।

प्रश्न—अपने-अपने बारे का निर्णय और फिर संयोग की उपयुक्तता का निर्णय,—क्या इसे आप और स्पष्ट करेंगे ?

उत्तर—मेरी शादी हो रही है, तो मैं अपनी शादी होने दूँ अथवा न होने दूँ—इसका निर्णय मुख्यता से मेरे हाथ में होना चाहिए। अमुक से ही मेरी शादी हो, यह निर्णय मैं नहीं कर सकता। अमुक से न हो, अलबत्ता, किन्हीं विशेष कारणों से ऐसा निर्णय मैं कर सकता हूँ।

प्रश्न—विवाह करने-न-करने का निर्णय अभिभावकों को न देकर अपने ही हाथ में रखने का क्या हेतु हो सकता है ?

उत्तर—विवाह दो समझदार व्यक्तियों के बीच में हो, तभी वह विवाह है। 'समझदार' से यह मतलब कि वह अपने बारे में निर्णय करने योग्य हैं। साथ ही 'समझदार' का यह भी मतलब होना चाहिए कि रंग-रूप आदि के कारण वह किसी को हीन अथवा अयोग्य न समझे। जो अपने सम्बन्ध में निर्णय करने योग्य हैं, वह क्यों न यह तय कर सके कि अभी मैं विवाह न करूँ, अथवा कि इतने वर्ष बाद करूँ, अथवा बिलकुल ही न करूँ।

प्रश्न—विवाह अमुक के साथ हो अमुक के साथ नहीं,—यह निर्णय अभिभावकों के हाथ रहना क्यों आवश्यक है ? और क्या

इस अधिकार से वर-वधू का सर्वथा ही वंचित रहना जरूरी है ?

उत्तर—युवा और युवती अधिकतर बाहरी बातों को महत्व दें तो यह अनहोना नहीं है। देखा गया है कि वे बातें अन्त तक उतनी महत्वपूर्ण नहीं रहतीं। अभिभावकों की निगाह कुछ पक चुकी है और वे उस सम्बन्ध को तनिक स्वस्थ दृष्टिकोण से देखने योग्य स्थिति में होते हैं। विवाह-तत्पर युवाजनों के हाथ में वह फैसला आ जाने से कम सम्भावना रहती है कि वह फैसला विकारहीन हो।

प्रश्न—इस निर्णय के लिए आपके विचारानुसार अभिभावक लोग किस विशेष लिहाज से (criterion से) काम लेंगे ?

उत्तर—मामूली तौर पर उन्हें अपने सन्तानों के सुख का और हित का ही विचार प्रधान होना चाहिए। द्रव्य-प्रधान (Capitalistic) सोसायटी में इस मामले में पैसे का खयाल भी रहने लगा है,—पर वह जुदा बात है। सामान्यतः अपने लड़के-लड़की के सुख का खयाल रखकर वधू-वर में वे लोग अनुकूलता खोजेंगे। जहाँ संस्कार, शिक्षा, वय आदि की अनुकूलता दीखती हो, वहीं वे सम्बन्ध करना उचित समझेंगे।

प्रश्न—संस्कार और शिक्षा आदि की अनुकूलता से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अभिप्राय बहुत अँधेरा जान पड़ता है क्या ?

प्रश्न—क्या अनुकूलता वर-वधू के संस्कार और शिक्षा में समता से है ?

उत्तर—ठीक-ठीक समता नहीं। जरूरी नहीं कि लड़का एम० ए० हो तो लड़की एम० ए० के अतिरिक्त कुछ हो ही न सके। मतलब है कि गुण-कर्म-स्वभाव परस्पर विषम नहीं होने चाहिए।

प्रश्न—गुण-कर्म-स्वभाव की विषमता या समता का अनुभव वर-वधू की अपेक्षा अभिभावक अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे,—क्या यह अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता ?

उत्तर—नहीं, मुझको यह अधिक सहज जान पड़ता है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—क्योंकि वर-कन्या और बजुर्गों के बीच कोई शंका, संकोच अथवा किसी विशेष आकर्षण का भाव वर्तमान नहीं रहता। वे प्राकृतिक परिस्थिति में एक-दूसरे से मिल-जुल सकते हैं। फिर, अपनी इच्छा-अनिच्छाओं के बारे में युवा-जन चाहे जितना भी ज्ञान रखते हों, लेकिन अपनी अक्षमताओं और मर्यादाओं और अपने झुकाव से शायद उनकी इतनी जानकारी नहीं होती जितनी उनके अभिभावकों की होती है।

प्रश्न—सम्बन्ध के विषय में वर-वधू की सहमति का होना क्या आवश्यक नहीं है ? यदि है, तो उसका अभिभावकों के निर्णय के साथ किस प्रकार समन्वय सम्भव होगा ? और वह यदि न हो, तो आखिरी निर्णय किस के हाथ में रहे ?

उत्तर—वर-वधू की सहमति आवश्यक है। यह क्यों समझा जाय कि अभिभावकों की सम्मति में वर-वधू की असहमति होगी ? वर-वधू की उसमें असहमति तभी हो सकती है, जब कोई बाहरी कारण उपस्थित हो। बाहरी कारण अधिकांश मोह-रूप होता है। यदि कोई आन्तरिक बाधा वर-वधू की ओर से उस विवाह में हो, तो वह अभिभावकों पर प्रकट की जा सकती है। इस तरह अभिभावकों की असहमति लेकर कोई भी विवाह क्यों हो ? मेरे विचार में उनकी सहमति लगभग अनिवार्य ही करार देनी चाहिए।

प्रश्न—कारण आन्तरिक और बाह्य किस प्रकार के हो सकते हैं ?

उत्तर—बाह्य से मतलब उन कारणों से है जिनमें कोई बाहरी लगाव की रुकावट है। जैसे वर किसी और लड़की को चाहता है अथवा कि कन्या किसी और युवक के प्रति आकृष्ट है। या कि दोनों एक-दूसरे के रूप से, आर्थिक अवस्था से, अथवा और ऐसी बाहरी बातों से सन्तुष्ट नहीं हैं। इन्हें मैं बाहरी लगाव गिनता हूँ। 'आन्तरिक' से मतलब कुछ वैसी बातों से है जो दूसरे की त्रुटि अथवा अयोग्यता से नहीं, अपनी त्रुटि अथवा अयोग्यता से सम्बन्ध रखती है। जैसे कि वर यह माने कि अमुक कन्या के

योग्य तो न उसमें शिक्षा है न गुण हैं, अथवा कि कन्या इसी प्रकार किसी विशेष युवक के सम्बन्ध में अपने को अपात्र समझे, तो इस बाधा को सच्ची बाधा समझनी चाहिए। 'बाह्य' और 'आन्तरिक' शब्दों से मैं यही मतलब निकालना चाहता हूँ।

प्रश्न—लेकिन वर अथवा कन्या कैसे जाने कि वह उस सम्बन्ध के लिए उचित पात्र है कि नहीं ?

उत्तर—अगर उसे यह जानने का मौका नहीं है, तो कोई बुरी बात नहीं है। यह तो बल्कि और अच्छी ही बात है।

प्रश्न—तो क्या यह जानना उसका कर्तव्य ही नहीं है ?

उत्तर—क्या जानना उसका कर्तव्य नहीं है ? क्या यह कि जिससे मेरी शादी हो रही है, वह असल में क्या है ? तो मैं कहता हूँ कि अगर यह पूरी तरह विवाह से पहले जान लिया जायगा तो विवाह नीरस हो जायगा। असल में विवाह से पूर्व कुछ ऊपरी विवरण ही जान लिये जा सकते हैं। व्यक्ति की भीतरी प्रकृति तो परखने पर ही खुलती है। तब क्या वह यह जाने कि मैं उसके योग्य हूँ या नहीं ? असल योग्यता तो तभी है जब वह विवाह के बाद भी प्रमाणित ठहरे। इससे मैं मानता हूँ कि जरूरत से बहुत अधिक जानने का आग्रह वर-वधू के लिए इस मामले में विशेष अर्थकारी नहीं होगा। सच कहा जाय तो विवाह समर्पण का संबंध है। और समर्पण की भावना उसी के प्रति सम्भव है जो सर्वथा ज्ञात ही नहीं है, बल्कि जिसमें अज्ञात काफी कुछ है।

प्रश्न—आप मानते हैं कि वर-वधू स्वयं अपने विवाह के उपयुक्त निर्णायक नहीं हैं, क्योंकि वे ऊपरी बातों से बहक सकते हैं। लेकिन, बहुधा अभिभावकों के बारे में क्या नहीं देखा जाता कि वे विवाह-सम्बन्ध करते समय उन अपने निजी आर्थिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा-आदि की धारणाओं से (Considerations से) बहक जाते हैं जिनका वर-वधू के हित से कोई सम्बंध नहीं होता ?

उत्तर—अगर अभिभावकों में ऐसी बहक है, तो वयःप्राप्त युवा और

युवती सविनय अवज्ञा का व्यवहार प्रयोग कर सकते हैं। वे तब अभिभावकों का निर्णय रद्द कर सकते हैं और स्वयं अपना सम्बन्ध चुन सकते हैं। लेकिन, यह ध्यान रहे कि उस सम्बन्ध के चुनाव में वैसा बाहरी मोह न रहे। सविनय-अवज्ञा के प्रयोग का अधिकार उसी को है जो उस अस्त्र को धर्म-भाव से ग्रहण करता है। उसमें जरूरी तौर पर अपेक्षाकृत एक सामाजिक कर्त्तव्य का उल्लंघन आ जाता है। किन्तु, वह उल्लंघन अपने लिए नहीं है, सामाजिक से भी बड़े किसी कर्त्तव्य, अर्थात् मानवीय कर्त्तव्य के पालन के लिए है। अपनी तृष्णाकुल आकांक्षाओं से लुब्ध होकर हम यदि माता-पिता की इच्छाओं का, चाहे फिर वे इच्छाएँ अर्थ-लालसा से विकृत ही हों, विरोध करेंगे, तो उससे यह कहना कठिन होगा कि हमने बुराई का विरोध अच्छाई से किया है। दूसरे की बुराई का विरोध अपनी बुराई से नहीं किया जा सकता। इसलिए, यदि इस (सत्याग्रह) तत्त्व की मर्यादा का पालन हो, तो वर-कन्या अभिभावकों की मर्जी के विरोध में भी परिणय में बँध सकते हैं।

प्रश्न—उपर्युक्त परिस्थिति में अवज्ञा (सविनय) करना क्या कर्त्तव्य होना चाहिए? अभिभावक के प्रति उत्सर्ग की भावना रखकर अवज्ञा न भी की जाय, तो क्या अनुचित होगा?

उत्तर—सविनय अवज्ञा उस समय कर्त्तव्य है। उत्सर्ग कर्त्तव्य का नहीं किया जाता। कर्त्तव्य के लिए मोह का उत्सर्ग किया जाता है। आत्म-हत्या चाहे जिस अवस्था में हो, पाप ही है। कोई यह मानकर कि मैं अपने को उत्सर्ग कर रहा हूँ, अपने को मार नहीं सकता। ऐसे उदाहरण मिलते अवश्य हैं। धर्म के नाम पर, प्रेम के नाम पर, थोड़ा-बहुत गर्व के भाव से लोग आत्मघात कर लेते हैं। लेकिन हमारा जीवन हमारा ही नहीं है। जिसने वह दिया, वही जब उसे लेना विचारे, तब दूसरी बात है। अन्यथा मृत्यु आने तक उस जीवन की रक्षा ही कर्त्तव्य है। आशय यह कि माता को, पिता को, सभी को तजा जा सकता है, पर अपने स्वधर्म को तो नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए, यदि आत्म-मोह नहीं है तो वर-कन्या को माता-पिता की इच्छा पर अपने को कुरबान कर देने का हक नहीं रहता और उनके

आदेश की (विनीत) अवज्ञा करके भी स्वधर्म-पालन करना उचित हो जाता है।

प्रश्न—अभिभावकों द्वारा विवाह-सम्बन्ध निश्चित होने के पूर्व वर-कन्या का एक-दूसरे को देखना क्या आवश्यक है ?

उत्तर—रिवाज तो आवश्यक नहीं है। सच यह है कि इसके बिना भी काम चल सकता है। लेकिन, आपस में देखा-देखी होने ही न पावे, ऐसे आग्रह में कुछ अर्थ नहीं है। मतलब यह है कि जहां तक हो सब काम सहज भाव से होना चाहिए जिससे वासना को कम-से-कम गुंजायश मिले। परस्पर परिचय निषिद्ध नहीं है, बल्कि उपयोगी ही है। जहाँ देखने के मानी सिर्फ एक-दूसरे की आकृति और रूप देखना भर है, तो वैसा देखना-न-देखना एक-सा है।

देखने की बात तो यहाँ तक बढ़ गई है कि वर-पक्ष के लोग कपड़े उतरवाकर अंग-प्रत्यंग की जाँच करते हैं। यह लज्जाजनक है। इसलिए बाहरी देख-दाख की पद्धति का समर्थन मेरे मन से नहीं निकलता।

प्रश्न—क्या अभिभावकों के लिए वर-कन्या को देखना आवश्यक है ?

उत्तर—हाँ, कतई आवश्यक है। देखना क्यों, पूरी तरह जानना और समझना आवश्यक है।

प्रश्न—यदि किसी कुमार और कुमारी में प्रेम इतना दृढ़ हो गया है कि विवाह-सम्बन्ध न होने से उनके जीवन के नष्ट होने की सम्भावना हो, तो क्या अभिभावकों को उसका विचार करना और उनका विवाह कर देना अनुचित होगा ?

उत्तर—अभिभावकों को उस पर विचार करके अवश्य अपने को झुका देना चाहिए।

प्रश्न—किन्तु क्या इससे उस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन न मिलेगा जिसका आधार आपके विचारानुसार मात्र आकर्षण होता है और जो विवाह के सिद्धान्त के विरुद्ध भी है ?

उत्तर—मिलेगा। लेकिन, जीवन एक कोरा सिद्धान्त ही नहीं है। वह आदर्श के साथ सम्भव का समझौता है,—व्यवहार का आदर्श के साथ ऐक्य साधन है। वह बात व्यवहार को छोड़ देने से नहीं सिद्ध होगी। व्यवहार को जब कि आदर्शसंगत बनाना है, तब आदर्श भी व्यवहार-युक्त होने पर कुछ महत्त्व रख सकता है। प्रस्तुत उदाहरण में एक तरफ मौत है तो दूसरी ओर कुछ वह कर्म है जो सौ फी-सदी सही नहीं है। कह दो कि वह गलत है, लेकिन मौत उससे भी गलत है और जीते रहना मौत से सब दर्जे बेहतर है।

प्रश्न—किन्तु, क्या समाज के आधार-भूत उस सिद्धान्त की रक्षा के लिए, जिस पर इतना बड़ा सामाजिक जीवन निर्भर है, एक-दो मौत भी हो जाना बेहतर नहीं है?

उत्तर—मौत हो जाना बेहतर हो सकता है, लेकिन मौत का किया जाना बेहतर नहीं है। ऊपर के उदाहरण में मौत अगर सचमुच हो जाती है, तो वह मौत की गई है। एक व्यक्ति यदि सामाजिक कर्तव्य की भावना को ज्वलन्त रूप से अपने भीतर जगाकर अपने प्रेमी अथवा प्रेमिका का विछोह सह लेता है, तो क्या उसकी व्यथा जिंदा मौत की विथा से कम है? ऐसी अवस्था में मैं कहूँगा कि ऐसा जीवन द्वारा अपनाया गया मरण सचमुच उसका और समाज का उपकार करता है, और करेगा।

प्रश्न—जिस प्रेमावस्था के लिए आपने ऊपर सिद्धान्त की बलि देना भी उचित बताया है, उसको उदाहरण मानकर युवक-समाज ऐसे प्रेम की ओर प्रेरित न होगा और इससे विवेकमय जीवन को हानि न पहुँचेगी, क्या आपका ऐसा विचार है?

उत्तर—सिद्धांत क्या चीज है! क्या वह अपने ही आप में कुछ है! प्रेम से च्युत होना सिद्धान्त नहीं है। और प्रेम के भार को उठाने के बजाय मौत उससे बच निकलने का उपाय है। इसी तरह से वह भी कोई सिद्धान्त नहीं है जिसके पालन में अपनी तो नहीं, दूसरे की जान पर आ बीते। कोई लड़के-लड़की हठपूर्वक एक-दूसरे से ही परिणय करना चाहें और नहीं तो

जान दे दें, तो मैं नहीं जानता कि वह कोई सिद्धान्त होगा जो उन्हें उस परिणय से रोककर मर जाने को बाध्य करता है। अगर वह कुछ है तो सिद्धान्त नहीं, हठ है। यद्यपि मेरा अनुमान है कि इस प्रकार की शादी कुछ दूर तक ही सफल दीखेगी, आगे तो उसमें निष्फलता ही दिखाई देगी, फिर भी, ठोकर खाकर सीखने का जवान आदमियों को हक है। उस हक के प्रयोग से उन्हें जबरदस्ती नहीं रोका जा सकता। समझ-बूझकर रोका जा सके, तो दूसरी बात है।

१०—सन्तति

प्रश्न—विवाह को आप समाज के प्रति कर्तव्य ही मानते हैं, ऐसा मैं समझता हूँ। तो फिर क्या संतानोत्पत्ति भी उस कर्तव्य की राह ही में है? यदि है तो कैसे?

उत्तर—तात्कालिक कर्तव्य, मैंने पहले भी कहा, कि दो चीजों के मेल से वनता है; एक आदर्श, दूसरे सम्भव। काम-वासना से छुट्टी विरले व्यक्ति को मिलती है। विवाह में उस कामवृत्ति के लिए रोक भी है और छूट भी है। आज के मनुष्य को देखते हुए विवाह को एक कर्तव्य कहना ही चाहिए। विरले व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचारी रह सकते हैं। ब्रह्मचर्य आदर्श भले हो, किन्तु वह नियम नहीं हो सकता। वह अपवाद ही है। ब्रह्मचर्य को सामने रखकर विवाह का आदेश है। विवाह में सम्भोग की छूट है, किन्तु वहाँ सम्भोग लक्ष्य-रूप नहीं है। लक्ष्य तो सम्भोग-परिमाण या संयम ही है। इसलिए, सब देखते हुए कहा जा सकता है कि संतति का उत्पादन एक सामाजिक ऋण है और एतदर्थ विवाह भी कर्तव्य कर्म है।

प्रश्न—संतति का उत्पादन एक सामाजिक ऋण है, तो क्या जो अन्त तक ब्रह्मचारी रहकर जीवन बिता देते हैं, उन पर समाज का ऋण रह जाता है?

उत्तर—जो कोरे ब्रह्मचारी रहते हैं, यानी ब्रह्मचर्य द्वारा जो शक्ति संग्रहीत होती है उसको फिर समाज की सेवा में नहीं लगा देते, ऐसे लोगों पर समाज-ऋण शेष रह जाता हो, तो मुझे अचरज न होगा। किन्तु, ब्रह्मचर्य का पालन व्यक्ति को सार्वजनिक सेवा के अधिक योग्य बना देता है, यह तो निर्विवाद है। ऐसे लोग समाज को संतति का दान अवश्य नहीं करते, पर अपने को कुल-का-कुल ही विश्व के अर्थ होम जाते हैं। इससे

बड़ी उच्छृंखलता और क्या होगी ? हाँ ब्रह्मचर्य, यानी अविवाहित अवस्था, अपने-आपमें कोई कारनामा (achievement) नहीं है।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य द्वारा संग्रहीत शक्ति को यदि समाज के प्रति वे नहीं लगाते हैं, तो वे उन लोगों की अपेक्षा आखिर समाज के प्रति कौन बड़ा अहित करते हैं जो उसी शक्ति से संतानोत्पादन करते हैं? क्या जीव-क्रम चलना और चलना ही चाहिए, ऐसी कुछ अनिवार्यता और आवश्यकता है ?

उत्तर—हाँ, प्रकृति की ओर से ऐसी ही कुछ अनिवार्यता मालूम तो होती है। यदि जीवन है तो वह अभिव्यक्त भी होगा। नहीं तो, जीवन क्या है ? जिसको उत्पादन कहते हैं, वह फल की दृष्टि से तो उत्पादन है, पर मूल प्रेरणा की दृष्टि से तो उसे अभिव्यक्ति ही कहना चाहिए। जीवन के माने हैं निरन्तर प्रवाहशील चैतन्य। चैतन्य चैतन्य को जन्म देता है। ऐसे महापुरुष जिन्होंने अपने को समूचे तौर पर चैतन्य-जागृति में लगा दिया, वे सहज रूप से ब्रह्मचारी भी रह सके। पर कोरी ठान ठानकर कौन ब्रह्मचारी रह पाया है ? कोई अगर रहा भी हो, तो वह उस ब्रह्मचर्य के परिणाम में कुछ अक्खड़ और असहिष्णु बन गया होगा। असहिष्णुता और अक्खड़पन असामाजिक हैं। ऐसा ब्रह्मचर्य भी हितकर नहीं है। विवाह मेरे खयाल में स्वभाव-पालन और स्वभाव-विकास की राह में आ ही जाता है। मुझसे पूछिए तो विवाह को मैं अनिवार्य ही कह सकता हूँ। जिनके लिए फिर ब्रह्मचारी रहना वैसा ही अनिवार्य हो, उन्हीं को हक आता है कि वे अविवाहित रहें। अविवाहित-पन को अपने-आप में कोई बड़ी चीज मानना गलत है। मैं सोचता हूँ कि जो ब्रह्मचारी समझे जाने के मोह के कारण विवाह से मुँह मोड़ते हैं, वे अपना या समाज का लाभ नहीं करते।

प्रश्न—संतानोत्पत्ति में स्वभाव अथवा प्रकृति-रूप से मानव-शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु, अभिव्यक्ति को समाज के प्रति कर्तव्य की डोर में बाँधकर भी क्या हम सम्भवनीय समझ

सकते हैं? यदि ऐसा नहीं, तो वह कर्तव्य क्योंकर कही जा सकती है? दूसरे, क्या स्वभाव भी कर्तव्य-अकर्तव्य की रेखाओं से घिर सकता है?

उत्तर—अभिव्यक्ति, सच तो यह है कि, एक अनिवार्यता ही है। इसलिए शुद्ध तात्त्विक दृष्टि से कहा जाय तो कहना होगा कि जो कुछ हो रहा है, वह किसी तत्त्व की अभिव्यक्ति ही है। किसी के किये-धरे कुछ नहीं हो रहा है। भाग्य ही अपने को निष्पन्न कर रहा है या विधि अपनी लीला दिखा रही है। मूल सत्ता अवैयक्तिक है।

किन्तु, जब हम व्यक्ति की परिभाषा में विचार करते हैं, तो 'होना' 'करना' हो जाता है। अगर हम अपने को मात्र भवितव्यता का आखेट न मानना चाहें, तो कहना उचित होगा कि जो कुछ हो रहा है, वह 'हो' ही नहीं रहा है, बल्कि हम उसमें बहुत-कुछ कर भी रहे हैं (Being, thus, becomes doing) 'करना' 'होने' की परिभाषा है। इस तरह दीख पड़ेगा कि प्रत्येक व्यापार दोहरी प्रेरणा से सम्भव होता है। एक अन्दर की स्फूर्ति, दूसरी बाहर की माँग। जो कर्म अन्तःप्रेरणा के दृष्टिकोण से मात्र अभिव्यक्ति प्रतीत होगा, वही बाहरी माँग के लिहाज से उपयोगी, प्रयोजनीय, एवं कर्त्तव्य कर्म कहलाएगा। इस भाँति सन्तति-उत्पादन अपनी अन्तस्थ वृत्तियों की अपेक्षा स्वाभिव्यक्ति ही है, फिर भी, सामाजिक कर्त्तव्य की भावना को वहाँ पूरे तौर पर रहने की गुंजायश है।

यह सच्ची बात है कि 'अभिव्यक्ति' शब्द की अनायासता और 'कर्त्तव्य' शब्द में व्यापी हुई नियन्त्रण की ध्वनि, ये दोनों परस्पर विरोधी दीख पड़ती हैं। अधिकांश और दूर तक वह विरोध है भी सही। फिर भी उन दोनों के मेल में सिद्धि है। वह मेल सम्भव है। सहज-प्राप्त न हो, किन्तु साध्य इष्ट वही है।

परिणाम निकला कि प्रत्येक कर्म की सचाई के दो बाहरी लक्षण हैं। पहला, एक आनन्द-भाव जो कि इस बात को प्रमाणित करता है कि यह कर्म व्यक्ति के लिए बन्धन-रूप न होकर अभिव्यक्ति-रूप है। दूसरा है

हिताहित-विचार अथवा विवेक, कि जिससे प्रमाणित होगा कि वह कर्म मन-माना नहीं है, किन्तु सुविचारित और लक्ष्ययुक्त है।

संयम जहाँ आनन्द का नाशक है, वहीं मानो वह अपने मूल को खाता है और जहाँ आनन्द-भाव विवेकहीन हो चलता है, वहाँ मानो वह अपनी निष्कलुषता को खो देता है। मैं यह मानता हूँ कि कर्त्तव्य-भावना को भुला देना प्रेम के जागरण के लिए आवश्यक नहीं है।

प्रेम अन्धा है, मैं इस उक्ति से असहमत नहीं हूँ। जो चस चाम की आँख जितनी दूर तक देखता है, वह सचमुच प्रेम नहीं है। प्रेम को अन्धा इसी अर्थ में स्वीकार करना मैं चाहता हूँ कि वह वह देखता है जो आँख नहीं देख सकती है। वह दो में एक को देखता है। उसके लिए दो की दुई को सहना मुश्किल होता है। इसलिए प्रेम अन्धा तो हुआ ही, लेकिन ऐसा अंधापन श्रेयस्कर है।

जिसको सामाजिक कर्त्तव्य-भावना कहो, वह किसी विषमता में ऐक्य को साधने की चेष्टा का ही नाम है। प्रेम भी उसी का नाम है। तब अन्ततः ये दोनों विरोधी कैसे हो सकते हैं? इसीसे तो आगे जाकर कहना पड़ता है कि धर्म प्रेम है।

प्रश्न—अभिव्यक्ति का आनन्द दो प्रकार का हो सकता है, एक इन्द्रिय-गत और दूसरा इन्द्रियातीत। और इन्द्रियातीत आनंद या तो हमारे इन्द्रिय-गत का प्रतिबिम्ब-स्वरूप होता है या कर्त्तव्य और विवेक के पालन-स्वरूप। कहना यह है कर्त्तव्य-विवेक अथवा सौन्दर्य-आदर्श के विकास के साथ वह इन्द्रिय-गत आनन्द सम्भव नहीं है। किन्तु, मैं समझता हूँ कि सन्तति-उत्पादन इन्द्रिय-गत अभिव्यक्ति अथवा आनन्द के बिना सम्भव नहीं है। और वह इन्द्रिय-गत आनन्द हमारे विकास के उस तल की चीज है, जिसे छूट जाना है। तो क्या फिर एक समय मानव-विकास की ऐसी स्थिति नहीं आ सकती कि जब उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही उस इन्द्रिय-गत आनन्द को पार कर जाय जो सन्तति-उत्पादन के

लिए आवश्यक हैं। तब क्या मनुष्य किसी अकर्त्तव्य का भागी होगा ?

उत्तर—इन्द्रियों की अभिव्यक्ति कोई वस्तु नहीं है,—अभिव्यक्ति उन इन्द्रियों द्वारा होती है। अर्थात् कोई आनन्द ऐसा नहीं है जिसमें इन्द्रियाँ भाग न लेती हों। इसलिए, जिसको इन्द्रियातीत कहा, उसके अर्थ यह नहीं हैं कि इन्द्रियों का उस आनन्द में असहयोग होगा, अर्थ यह है कि वह आनन्द अधिक व्यापक होगा और अधिक गहरा होगा। वह जल्दी टूटेगा नहीं और प्रतिक्रिया भी उत्पन्न नहीं करेगा। जो समय अथवा पात्र की दृष्टि जितना ही संकीर्ण (Exclusive) है, उसे (समझाने के लिए) उतना ही ऐन्द्रियिक कहना होता है। यों तो मनोविज्ञान बतलाएगा कि उसका मूल भी इन्द्रिय-विषयों में न होकर कहीं गहरे (Subconscious) में होता है।

यह ठीक है कि सन्तति-उत्पादन अनिवार्य-रूप से वैषयिक कर्म है। उसमें पूर्ण अनासक्ति असम्भव है। इसलिए, एक जगह जाकर प्रेमी (महा-प्रेमधारी) पुरुष विषय-प्रसंग के अयोग्य ही हो जाता है। ऐसी स्थिति समाज के लिए लाभकर ही होगी, क्योंकि उस व्यक्ति का प्रेम स्थूल-संभोग में तनिक भी तृप्ति न पाएगा और इसलिए समाज-हित के प्रति वह प्रेम अधिकाधिक विवश भाव से बहेगा।

प्रश्न—मानव-विकास की उपर्युक्त स्थिति तक पहुँचने का विचार करके, मानव-समाज के किसी समय सर्वथा ही लोप हो जाने की सम्भावना है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—सम्भावना को क्यों हम छोटी करें। उस सम्भावना से डरने की जरूरत नहीं है। महान् वैज्ञानिक कहते हैं कि जाने कितने लाख वर्ष बाद यह हमारी पृथ्वी ही न रहेगी। इस पर का जीवन (प्राणी-जीवन) तो उससे पहले ही निबट चुकेगा। अगर ऐसा होने वाला हो, तो क्या उससे आज के हम मानव-प्राणी डरें ? कौन चीज नाशवान् नहीं है ? इसलिए किसी के समाप्त होने की आशंका,—चाहे फिर वह हमारा समाज ही हो,

चाहे हमारा कोई मान्य देवता हो—हमें क्यों विचलित करे ?

और मुक्ति में मृत्यु गर्भित है। मोक्ष की बौद्ध-संज्ञा निर्वाण है। समाज जिस क्षण लुप्त होगा, उसी क्षण वह अपनी सार्थकता पा चुका होगा, यह मान लेने में हमें क्यों कुछ कष्ट होना चाहिए ?

प्रश्न—खैर, दुनिया न रहे न सही, किन्तु क्या सुख-दुख का विचार करते हुए सन्तति को जन्म देकर मनुष्य एक निरा पाप अथवा अन्याय ही नहीं करता है ? उसे अपनी ऐन्द्रियिक अभिव्यक्ति का हक भले ही हासिल हो, किन्तु, दुनिया के प्रपंच में डालने के लिए जीवों को जन्म देने का उसको क्या अधिकार है ? और इस तरह क्या हम नहीं कह सकते कि सन्तति न उत्पन्न करने के लिए भी वह ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करे, और ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन यदि न भी करे, तो कम-से-कम सन्तति-उत्पादन न करे ?

उत्तर—सन्तति उत्पन्न न करने की इच्छा मौलिक नहीं है, वह प्रतिक्रिया है। आदमी अपनी सन्तति में जीता है और कोई आदमी मरना नहीं चाहता। यानी मनुष्य-मात्र सन्तति द्वारा मानो अपने जीवन को सदा कायम रखना चाहता है।

सन्तति-उत्पादन पाप है, यह शायद इस लिहाज से कहा या समझा जा सकता है कि अब भी काफी आदमी हैं जिनको भर-पेट खाना नहीं मिलता और जो मानव-समाज के लिए रोग-रूप हैं। जब अब भी मनुष्यों की पर्याप्त से अधिक संख्या है, तो सन्तति-उत्पादन द्वारा उसमें और बढ़वारी करना कौन बुद्धिमत्ता है ?

तो जिस तल का यह तर्क है, सन्तति-उत्पादन के प्रश्न का उस तल पर विवेचन समीचीन न होगा। हम मनुष्य-जाति का गणित के सिद्धान्तों से संचालन नहीं कर सकते। आंकिक सिद्धान्तों से मानव-कल्याण का निर्माण न होगा। यह कहकर कि बूढ़ों से हमें काफी प्रतिफल प्राप्त नहीं होता है, इसलिए उन बूढ़ों को एक साथ यम-घाट से पार उतार दिया जाय,—

सम्भव है कि प्रयोजन को (Utility को) ध्यान में रखकर कोई शास्त्र-गम्भीरता से इसी प्रकार का उपाय सुझाने चले। पर जिस रोज ऐसी बात आचरणीय ठहराई जायगी वह दिन प्रलय का भी होगा। पर मैं जानता हूँ कि वह दिन कभी न होगा। क्योंकि विकास अवश्यम्भावी है और मनुष्य पशु नहीं हो सकता और भविष्य उजाले का नाम है।

इसलिए, सन्तति-उत्पादन यदि सामाजिक दृष्टि से अनुपादेय भी हो जावे, तो भी हम उसको कृत्रिम साधनों से रोककर लाभ नहीं उठा सकेंगे। संयम ही सन्तति-निरोध का प्रथम और अन्तिम कारगर उपाय है।

भोग भोगकर और फिर भी किसी चतुराई से प्रजनन को रोककर लोग अपने पैरों कुल्हाड़ी ही मारेंगे। मनुष्य को एकत्रित भाव में रखने वाली वस्तु है नैतिकता। कृत्रिम निरोध अनैतिक है।

लेकिन, प्रकृति के कामों के बारे में हम भ्रम में न रहें। बरसात होती है तो चारों ओर कितनी हरियाली दीखती है! जाने कितने प्रकार के पौधे धरती फोड़कर अपना सिर ऊपर उठा उठते हैं! लेकिन, क्या वे सब ही जीते हैं? अधिकांश उनमें उगते नहीं कि मर भी जाते हैं। कुछ विरले ही उनमें पुष्ट वृक्ष बनने का अवसर पाते हैं। क्या यहाँ हम यह कहें कि प्रकृति ने उन पौधों को उगाकर पाप किया जिनको आगे जाकर वृक्ष नहीं बनना था? यह कहना मेरी समझ में कोई विशेष महत्त्व की बात न होगी।

तब फिर पाप-पुण्य की कैसी विवेचना और कैसा समाधान! कानून बनाकर प्रजनन नहीं रोका जा सकता। जिस हद तक रोका जायगा, उसी अनुपात में अनाचार भी फैलेगा। हम काम-प्रवृत्ति को कुचलकर नष्ट नहीं कर सकते और न उसके परिणाम को नष्ट कर सकते हैं। हाँ, उस वृत्ति को अधिक चरितार्थता के मार्ग पर डाला जा सकता है, और उसके फल को भी उन्नत किया जा सकता है। सृजन शील कला (Creative Art) वासना का सात्त्विक रूप (Sublimated passion) है। क्या यह कहना गलत होगा कि जिसको प्रतिभा कहा जाता है, वह भी उसी मूल (काम-) शक्ति का परिवर्तित (उन्नत) प्रकार है।

प्रश्न—किन्तु, प्रश्न है कि अच्छे-से-अच्छे संसार की कल्पना करते हुए भी आप मनुष्य को इस बात का अधिकारी कैसे मानते हैं कि वह अपनी बहकी की इच्छा-पूर्त्ति के लिए,—वह इच्छा भले ही वंश चलाने की हो,—संतति को जन्म दे ? दूसरे, जब संसार रहने लायक नहीं है, तब क्या यह विवेक-युक्त नहीं कहा जा सकता कि वह संतति को जन्म न दे ?

उत्तर—कहा जा सकता है। लेकिन, इसका तो यही मतलब हुआ कि क्या ब्रह्मचर्य का उपदेश नहीं दिया जा सकता ? और कि क्या विषय-भोगों के दुखद परिणामों की याद दिलाकर उस ब्रह्मचर्य के उपदेश का पोषण नहीं किया जा सकता ? मैं समझता हूँ कि यह सब-कुछ किया जा सकता है, किया जाता है, और करना उचित है।

किन्तु, प्रश्न यह शेष रहता है कि सम्भोग के परिणामों को (जिनको आप बुरा करार देते हैं) ऊपर के प्रकार के उपदेश-आदेश आदि से आगे और अलग क्या और भी उपायों से रोकने की चेष्टा की जा सकती है, और क्या वह चेष्टा उचित है ?

तो वहाँ मेरा उत्तर है, 'नहीं'। दुनिया पहले ही से जीने के लिए सुखकर जगह नहीं है, इसलिए, किस अधिकार से हम एक नवीन प्राणी को यहाँ पैदा करके उसे जीवन के दुख उठाने के लिए लाचार करें ? और वह पैदा इसीलिए हो न कि एक दिन मरे !—तो मैं कहता हूँ, कि यह और भी बड़ा कारण है कि हम विषय-भोगों से निवृत्ति पाएँ।

लेकिन, इस तर्क के सहारे काम-वासना से निवृत्ति कहाँ प्राप्त हो सकी है ? क्या वैसी निवृत्ति अब तक कभी कहीं हो पाई है ? अतः क्या हम प्रजनन को निन्दित ठहराकर उसे हठपूर्वक रोकने की चेष्टा न करें ? तो मेरा उत्तर है कि चाहे तो ऐसी चेष्टा कर देखें, पर वह अकारथ होगी।

सम्भोग को जो उत्तरोत्तर संयम से बाँधने का प्रयास मानव-जाति करती चली आई है, उसके माने ही यह हैं कि अनर्गल प्रजनन रुके। किन्तु, कृत्रिम सन्तति-निरोध अगली सन्तति को रोके अथवा न रोके, पर इस सन्तति

को तो वह निर्बल ही बनाकर छोड़ेगा। कहा जा सकता है कि उससे दोहरा नुकसान है। अगर उस प्रकार के सन्तति-निरोध को लाभ भी कह दिया जाय, जो कि असल में वह है नहीं, तो भी उससे होने वाली तात्कालिक हानि तो स्पष्ट ही है।

मैं स्पष्टतया संयम के अतिरिक्त दूसरे उपायों से गर्भ-निरोध के पक्ष में नहीं हूँ।

प्रश्न—क्या आप किसी ऐसी कामावस्था को मानने के लिए तैयार हैं जब मनुष्य का अपने को खाली (purge) करना जरूरी और वांछनीय ही हो ?

उत्तर—हाँ, जो भोग तात्कालिक सामाजिक विधान को बिना तोड़े भोगा जा सकता है वह नाजायज नहीं है। उससे आगे बढ़ने का हक मनुष्य को नहीं है।

यदि प्रश्न हो कि क्या अपराधी के लिए अपराध जरूरी है, तो इसका क्या उत्तर बनेगा ? जरूरी न बन गया होता तो अपराध होता ही क्यों ? लेकिन, इतना कहकर भी वह अपराध दंडनीय फिर भी ठहरता है। सामाजिक दण्ड-विधान के (Penal Code के) दायरे में जो आ जाय वह अपराध कर्म, चाहे वह अपराधी के दृष्टिकोण से लाचारी का परिणाम ही हो, क्या उस कारण दोषहीन हो जायगा ? एक व्यक्ति अपने बच्चों की भूख न सह सकने के कारण चोरी का अपराध करता है। इस हालत में चोरी को जरूरी कहा जाय या नहीं ? शायद है कि अदालती जज भी वैसी दारुण भूख की परिस्थिति में चोरी के अतिरिक्त और कुछ न कर सकता। फिर भी, चोरी-चोरी समझी जायगी और परिस्थितियों के कारण वह व्यक्ति निर्दोष न कहलाएगा। अपराध-विज्ञान अधिकाधिक हमको यह बतलाता जाता है कि उस अपराध-वृत्ति से छुटकारा पाने के लिए यह अधिक संगत है कि हम उस अपराध को अपराधी के स्थान से देखें, न कि जज के स्थान से। तब अपराधी को दण्ड देने के बजाय अपराध के मूल को निर्मूल करने की प्रेरणा अधिक होगी।

इसीलिए, ऊपर के उदाहरण में मैं यह कहना चाहूँगा कि काम-वासना को निषेध- नियमों से बाँधने से अधिक यदि किन्हीं उपयोगी प्रणालियों में डाल देने की चेष्टा की जावे, तो यह अधिक कार्यकारी होगा। जिसका मतलब यह होता है कि नैतिकता की वृद्धि की दृष्टि से हम सामाजिक संघटन और उसके आर्थिक बँटवारे की विषमता को न्यून-से-न्यूनतम करें। जीवन समूचा एक तत्व है और आर्थिक दुश्चिन्ता से घिरने पर नैतिक स्थिरता और उच्चता दुर्लभ ही बनती है।

प्रश्न—सम्भोग में संयम एक साधना है और सांस्कृतिक विकास द्वारा ही विकसित होने वाली चीज है। उसकी सिद्धि होने तक कुछ-न-कुछ असंयम हो ही जाता है। किन्तु, उस कम-से-कम एवं अनिवार्य असंयम को अवांछनीय संतति-उत्पादन का कारण भी क्यों बनने दिया जाय, और कृत्रिम उपाय द्वारा ही क्यों न उसके दुष्परिणाम से रक्षा की जाय ?

उत्तर—कौन जाने जिस संतति को अवांछनीय कहकर हम कृत्रिम साधनों से रोकते हैं, वह किस हद तक अवांछनीय है। क्या इस निर्णय में हमारा मोह भी नहीं हो सकता ? मैं देखता हूँ कि समर्थ दम्पति, जिनके पास संपन्नता है और शिक्षा है, वे अपनी स्वच्छन्दता बनाए रखने के लिए और सम्भोग निर्बाध रखने की इच्छा से कृत्रिम उपायों से सन्तति से बचते हैं। हमको अपने कर्म-फल से बचने का हक नहीं है। वैसा बचाव सम्भव भी नहीं है। स्वाभाविक फल से बचेंगे तो अस्वाभाविक परिणाम हम पर हावी हो जायँगे। जिसको दुष्फल कहा (अर्थात् संतति) उसको संयम से बचाने की क्षमता जब तक नहीं है, तब तक चलो, अपनी चतुराई के बल से बच जावें, यह कहना अपने को धोखा देना ही है।

अव्वल तो कौन जाने कि कौन बच्चा आगे क्या कुछ निकलेगा। गरीबों के बच्चों ने इतिहास में क्या कम चमत्कार दिखाये हैं ? इसलिए, अव्वल तो यही संदिग्ध है कि सन्तति-उत्पादन दुनिया की दृष्टि से अनिष्ट ही है। पर, यह मान भी लें, तो मैं समझता हूँ कि उसूल तो यही पक्का है कि आँख

भुगतने पर खुलती है। संतति बढ़ती जायगी तो माता-पिताओं के निकट संयम की आवश्यकता भी प्रकट होती जायगी। फिर भी उसके पालन में यदि वे शिथिल होंगे, तो और क्लेश उठायँगे। आखिर उन्हें आखें खोलनी ही होंगी। नहीं आखें खोलेंगे तो सम्भव है कि बिलखते ही उनके सब दिन कटें।

और भाई, यह समझना भयंकर है कि दुनिया को बच्चों की और जवानों की जरूरत नहीं है। वे सदा जरूरी हैं और चूँकि आज के बच्चे कल जवान और कल के जवान परसों अधेड़ हो जाते हैं, इसलिए, सदा नवीन संतति चाहिए जो कि मौत पर जीवन के विजय की घोषणा हो।

प्रश्न—संतति-उत्पादन के प्रति प्रायः महान् पुरुषों को अरुचि होती देखी गई है और संस्कृति-विकास के हेतु वैसा होना स्वाभाविक भी है। किन्तु, समाज यदि उनकी संतति को देखना चाहती है, तो क्या उसकी यह माँग अनुचित होगी और उसके पूरी किए जाने की कोई गुंजायश है?

उत्तर—जिनको महापुरुष कहा जाय, वे अपने पूरे स्वत्व का ही समाज को दान कर जाते हैं। उससे अधिक भी समाज उनसे कुछ माँग सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। पुत्र-दान आत्म-दान से बड़ा नहीं है। जो एक पुत्र को अपना बनाता है, वह मानो उसी कारण अन्य बालकों को पराया भी बना देता है। क्या आप चाहते हैं कि सभी इतने संकीर्ण हों? अर्थात् कोई उतने व्यापक व्यक्तित्व का पुरुष न हो जो अपना आत्मज हुए बिना भी सभी बालकों को अपना मान सके?

एक और भी बात इसी प्रसंग में याद रखने योग्य है। वह यह कि विचक्षण पुरुषों की सन्तान अधिकाँश अयोग्य होती है। ऐसा क्यों होता है, इसका जवाब देने की कोशिश मैं नहीं करना चाहता। अकारण तो कभी कुछ होता नहीं। इसलिए, कौन जाने कि प्रतिभावान् की संतान के हीन होने में कोई कार्य-कारण संगति भी हो। अतएव, इस मोह की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक प्रतिभाशाली पुरुष को पिता देखने का समाज आग्रह रक्खे।

११—सन्तति, स्टेट और दाम्पत्य

प्रश्न—सन्तति-उत्पादन राष्ट्र के निर्माण में एक अहमियत रखता है। इसलिए वह राष्ट्र का प्रश्न भी हो जाता है। तो क्या सन्तति-उत्पादन में राष्ट्र का हस्तक्षेप उचित और आवश्यक नहीं है ?

उत्तर—राष्ट्र का इस मामले से कुछ-न-कुछ तो सम्बन्ध है ही, किन्तु, सब व्यक्तियों को पिता बने हुए देखने का जिम्मा राष्ट्र का हो, सो नहीं। राष्ट्र-कर्म विविध-रूप है। गृहस्थ उसमें काम आता है तो संन्यासी राष्ट्र के उससे भी अधिक काम आ सकता है। फिर राष्ट्र-हित संन्यासी को गृहस्थी क्यों बनाना चाहेगा ?

इस सम्बन्ध में कहना होगा कि स्टेट वहाँ तो हस्तक्षेप कर सकती है जहाँ कोई व्यक्ति असामाजिकता को बढ़ाता हो अथवा समाज को दूषित बनाता हो। यथा, स्टेट के लिए जरूरी है कि वह रोगियों और विक्षिप्तों के आराम और इलाज के लिए अस्पतालों का प्रबन्ध करे। वहाँ रहकर अपने रोग से मुक्त होने की वे सब सुविधा पायें और उस रोग को समाज में प्रविष्ट करने की सुविधा वहाँ उन्हें न हो। जब तक वे एक खास हद तक रोग-मुक्त नहीं हो जाते, स्टेट उन्हें अधिकार-पूर्वक प्रजोत्पादन से अलग रख सकती है। इसी तरह अन्य असामाजिक प्रवृत्तियों को फैलने से रोका जा सकता है। किन्तु यहाँ हम कुछ मौलिक प्रश्न के किनारे पहुँच गये हैं। वह प्रश्न है व्यक्ति-धर्म और समुदाय-धर्म का सम्बन्ध। प्रतिभा भी थोड़ी-बहुत असामाजिक वस्तु है। इसलिए शायद हरएक प्रतिभावान् मनुष्य को समाज की अवज्ञा प्राप्त होती है। समाज आरम्भ में उससे भरसक बचता है, उससे आशंकित रहता है और मैं कह सकता हूँ कि प्रतिभा का और समाज-विधान

का जरूर संघर्ष चलता है। मैं इस हक में नहीं हूँ कि सामाजिक विधान पहले से प्रतिमा के स्वच्छन्द वर्तन के लिए अपने में छूट रक्खे। प्रतिमा भी एक प्रकार का पागलपन ही है। मैं समझता हूँ कि प्रतिभावान् मनुष्य के लिए लगभग वैसा ही प्रबन्ध होना चाहिए जैसा कि साधारणतया एक विशिष्ट राजनीतिक अपराधी के लिए होता है। उसका भार स्टेट को लेना चाहिए। आशय यह कि उसके सामाजिक सम्पर्क के बारे में उस पर प्रतिबन्ध आवश्यक हो सकते हैं। आप देखेंगे कि प्रतिभाशाली लोग स्त्री-प्रेम के विषय में कुछ दुर्भागी होते हैं। जो नारी उन्हें प्रेम करे, वह पहले से अपने को अभागिनी मान ले। इस लिहाज से मुझे मालूम होता है कि यदि प्रतिभाशाली पुरुषों के सामाजिक संसर्ग पर स्टेट प्रतिबन्ध न भी लगाये, तो भी वे स्वयं अपने अन्दर से ही ऐसी अड़चनें खड़ी कर लेते हैं कि उनके संसर्ग से समाज काफी हद तक बचा रहता है। वे बेचारे निसर्ग से ही कुछ एकान्त-सेवी-से होते हैं। उनका सम्पर्क मुश्किल से झेला जाता है। वे या तो अहंकारी या अतिशय लज्जाशील होते हैं या—खैर, यह विषय कि समाज किसके मामले में कहाँ तक हस्तक्षेप कर सकता है और कहाँ नहीं कर सकता, इतना व्यावहारिक है कि ऐन मौके से पहले इस विषय में कोई फैसला करना ठीक न होगा।

कोई वजह नहीं है कि क्रान्तिकारी को एक स्टेट क्यों न जेल में बन्द कर दे। चाहे भवितव्य यही हो कि वह अपराधी बनकर जेल पाने वाला व्यक्ति ही थोड़े दिनों बाद शासनाधिकारी बन आए।

ऐसे उदाहरण इतिहास में विरले नहीं हैं। आज का राजा कल फाँसी पा गया है, उसी तरह कल का कैदी आँखों आगे प्रेसीडेण्ट बन गया है। किन्तु उसके प्रेसिडेण्ट बनने का समय आने से पहले कोई समाज या सरकार उसे क्यों जेल में बन्द करने का अधिकार नहीं रखती, यह मेरी समझ में नहीं आता। इसी तरह मैं यह मानता हूँ कि राजा जब तक राजा है तब तक समाज के लिए मान्य है, चाहे अगले क्षण वह अपराधी ठहराया जाकर सूली ही चढ़ने वाला हो। व्यक्ति और समुदाय के धर्म में निरन्तर संघर्ष

चलता है और उसी का फल प्रगति है। ईसा के मन में समुदाय की भलाई ही थी, लेकिन तात्कालिक समाज ने उसे सूली दे दी। सूली देने के बाद उस समाज को चेत हुआ और ईसा एक महान् धर्म का प्रवर्तक हुआ। भविष्य में चूँकि ईसा एक धर्म-प्रवर्तक होने वाला था, इस हेतु से ईसा के सम-सामायिक समाज का उसे सूली देने का अधिकार मेरी दृष्टि में तनिक भी कम नहीं होता। किन्तु, उसके साथ मेरा कहना इतना ही है, कि, समाज के हाथों सूली पाते हुए भी, उसी समाज की भलाई चाहने का और उस भलाई को अपने तरीके से करते जाने का ईसा का अधिकार भी उसी भाँति अक्षुण्ण मानना होगा। व्यक्ति और समुदाय के धर्मों में संघर्ष होकर भी उनमें से कोई स्वधर्म नहीं छोड़ सकता। कानून इसलिए है कि व्यक्ति को रोके, किन्तु व्यक्ति इसलिए है कि सब कानूनों के ऊपर जो एक कानून है, और जिसकी ज्योति उसके भीतर है, उसकी तरफ चलता ही चले, किसी के रोके न रुके।

इस भाँति व्यक्ति की गति और कानून की स्थिति में टक्कर उपस्थित होती ही रहती है।

किसी को इनमें हारने का अधिकार नहीं है। स्थिति भी आवश्यक है, गति भी आवश्यक है। फिर भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। इसी युद्ध में से जीवन सम्पन्न होता है।

इसलिए कब क्या हो, इसका जवाब तब और तब ही दिया जा सकता है,—यानी इसका जवाब जुदा केस में जुदा होगा और बिना सामने कोई केस हुए वह जवाब न होना ही अच्छा है।

प्रश्न—किन्तु सन्तति के दायित्व से बचने-मात्र के हेतु से जो लोग उस ओर निश्चेष्ट हो गये हों, क्या स्टेट उन्हें अपराधी समझे और ऐसा न होने को बाध्य करे?

उत्तर—कोई कर्म असामाजिकता की लहर फैलाये, तभी वह स्टेट के लिए विचारणीय बनता है, इससे पहले नहीं। विवाह सामाजिक कर्म है सही, लेकिन विवाह होता तो व्यक्तियों का है। और पहले कहा जा चुका है कि सरकार वह उतनी ही अधिक सफल है जिसे जितनी कम नियन्त्रण की

आवश्यकता है। इस लिहाज से इस सम्बन्ध में सरकारी हस्तक्षेप के मैं विशेष हक में नहीं हूँ।

प्रश्न—सन्तति के लालन-पालन और शिक्षण का अधिकार आपके विचार से माता-पिता की मर्जी के अनुसार होना चाहिए, अथवा उस पर स्टेट का अधिकार होना चाहिए?

उत्तर—स्टेट की मर्जी का क्या अर्थ होता है? 'स्टेट' शब्द को हम ऐसे व्यवहार में न लाएँ कि मानो स्टेट कोई व्यक्ति है या कि वह जन-सामान्य से अलग कोई सत्ता है। 'शिक्षा' का मतलब है व्यक्ति का समाजोपयोगी विकास। व्यक्ति की उपयोगिता पहले अपने से और घर से आरम्भ होती है, यद्यपि वह वहाँ समाप्त नहीं होती। यानी माता-पिता और परिवार से आगे बढ़कर क्रम-क्रम से पुत्र को नागरिक होकर समाज और जाति के लिए भी उपयोगी होना पड़ता है। इसलिए क्यों न कहा जाय कि बालक की आरम्भिक शिक्षा तो स्वभावतः माता-पिता के द्वारा ही होती है। यह नहीं समझा जा सकता कि जन्म के दिन से ही बच्चा कुछ सीखना और पाना आरम्भ नहीं कर देता। जब बालक औरों से मिलने-जुलने लगे, समझिए कि पाँच से सात वर्ष की अवस्था के मध्य, तब वह फिर कुछ सार्वजनिक रूप में सीखने का पात्र हो जाता है। यानी अब उसे परिवार के साथ-साथ एक बड़े समुदाय के बीच में रहने का अवसर मिलना चाहिए। उसी को कहिए पाठशाला अथवा स्कूल। शायद ऐसी शिक्षा का विचार करते समय हमारे मन में दो ही सत्ताओं का विचार रहता है: एक स्टेट, दूसरे बालक का अभिभावक। लेकिन मेरे खयाल में स्टेट से इधर और परिवार से आगे बढ़कर और भी सांघिक संस्थाएँ (=Public Institutions) होती हैं। वे अधिक आदर्श-प्राण होती हैं, क्योंकि शासन-चिंता से वे मुक्त होती हैं। मैं समझता हूँ, सबसे अच्छी बात तो यह हो कि ऐसे सार्वजनिक हित का ध्यान रखने वाले निस्पृह लोग अथवा उनका संघ अपने-आप में शिक्षण-संस्थाओं के केन्द्र बन जायँ।

ऐसा होने तक स्पष्ट रूप में स्टेट का कर्तव्य होता ही है कि वह बच्चों

की प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करे। वह शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क होनी चाहिए।

'अनिवार्य' से यह आशय नहीं कि कोई बच्चा सरकारी स्कूल के अतिरिक्त और किसी प्रकार कुछ सीख न सके, अथवा कि स्वाधीन प्रयोग का अवकाश न रह पाए। आशय यही कि कोई बालक शिक्षा से वंचित न रहने पावे।

प्रश्न—किन्हीं अभिभावकों के और राष्ट्र के (=स्टेट के) जीवन-सम्बन्धी आदर्श में विचार-भेद हो सकता है। उस समय बच्चों के जीवन-निर्माण का अधिकार अभिभावकों का है अथवा स्टेट का ?

उत्तर—अमुक अवस्था तक अभिभावकों से बच्चों की जिम्मेदारी नहीं छीनी जा सकती। कुछ आगे जाकर बेशक राष्ट्र उस जिम्मेदारी को बँटाने लगता है। अभिभावकों की ओर से यह खतरा है कि वह व्यक्तिगत अथवा परिवार-गत स्वार्थों की परिभाषा में बालक के भविष्य को देखना और बाँधना चाहने लगें। तब राष्ट्र की ओर से भी यह आशंका है कि वह अपनी पर-राष्ट्र-नीति की वेदी पर उपयुक्त बलिपात्र बनने की आशा बच्चों से रखें। दोनों तरफ ही अनिष्ट का खतरा है, इसलिए लगे हाथ यह नहीं कहा जा सकता कि बच्चे किसी की मिल्कियत हैं, अभिभावकों की अथवा कि सरकार की। असल में तो बच्चे मिल्कियत किसी की नहीं हैं, क्योंकि वे चैतन्य प्राणी हैं। अतः उनकी शिक्षा का बन्दोबस्त कुछ ऐसा होना चाहिए जो कि उन्हें एक ही साथ योग्य पुत्र और योग्य नागरिक बनाए, जिससे कि पारिवारिकता निबाहने में नागरिकता का हनन न हो, और सार्वजनिक सेवा के व्यवसाय में गृहस्थ-धर्म का अन्त न हो जाय।

सरकार अपनी लड़ाइयाँ लड़ने के लिए सिपाही चाहती है, माँ-बाप पारिवारिक परिग्रह बढ़ाने के लिए, जैसे भी हो, मोटी कमाई चाहते हैं। शिक्षा का उद्देश्य न लड़ाई में मरना-मारना है और न कमाई को मोटा करते जाना है।

इसलिए जब-जब राष्ट्र अथवा अभिभावक अपनी अर्थ-स्पृहा की तृप्ति सन्तति से चाहें, तब वे शिक्षा के संचालन के अधिकार के अपात्र भी हो जाते हैं। इसीसे तो ऊपर कहा गया है कि अच्छा यह होगा कि नैतिक निष्ठा और ब्राह्मण-वृत्ति के लोग, अथवा ऐसी सार्वजनिक संघ-संस्थाएँ, अपने को शिक्षा का केन्द्र बना लें। विकार हीन शिक्षा का मार्ग तो यही मालूम होता है।

प्रश्न—एक स्वाधीन देश की, यानी स्टेट की, सम्मति एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण, अनुभव-प्राप्त, मूल्यवान् और माननीय होनी चाहिए,—ऐसी श्रद्धा रखकर यदि व्यक्ति सन्तित को स्टेट के हाथ सौंप दे, तो क्या अकर्त्तव्य का भागी होगा?

उत्तर—विवेकपूर्वक अगर वह ऐसा करे तो इसमें कोई अकर्त्तव्य-जैसी बात नहीं है।

प्रश्न—पति-पत्नी में मत-भेद हो तो उस समय उन दोनों का क्या कर्त्तव्य होगा? अपने मत का उत्सर्ग अथवा उस पर आग्रह?

उत्तर—ज़बर्दस्त की जीत होगी।

प्रश्न—लेकिन क्या जबर्दस्त होने के लिए अपने-अपने मत पर अड़े रहना होगा? यदि ऐसा है तो निर्णय किस प्रकार होगा?

उत्तर—जिससे जो बनेगा करेगा। अहिंसक संकल्प विजयी होगा।

प्रश्न—आखिर पति-पत्नी के मत-भेद जैसी परिस्थितियों में 'करने' का अर्थ क्या लिया जाय? सत्याग्रह? तब तो पग-पग पर सत्याग्रह हुआ करेगा। इसके बजाय क्यों न उनमें से किसी एक के लिये यह नियम बना दिया जाय कि ऐसे समय उसके लिए झुकना ही आवश्यक होगा।

उत्तर—बना लो नियम। लेकिन झुकेगा वही जो कमजोर होगा। मान लो, नियम पास हो गया कि स्त्री झुके। अच्छा, नियम के मुताबिक़ स्त्री को ज़िद से रोक दिया गया। वह रुक गई। लेकिन उसका मुँह तो खट्टा बन ही आया। उसको तो नियम से नहीं रोका जा सकता न? उस खट्टे बने मुँह को देखकर पुरुष का चित्त पानी हो गया, या दहल आया। बस, इस

पर उसने अपना आग्रह छोड़ दिया। तब उस हालत में क्या हो? इसलिए, सच मानिए, कि नियम चाहे एक न हो, विजय अहिंसक संकल्प की ही होगी। और कोरे अथवा अस्थिर मिज़ाज की हार होगी। इसमें स्त्री-पुरुष का सवाल नहीं है।

प्रश्न—समाज-सेवा के हेतु आश्रित परिवार को कष्ट देने का हक़ क्या मनुष्य को हो सकता है?

उत्तर—हक़ कर्तव्य में से आता है। यदि कर्त्तव्य-भावना से किया गया कर्म किसी के लिए थोड़े-बहुत कष्ट का कारण होता है, तो क्या बचाव है?

प्रश्न—किन्तु, क्या उन आश्रितों के प्रति उसका कुछ कर्त्तव्य नहीं होता?

उत्तर—'किं कर्त्तव्यमकर्त्तव्यं कवयोऽप्यत्र मोहिताः', यह गीताजी का कथन है। तब मैं क्या चीज़ हूँ?

१२—सौन्दर्य

प्रश्न—आपने पहले बताया है कि विवाह-संयोग का निर्णय वाह्य आकर्षण से प्रेरित नहीं होना चाहिए। किन्तु, विवाह होने पर क्या उनके लिए शारीरिक सौन्दर्य की परवाह करना पाप होगा ?

उत्तर—नहीं, शारीरिक सौन्दर्य की परवाह करना न विवाह से पहले न विवाह के बाद पाप है। किन्तु सौन्दर्य स्वास्थ्य से अलग और क्या है ? अस्वस्थ रहने का या स्वास्थ्य के बारे में लापरवाह रहने का हक किसी को नहीं है।

प्रश्न—किन्तु, सौन्दर्य के लिए आकर्षण आवश्यक है, और आकर्षण ही उसकी कसौटी है। तो क्या सौन्दर्य की रक्षा आकर्षण के लिए की जाय ? यदि की जाय तो क्या यह ऐन्द्रियिक विषय की पुष्टि करना न होगा ?

उत्तर—सौन्दर्य में आकर्षण आवश्यक है। शारीरिक सौन्दर्य, किन्तु, शरीर की अमुक बनावट के कारण नहीं होता। सौन्दर्य का सम्बन्ध आकार से नहीं है। सौन्दर्य भावात्मक तत्व है। इसलिए तात्विक दृष्टि से सौन्दर्य के साथ 'शारीरिक' विशेषण लगाना उपयुक्त नहीं। किसी सुन्दर कन्या को बिजली छुआ दी जाय, तो इससे आकार तो नहीं बिगड़ेगा, केवल अन्दर की जान चली जायगी। किन्तु, इस प्रकार, क्या फिर उस बे-जान देह को भी सुन्दर कहा जा सकेगा ?

अतः सौन्दर्य एक चैतन्य-भाव है। जो शारीरिक तल पर देखते और ग्रहण करते हैं, उनकी चेतना प्रधानता से शारीरिक तल पर है, ऐसा समझना चाहिए। असल में तो दीखने वाले सौन्दर्य के भीतर से स्थूल दृष्टि से न दीख सकने योग्य ही कुछ व्यक्त हो रहा है। अर्थात्, रूप भीतर से

गुण है। जो अव्यक्त है उसे गुण कहा, तब उसी के व्यक्त भाव को रूप कह दिया। गुण इन्द्रिय-ग्राह्य होकर रूपमय हो जाता है। रूप को गुण की अपेक्षा में, अर्थात् उसे सम्पूर्णता में, देखने से दैहिक ममत्व नहीं जागता। रूप को गुण-भाव में देखने की क्षमता न होने से सौन्दर्य दैहिक और रूपज जँचने लगता है। सौन्दर्य का इसमें दोष नहीं है। दोष मानव-बुद्धि का है जो दैहिक विकार से गँसी रहती है।

प्रश्न—उपर्युक्त बिजली छुआने के उदाहरण में यदि साथ ही एक भद्दी शक्ल की लड़की को भी बिजली छुआकर निर्जीव किया जाय, तो क्या तब उस भद्दी और उस सुन्दर लड़की के रूप में सौन्दर्य के किसी अन्तर का भान न हो सकेगा ?

उत्तर—आप देखेंगे कि उचित उम्र पर आकर भद्दी लगने वाली शक्ल भी बहुत कुछ आकर्षक हो आती है। वह क्यों ? यौवनावस्था में जो आकर्षण होता है वह और अवस्था में क्यों नहीं होता ? मँगोलियन चेहरा हमें शायद ठीक न जँचे, पर क्या इस कारण मँगोलियन जाति में परस्पर आकर्षण का अभाव अनुभव होता होगा ? ऐसे ही नीग्रो-सौन्दर्य की भी बात समझनी चाहिए। इस सबसे, सौन्दर्य आपेक्षिक है, यह तो मान ही लिया जायगा।

प्रश्न—सौन्दर्य की रेखाएँ भावों से निरूपित होती हैं। किन्तु, क्या रेखाएँ ही उन भावों को प्रदर्शित करने के लिए सफलता-पूर्वक नहीं बनाई जा सकती ? चित्रकला और अभिनय क्या इसका प्रमाण नहीं हैं ?

उत्तर—मुझे मालूम होता है कि सौन्दर्य अन्तरंग आकांक्षा का प्रतिबिम्ब है। अपने आपमें वह बिम्ब और दीखने वाले की दृष्टि से वह ही प्रतिबिम्ब है। मेरे भीतर का भाव, जो भी वह हो, मुझ पर बिम्बित हुए बिना नहीं रह सकता। वह मेरी झलक ही है मेरा सौन्दर्य। अगर वह झलक दूसरे में कुछ तरंग पैदा कर देती है, तो वही उसके निकट होगी सौन्दर्यानुभूति।

अब चाहे रेखाएँ हों, चाहे पत्थर की मूरत हो, और चाहे ध्वनि अथवा शब्द या अभिनय हों, सभी में वह कसौटी काम दे सकती है। रेखाओं अथवा अन्य उपादानों द्वारा मैं जितना दूसरे के हृदय को तरंगित कर सकता हूँ, उतना ही मैं उन रेखाओं अथवा अन्य उपादानों को सौन्दर्य दे सका हूँ, ऐसा कहा जा सकता है। मेरा मत है कि रेखाएँ ड्राइंग के सहारे नहीं, बल्कि सुन्दर बन सकेंगी तो मेरी अपनी अन्तरंग आकांक्षा को अभिव्यक्त करने के कारण ही सुन्दर बन सकेंगी।

इससे मैं कहूँगा कि सौन्दर्य आकांक्षा का प्रतिबिम्ब है।

प्रश्न—एक नवजात बच्चे के मुख पर दर्शक को अपनी किसी आकांक्षा का प्रतिबिम्ब तो मिलता हो, किन्तु उस प्रतिबिम्ब के पीछे भी क्या कोई अन्तरंग आकांक्षा होती है?

उत्तर—जरूर होती होगी। बच्चे में जगत् के प्रति अपार विस्मय का जो भाव है, वह क्या कम विमोहक है? उसी अबोध अनन्य विस्मय की झलक शिशु के चेहरे पर झलककर हमें क्यों न मोह ले? वह भाव बीमारी में मन्द हो जाता है, तब उसका सौन्दर्य भी हमें कम हुआ लगता है।

प्रश्न—सौन्दर्य, माना, अन्तरंग का प्रतिबिम्ब है, किन्तु क्या 'मेक अप' जैसी चीज से उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता? किया जा सकता है तो क्यों और क्या वह उचित है?

उत्तर—खाली 'मेक अप' से मेरे खयाल में असुन्दरता बढ़ती है। वह 'मेक अप' तो सहायक भी हो सकता है जो किन्हीं विशेष परिस्थितियों के साथ हमारे मन का तादात्म्य बढ़ाये।

मान लीजिए कि हम आठवीं शताब्दी के किसी दृश्य की अवतारणा करना चाहते हैं। तब पृष्ठ-भूमि पर आठवीं शताब्दी की कल्पना को रखकर अभिनेताओं का तदनुकूल किया हुआ 'मेक अप' सुन्दर मालूम हो सकता है। लेकिन, मान लीजिए कि अपने नित्यप्रति के व्यवहार में, यानी बीसवीं शताब्दी के बीच में, उसी चाल-ढाल और बनावट को लेकर वे अभिनेता घूमें तो इससे सुन्दरता बढ़ी हुई नहीं दीखेगी। क्योंकि तब उनको लेकर

तादात्म्य का भाव तो उत्पन्न न होगा, केवल विषमता का (=Dis-harmony) बोध ही खलेगा।

'मेक अप' इसलिए वहीं तक ठीक है जहाँ तक वह अपनी जगह पर है। हमारा कपड़े पहिनना, हजामत बनाना, साफ रहना भी क्या 'मेक अप' नहीं है। लेकिन जबर्दस्ती लुभाने के लिए रंग पोतकर घूमना भी यदि 'मेक अप' में आता हो, तो वह ज्यादती है।

प्रश्न—उदाहरणार्थ आँखों की सुन्दरता को लें। कभी उनके बड़े होने में सौन्दर्य समझा जाता है, कभी उनके विशेष आकार में और कभी उनकी भावात्मकता में। आखिर किस बात को सौन्दर्य का माप (=criterion) माना जाए? परिमाण को, आकार को, या भावात्मकता को? अथवा इन सबका किसी एक और तत्त्व में समन्वय ढूँढा जा सकता है? वह क्या है?

उत्तर—यह प्रश्न तो मैं खुद आपसे करूँ। अगर सौन्दर्य देखने वाले की भावना से अलग होकर सुन्दर प्रतीत होने वाली वस्तु में ही हो, तो प्रश्न करने को मुझे हो जायगा कि वह सौन्दर्य अमुक आकार-प्रकार में है, अथवा कि किस में है? मेरे विचार में देखने वाले के मन से अलग होकर सौन्दर्य अपने-आपमें कुछ है, यह प्रतिपादित करना कठिन होगा।

प्रश्न—देखने वाला किसी वस्तु के सौन्दर्य का निर्णायक है और इसलिए विभिन्न जनों के साथ सौन्दर्य का विभिन्न माप दण्ड हो सकता है, शायद यह आपका अभिप्राय है। किन्तु फिर भी जीवन की सत्यता भी तो कोई एक चीज है। इसलिए क्या उनमें कोई ऐसा एक तत्त्व ही व्याप्त (=pervaded) नहीं है?

उत्तर—हाँ, जरूर है। पर सत्य एक है, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति अनेक विधि क्यों नहीं हो सकती? एक ईश्वर है, बाकी सब अनेक हैं। सत्य मानवी होकर अनेक है, क्योंकि मानव अनेक हैं। सौन्दर्य का अस्तित्व अनुभूति की अपेक्षा से है। 'सौन्दर्य' शब्द ही गुणवाचक है। कहा जाता है, सौन्दर्य की पहचान के लिए 'आँखें चाहिएँ।' इसका मतलब यही

तो हुआ कि पहचानवाली आँख के अभाव में सौन्दर्य नहीं-बराबर है। आकांक्षा से अलग करके मैं सौन्दर्य का अस्तित्व नहीं मान पाता।

प्रश्न—किन्तु फिर भी, सौन्दर्य के निरूपण में मानव-अनुभूति क्या बिलकुल अकारण (=arbitrary) हो सकती है? यदि नहीं, तो सचमुच (=objective) वह कौनसा तत्त्व है जिसके अधीन उसे रहना पड़ता है?

उत्तर—शायद वही आकांक्षा का प्रतिबिम्ब वाला तत्त्व हो।

१३—आकांक्षा और आदर्श

प्रश्न—हम देखते हैं कि आकांक्षा उत्तरोत्तर किसी एक दिशा में प्रगतिशील है,—जैसे वह बराबर कुछ अधिक और अधिक खोजने में लगी है। वह क्या चीज है ?

उत्तर—अपनी आकांक्षा का प्राप्य विषय हूँ मैं स्वयं। मैं हूँ आत्मा। आत्मा है एक। एक है ईश्वर। इसलिए मेरी, तुम्हारी, सबकी सब कामना, साधना और चेष्टा का परम इष्ट है परमात्मा और परमात्मस्थिति। शायद यह बात बुद्धिहीन-सी मालूम हो। किन्तु जो मर्मगत आकांक्षा हमारा स्व-भाव है, उसको अपने से अलग करके परिभाषा दे सकना सम्भव नहीं है। और यदि बुद्धि-प्रयोग से सम्भव बनाया भी जावे तो उस परिभाषा से प्रश्न और बढ़ ही उठेंगे। मैं किस लिए जी रहा हूँ,—इसका जवाब अन्त में दो ही रूपों में हो सकेगा : एक यह कि किसी के (महासत्ता के) जिलाये मैं जी रहा हूँ। दूसरा यह कि मैं अपने लिए (अपने को पाने के लिए) जी रहा हूँ। इसके अतिरिक्त जो भी तीसरी बात कही जायगी, वह काम-चलाऊ-भर होगी, उसमें तथ्य विशेष न होगा।

प्रश्न—यदि जीने वाला ईश्वर के लिए जीता है, तो क्या आप कह सकते हैं कि संसार में प्रत्येक प्राणी ईश्वर ही को पाने के लिए लालायित होकर हरएक कार्य करता है ? यदि ऐसा है तो पाप और धर्म, आस्तिक और नास्तिक की परिभाषा क्या होगी ?

उत्तर—जानकर ईश्वर के लिए जीना बहुत कठिन है। लेकिन अगर मैं कहूँ कि जो भी हमारा इष्ट है और काम्य है, वह भी अन्ततः महासत्य का एक रूप ही है, तो इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकेगी ?

न कहो ईश्वर, कह दो भाग्य, भविष्य, विधाता, विकास। कुछ भी

कहो, लेकिन आखिर कुछ तो कहना होगा। सृष्टि का क्या उद्देश्य है? तमाम जीवन को निरुद्देश्य मानो तब तो सब झगड़ा ही समाप्त है। लेकिन अगर जीवन निरर्थक नहीं है, और उसका उद्देश्य है, तो उस उद्देश्य को क्या कहा जाय? मेरा तनिक भी आग्रह नहीं है कि ईश्वर, अथवा 'ईश्वर' नामवाची किसी प्रचलित संज्ञा से ही निपटारा हो सकता है। संज्ञा दूसरी भी हो सकती है। लेकिन उसका भाव व्यक्ति से अतीत होगा, कहने का आशय इतना ही है।

कोई अच्छा है, कोई बुरा है। कोई पापी है, कोई धर्मात्मा है। लेकिन, मरते सभी हैं। मौत के लिए पापी और धर्मात्मा एक हैं,—क्या यह कहना झूठ होगा? लेकिन फिर भी, पापी पापी है, धर्मात्मा धर्मात्मा है।

इसी तरह सब ईश्वर में समाए हुए होकर भी अगर अपने में अलग-अलग हों तो इसमें कोई अयथार्थता नहीं प्रतीत होगी।

प्रश्न—लेकिन जो जीने वाले प्राण हैं, उन्हें स्वधर्म और स्वभाव ही से हमेशा जीते रहना है। यदि उनके जीवन का कोई उद्देश्य हुआ, वह कुछ भी हो, तो उद्देश्य प्राप्त होने पर क्या प्राण निर्जीव हो जायँगे? किन्तु फिर भी हम देखते हैं कि प्राणी एक-न-एक चीज़ के पीछे रहता ही है,—क्या आप इस समस्या को सुलझायँगे?

उत्तर—उद्देश्य का खिंचाव तभी तक है जब तक वह अप्राप्त है। ईश्वर सदा अप्राप्त है, अर्थात् सदा प्राप्त होने को शेष है। ईश्वर को पाने का मतलब अपने को उसमें खोना है। 'पाने' शब्द में ही पृथकता का बोध है, यह भाषा की असमर्थता है। हमारी भाषा पृथक्-बोध पर ही सम्भव बनती है। जहाँ वैसा पार्थक्य नहीं, वहाँ द्वित्व न होने के कारण भाषा अथवा कोई भी मानवीय व्यापार सम्भव नहीं। अतः तद्विषयक चर्चा न हो सकेगी, क्योंकि वहाँ भाषा काम नहीं देगी।

प्रश्न—अपेक्षाकृत जड़ से चेतन और चेतन से और अधिक चेतन एवं सुन्दर की ओर विकास-क्रम देखते हुए क्या हम नहीं

कह सकते कि ध्येय (ईश्वर) केवल मानव के आदर्शीकृत सौन्दर्य का प्रतीक-मात्र है, अलग अथवा वस्तुतः कुछ नहीं है ?

उत्तर—कह सकते हैं। लेकिन तब ईश्वर हमसे बड़ा नहीं, बड़े हुए हम। अगर गलत है, तो वह कथन बस इसी खयाल से गलत हो सकता है कि उसमें मानव का अहंकार मिला हुआ है। नहीं तो तत्त्वतः उसमें गलती नहीं है। मानव में जो सूक्ष्मतम है, शुद्धतम है, वह ईश्वरीय है—यह तो बिल्कुल सही बात है।

प्रश्न—क्या आदर्श-भावना में छोटे-बड़े का अहंकार-भाव अनिवार्य-रूप से आता है ? यदि केवल अपनी सत्ता के आग्रह ही का (=Assertion ही का) भाव अहंकार है, तो क्या कोई भी वस्तु सत्-रूप (Existent) होकर उससे मुक्त हो सकती है ?

उत्तर—समर्पण में अहंकार मिटता है। अन्य व्यापारों में अहंकार रहता है। अहंकार बिलकुल मिट जाय तो दुई न रहे। तब शरीर ही न रहे। इसलिए पूरी तरह तो अहंकार इस जीवन में मिटता नहीं। फिर भी, जितना वह कम हो, उतना ही उत्तम है।

यह मानने का कारण नहीं है कि अहं-भाव के अभाव में निर्बलता आ जायगी। बल्कि अहं-भाव आदमी को संकीर्ण बनाता है, समर्पण व्यापक। और व्यापकता ही प्रबलता है।

प्रश्न—छोटे-बड़े का अहं-भाव एक बात है, और आदर्श का (जिसमें समर्पण आ सकता है) भाव दूसरी बात है ! क्या आप इन दोनों को त्याज्य समझते हैं ?

उत्तर—बस, जिसमें समर्पण है, वह ठीक है। त्याज्य नहीं वह विधेय है। ऊपर से वह अहंकार-सा भी दिखलाई दे, तो भी विपत्ति नहीं। निर्बलता धर्म-भाव का लक्षण नहीं है; किन्तु धर्मबल, चूँकि उसमें विनय की लचक है, सामान्य बल से अधिक यद्यपि भिन्न-रूप से प्रबल होता है। पत्थर मजबूत है, लेकिन हथौड़े से टूट जाता है। किन्तु इस बल से बली आदमी गाली से अथवा गोली से भी नहीं टूटता। वह द्वेष का जवाब प्रेम

से देता है। द्वेष में अहंकार करने वाला आदमी उस पर अपने प्रहार का असर न देखकर अपनी विफलता में क्षुब्ध होकर कह सकता है कि यह आदमी बड़ा मानी है, किन्तु वैसा मान बुरा क्यों है? उसमें बुराई की बुराई ही है, शेष सब की तो उसमें भलाई ही होती है।

प्रश्न—जीवन के आदर्शीकृत सौन्दर्य में मनुष्य जिस ईश्वर को देखता आया है, और देखता है, क्या कभी भी वह सर्वदा प्राप्त हो सकेगा? दूसरे शब्दों में, क्या कभी भी प्राणी के भीतर आदर्श, सौन्दर्य अथवा स्वप्न (=Vision) का बनना बन्द हो सकेगा? यदि ऐसा है, तो क्या ऐसे ईश्वर को सर्वथा प्राप्त कर लेने की आकांक्षा मानव का भ्रम ही नहीं है?

उत्तर—भ्रम नहीं है। भ्रम वह होता है जो टूटे। लेकिन ईश्वर की खोज कभी नहीं टूटती। हाँ, जो आस्तिकता टूट जाती है, वह आस्तिकता ही नहीं है। यह भी कहने में हर्ज नहीं कि उस आस्तिकता का ईश्वर अनीश्वर है। जो सामान्यतया अ-प्राप्य है, आदर्श की भावना उसी के प्रति होती है। आदर्श तो अप्राप्य ही है, फिर भी उसके प्रति आराधक की लगन उसे ज्वलंत रखती है, मिथ्या नहीं होने देती। स्वप्न और सत्य में अन्तर आखिर इससे अधिक क्या है कि सत्य के प्रति व्यक्ति का नाता आस्था-स्वीकृति का है,—उससे वह प्रेरणा पाता है; जब कि स्वप्न को व्यक्ति ही स्वयं मिथ्या कहकर निषेधपूर्वक टाल देता है। इसलिए, व्यक्ति अगर सच्चा है, तो उसका आदर्श झूठा नहीं ठहराया जा सकता। यों मेरा विश्वास मेरे से अन्य के निकट भ्रम है ही। पर मेरा होकर वह विश्वास मेरे लिए भ्रम नहीं, प्रत्युत धर्म है।

प्रश्न—किन्तु देखा जाता है कि कल जिसे हम प्राप्य बनाये थे, आज वह प्राप्त हो जाता है और प्राप्य कुछ और बन जाता है,—मानो वह आगे सरक जाता है। इस प्रकार, हमारे आदर्श में भी विकास और परिर्तवन हुआ ही करता है। वह न एक रहा है, न रह सकता है और केवल इसीलिए अप्राप्य है। तो क्या ध्येय

ईश्वर भी वास्तव में उसी प्रकार हमारे जीवन-विकास के साथ-साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब-रूप से विकासशील और परिवर्तनशील नहीं है ?

उत्तर—जरूर। ईश्वर की धारणाओं में बराबर विकास होता जा रहा है। वह विकास क्या कभी एक क्षण को भी रुकता है ? जाने-अनजाने स्थूल से सूक्ष्म को ओर हमारी गति है। जंगली आदमी की ईश्वर-सम्बन्धी धारणा और अत्याधुनिक विज्ञानाचार्य की तत्सम्बन्धी धारणा में काफी अन्तर प्रतीत होगा। यह दूसरी बात है कि काफी साम्य भी उनमें प्रतीत हो। उसी तरह मैं मानता हूँ कि महा-मेधावी पुरुष की परमात्म-धारणा से आगे भी विकास की अनन्त गुँजायश है। ईश्वर तो निर्गुण निराकार है, इससे धारणा-मात्र उससे ओछी रह जाती है। सहस्र ही नाम ईश्वर के नहीं हैं; वे तो असंख्य हैं। असल में सब नाम उसी के हैं। मेरा 'मैं-पन', तुम्हारा 'तुम-पन', मीठे की मिठास, नमककी नमकीनी वह है। इसीसे तो कहा जाता है कि ईश्वर बुद्धि का विषय नहीं है, श्रद्धा का विषय है। इसलिए ईश्वर-सम्बन्धी हमारी एक मान्यता आज अपर्याप्त हो भी जावे, तो दूसरी कोई मान्यता उसका स्थान ले लेगी। परमात्मा में क्या कुछ नहीं समा सकता ? अनन्त-काल तक उसमें तो अप्राप्य हमारे लिए कुछ-न-कुछ शेष रहे ही चला जायगा। बूँद जब समन्दर में मिल जायगी, तब वह बेशक समन्दर हो जायगी और तब सवाल ही कुछ नहीं रहेगा। पर यों वह बूँद चाहे कितनी ही फैले, कितनी ही फूले, समुद्रता उसके लिए अप्राप्य ही बनी रहेगी। इसलिए समझ द्वारा ईश्वर को पाना फैलने की कोशिश करके बूँद के समुद्र होने का प्रयास करने-जैसा है। बूँद अपने को मिटा दे, तब वह इस क्षण भी समुद्र ही है। इसके अर्थ यह हैं कि समष्टिगत ईश्वर को बुद्धि-प्रयास द्वारा पाया न जायगा। अपने को (व्यष्टि को) उसमें (समष्टि में) खो देने से ही, यानी प्रेम के मार्ग से ही, उसको (समष्टि को) आत्मगत किया जाय तो किया जा सकता है।

प्रश्न—किन्तु इस बारे में एक बात पूछना चाहूँगा। वह यह

कि ईश्वर हमारे आदर्श की प्रतिमा होने के कारण क्या हमारी धारणा के अतिरिक्त कुछ और भी रह जाता है ? और धारणा हमारी बुद्धि से नहीं तो हमारे व्यक्तित्व (=Being) से निर्मित तत्त्व है। तो फिर हमारी ही सत्ता (=Being) से अलग वह ईश्वर कौन-सी चीज़ रह जाती है जिसकी उपमा समुद्र से दी गई ?

उत्तर—धारणा बुद्धि की उपज है। बुद्धि हमारा (=Being का) एक भाग है। बुद्धि सब नहीं है। वह कुल नहीं है।

ईश्वर की धारणा हम बनाने का निश्चय करके नहीं बनाते। जब हमारी चेतना मानो किसी विराट् स्पर्श से अभिभूत हो जाती है, तब लाचार हम उसे मान उठते हैं। बुद्धि भी तब विराट की अनुप्रेरणा से कर्म-शील होकर उस सम्बन्ध में अपनी शक्ति के अनुसार एक धारणा रच चलती है। इस तरह हम देखेंगे कि मनुष्य अपने आदर्श का निर्माता होने से अधिक, मानो आदर्श के हाथों अपने को सौंपकर, उसी को अपना निर्माता बनाना चाहता है। इसी अर्थ में कवि की कविता कवि से बड़ी है। मनुष्य का आदर्श मनुष्य से बड़ा है।

किसी ईश्वर-विश्वासी से पूछकर देखिए अथवा किसी भी प्रकार के सच्चे विश्वासी से पूछिए। वह यह न कह सकेगा कि उसने स्वयं अपने विश्वास को बनाया है, बल्कि वह तो यही कहेगा कि उसे यह विश्वास 'प्राप्त' (=Revealed) हो गया है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि सच्चा ज्ञान सदा 'प्राप्त' होता है, वह 'बटोरा' अथवा 'बनाया' नहीं जाता।

जो किसी क्षण हम पर प्रकाशित हो गया है, उसके निर्माता हम हैं,—ऐसे अहंकार के लिये स्थान नहीं है। ईश्वर की प्रतीति ऐसी ही प्रतीति है। वह अपौरुषेय है। वह पुण्य-योग से प्राप्त होती है।

प्रश्न—किन्तु आकाश को भी मनुष्य निश्चय करके नहीं बनाता है, एक प्रकार से वह भी प्राप्त (=revealed) ही होता है। फिर भी क्या मनुष्य की चेतना-धारणा के बिना वह कुछ वस्तुतः रह जाता है ?

उत्तर—क्यों नहीं रह जाता ? व्यक्ति से आकाश बड़ा है। हाँ, यह जरूर है कि जो आकाश में है, वह व्यक्ति में भी है। इसलिए यह कहने में विशेष अर्थ नहीं रहता कि कोई बड़ा या छोटा है। साथ ही यह कहने में भी विशेष अर्थ नहीं है कि मानव-चेतना के अभाव में आकाश रह भी नहीं सकता। ऐसी उक्ति दार्शनिक विवेचन में प्रयुक्त हो भी जावे, किन्तु फिर भी उसके शब्दार्थ में सार नहीं है। मानव-चेतना के अभाव में आकाश-रूपी मानव-धारणा भी असम्भव हो जायगी, यहाँ तक तो बात ठीक है। किन्तु उससे आगे उस कथन की सत्यता को नहीं खींचा जा सकता।

अब जैसे आकाश है और उसको बनाने वाला मनुष्य नहीं है, वैसे ही वह महासत्ता भी है जिसके बोध को मनुष्य पाता है, लेकिन उस बोध को बना नहीं सकता।

प्रश्न—व्यक्ति से ईश्वर को बड़ा आप बतलाते ही हैं, और उसी व्यक्ति से आकाश अर्थात् शून्य को भी बड़ा बताते हैं। किन्तु ईश्वर और आकाश में कौन बड़ा है ?

उत्तर—आकाश क्या आप को दीखता है ? अगर दीखता है, तो इसी कारण वह ईश्वर से कम हो गया। क्योंकि ईश्वर दीखता तक नहीं।

आकाश शून्य है न ? किन्तु शून्य की शून्यता क्या है ? वही ईश्वर। आकाश-अवकाश से भी अधिक ईश्वर है।

१४—ध्येय

प्रश्न—व्यक्ति जो कुछ भी करता है स्व के लिए ही करता है। स्व को पर एवं शून्य के साथ ठीक-से-ठीक तौर पर बिठाने ही में उसका जीवन और उसी में उसके जीवन की कला रहती है। किन्तु तब ईश्वर को मानने की अनिवार्यता कहाँ आती है? और क्या उसे माने बिना व्यक्ति जीवन के प्रति सफल कलाकार नहीं बन सकता?

उत्तर—स्व और पर किस में एक और अभिन्न हैं? वही तो ईश्वर है। इसलिए स्व-पर के सामंजस्य की जहाँ सम्पूर्ण सिद्धि है उस स्थिति को मेरे शब्दों में ईश्वरता कहो। उसे ध्यान में लाना किसी भी कला के लिए साधक ही हो सकता है। पर वह कोई हौआ तो नहीं है। उसकी कोई एक परिभाषा नहीं है। जो जिसको माने, वही उसका ईश्वर। असल तत्व निस्संग समर्पण है। कोई उपलक्ष्य उसके लिए काम दे सकता है। क्या जरूरी है कि ईश्वर शब्द बिना कोई 'स्व' परमोन्मुख हो ही न सके? इसलिए ईश्वर (शब्द) बेशक हमारे व्यापारों के लिए संगत संज्ञा नहीं है। वह तो मौनपूर्वक आराधनीय है। मौनपूर्वक, शब्द-जाल द्वारा नहीं। लेकिन जब कि शब्द जरूरी नहीं है, तब विश्वास तो कलाकार के लिए बिलकुल ही जरूरी है। वह विश्वास फिर चाहे किसी को भी लेकर हो। उसके बाद यह दूसरी बात है कि जैसे सब नदियाँ समुद्र में जाती हैं, वैसे ही सब विश्वास नाना देवी देवताओं की राह से ईश्वर में ही अर्पित होते हैं।

नदी बिना समुद्र को जाने बहती रह सकती है कि नहीं? मेरे खयाल में बहती रह सकती है। अपनी चरम स्थिति का यानी समुद्र में समाहित होने का अज्ञान उसके प्रवाह में बाधा उपस्थित नहीं करता। ऐसे ही कला आदि

मानव-व्यापारों के विषय में समझना चाहिए।

प्रश्न—व्यक्ति अपने जीवन का कलाकार है। उसको कला-व्यापार स्व के प्रति सुख और आनन्द की अपेक्षा से प्रेरित करता है, अथवा पर के प्रति उपयोगिता और आकर्षण की आवश्यकता से?

उत्तर—शायद पहले भी यह बात आ गई है कि मेरा कोई भी काम मेरी दृष्टि से जब कि अन्तःप्रेरित होगा—अर्थात् व्यक्तिगत हेतु से होगा,—तब नैमितिक दृष्टि से कुछ उपयोगिता का भाव भी उसमें होना आवश्यक है। कोई भी गति दो खिचावों के कारण होती है—एक अन्तरंग, दूसरा वहिरंग। जैसे विजली दो विरोधों (धन और ऋण धाराओं) के कारण चलती है। इसी तरह व्यक्ति का अन्तःकरण और समाज की आवश्यकता, इन दो के परस्पर संयोग-संतुलन से मानव-व्यापार सम्भव होते हैं।
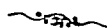
१५—समाज-विकास और परिवार-संस्था

प्रश्न—स्व और पर के समन्वय में पारिवारिक संस्थाएँ आपके विचार से बाधक हैं कि सहायक ?

उत्तर—परिवार में कोई व्यक्ति पूरा स्वतन्त्र नहीं है। वहाँ जरूरी है कि वह अपनी स्वतन्त्रता को दूसरों की स्वतन्त्रता के साथ निबाहे। इस तरह परिवार व्यक्ति में स्व-पर-समन्वय की आवश्यकता का बोध जगाने में सहायक होता है।

और परिवार का आरम्भ भी कैसे होता है? लड़के-लड़की युवा होने पर पाते हैं कि वे अपने लिए नहीं रह सकते। एक को दूसरे की जरूरत हो आती है। चाह हो आती है कि कोई हो जिसके लिए वे रहें, जिसके प्रति वे अपने को दे डालें। इस अवस्था के आने पर विवाह होता है और परिवार का बीज पड़ता है। सन्तति स्त्री-पुरुष के परस्परार्पण का फल है। इस तरह परिवार के मूल में स्व-पर-सम्मिलन और सामंजस्य का भाव विद्यमान है।

पर वह सामंजस्य यदि सजीव है, तो विकास-शील भी है। वह एक जगह आकर ठहर नहीं सकता। उसे बढ़ते रहना चाहिए। अपने कुटुम्ब से आगे वसुधा को भी तो अपना कुटुम्ब बनाना है। इस प्रयास में प्रतीत हो सकता है कि परिवार एक अड़चन बन गया है। अगर परिवार के प्रति वफ़ादारी हमारे सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा मानवीय कर्तव्य से विरोधी बन जाती हो, तो वह वफ़ादारी निबाहने योग्य नहीं है। व्यवहार में ऐसा विरोध अक्सर उपस्थित होता है, यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से समन्वय सब काल सम्भव है। जैसे व्यक्ति रहकर भी एक आदमी एक का पिता, किसी अन्य का भाई और किसी तीसरे का पुत्र एक ही साथ रह सकता है और ये तीनों-चारों

हैसियतें आपस में झगड़ती भी नहीं हैं, वैसे ही और अन्य हैसियतों का भी समन्वय हो सकता है। लेकिन परिवार में जो एक की दूसरे के साथ प्रयोजन-जन्य प्रत्याशाएँ बँध जाती हैं, वे विकास में बाधा भी पहुँचाने लगती हैं। अधिकांश वे बाधा ही पहुँचाती है। कुटुम्ब वालों को प्रत्याशा होती है कि बालक बीस बरस का हो गया है, सो जैसे हो साठ-सत्तर रुपये हर महीने कहीं से लाकर दे। वह अपनी आत्मा को मारता है और उतना कमाकर देता है। नहीं देता तो गड़बड़ उपस्थित होती है और देता है तो हो सकता है कि उसका मन उस कमाई को न्यायोचित न मानता हो। फिर भी, वह ऐसा करने को बाध्य है। तो इस उदाहरण में कहा जा सकेगा कि उसने परिवार से अपने विकास को सीमित बना लिया है।

अगर परिवार इतर जनों से मुझे पृथक् और विरुद्ध डाल देता है, तो वह बाधा है। ऐसा नहीं, तो परिवार आत्म-विकास में सहायक है ही।

प्रश्न—क्या परिवार के प्रति अपने-पन की भावना मूलतः दूसरे को गैर समझने ही की भावना से उद्भूत नहीं होती है और इस प्रकार परिवार की शुभ कामना में दूसरों के प्रति सद्-भावना कम नहीं हो जाती है?

उत्तर—मूलतः नहीं। मैं पहले अपने को ही अपना समझना आरंभ करता हूँ, परिवार मेरा इस संकीर्णता से उद्धार करता है। आरम्भ में तो वह मेरा भला ही करता है, आगे जाकर उसके कारण मैं अपना अलाभ करने लगूँ तो बात दूसरी है। यह तो अकल्याणकर ही है कि मैं परिवार में अपना स्वत्व-भाव इतना मानने लगूँ कि धर्माधर्म का विवेक भूल जाऊँ।

प्रश्न—बालक माता-पिता आदि कहना-समझना सीखता है, तो क्या धर्माधर्म के विचार से? क्या इस प्रकार परिवार को अपना समझने में अहंकार की वृत्ति कमजोर पड़ने के बजाय दृढ़ ही नहीं होती है?

उत्तर—अहंकार की दृढ़ता को और क्षीणता को समझना चाहिए। ममत्व जितना संकीर्ण है, उतना ही तीक्ष्ण है। अगर वह व्यापक है, तो

उसकी तीक्ष्णता कम हो जायगी। रागात्मक वृत्ति को अपने में से निर्मूल नहीं किया जा सकता। उसको कुचलना ही उपाय हो, ऐसा नहीं है। कुचलकर उसे मिटाया नहीं जा सकता। उन वृत्तियों को व्यापक बनाने से ही उनकी धार मारी जाती है। मैं अगर सबको प्रेम करने लगूँ, तो किसी विशेष के प्रति उस प्रेम के खोटे होने की सम्भावना भी नहीं रहेगी। ममता खोटी तभी होती है जब वह किसी दूसरे के प्रति अवहेलना के बल पर पोषण पाती है। अन्यथा, गुण के प्रति ममता अर्थात् व्यापक ममता दुर्गुण नहीं है।

अहंकार के विषय में भी यही बात है। अहंभाव मुझमें जितना सिमटता जायगा उतना वह पैना होगा। जितना फैलता जायगा, उतनी ही उसकी विषमता कम होगी। चारों दिशाएँ जिसकी जागीर हैं ऐसा आदमी सर्वथा अपरिग्रही ही हो सकता है। बटोरने का आग्रह उसी को है जो मन में दीन है। कबीर साहब ने गाया तो है, 'हाथ में कूंडी बगल में सोटा, चारों दिसि जागीरी में'। इस भाँति 'अहं' की भावना व्यापक बनाते जाने से उसकी धार भी लुप्त होती जायगी और अहंकार तब, यदि होगा भी, तो सात्विक होगा। अहंकार से पूरा छुटकारा तो इस जन्म में सम्भव है नहीं। इससे, अपने अहं को समर्पित यानी व्यापक बनाते जाना ही, अहंकार से मुक्ति पाने की ओर बढ़ना है।

प्रश्न—एक परिवार के लोग अलग-अलग कमायें-खायें अथवा एक जगह मिलकर? इन दोनों में आप क्या उचित समझते हैं?

उत्तर—एक परिवार या कि अनेक परिवार, जितने अधिक लोग ऐक्य भाव से इकट्ठे रह सकें, उतना अच्छा है।

प्रश्न—किन्तु, क्या ऐसा हो सकेगा? क्या व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को बिलकुल खो देना गवारा करेगा?

उत्तर—जो अकेला रहकर पुष्ट बनता है, उस व्यक्तित्व में त्रुटि भी रह जाती है। आखिर व्यक्तित्व का बल इसी में तो है कि लोग उसकी ओर आकृष्ट हों? जो एक समुदाय का केन्द्र नहीं बन गया है, उस व्यक्तित्व को

वलिष्ठ भी नहीं कह सकते।

प्रश्न—जो व्यक्ति मुख्य परिवार से टूटकर अलग परिवार बसाता है, क्या यह उसकी अनधिकार चेष्टा है?

उत्तर—अगर किसी जिद में वह ऐसा करता है, तो जरूर वह चेष्टा अनधिकृत है। अन्यथा तो वृक्ष की पौध या क़लम दूर जाकर रोपने से और भी अधिक फल लाती है।

प्रश्न—क्या वैसे पारिवारिक जीवन में व्यक्ति की स्वावलम्बी शक्ति का ह्रास होने का खतरा नहीं है?

उत्तर—जरूरी तौर पर तो वह खतरा नहीं है। जब वैसी बात सामने उपस्थित हो जाय, तब व्यक्ति अपने को किसी संस्था अथवा परिवार से अवश्य तोड़ सकता है।

प्रश्न—जिस व्यक्ति में किसी परिवार के द्वारा दूसरों पर गुजारा करने का व्यसन हो गया है और जितना वह कर सकता है उद्यम (Contribute) नहीं करता है, तो उसके प्रति परिवार का क्या कर्तव्य होगा?

उत्तर—उस व्यक्ति को धीमे-धीमे समझा-बुझाकर, नहीं तो फिर अनुशासन से, अपनी जिम्मेदारियों को पहचानने के निकट लाना होगा।

प्रश्न—वह अनुशासन किस प्रकार का हो सकता है, क्या आप बतायँगे?

उत्तर—यह तो वह परिवार ही जाने और समझे।

प्रश्न—किन्तु, फिर भी मैं जानना चाहता हूँ कि क्या अनुशासन द्वारा उसके लिए दंड अथवा कोई और ऐसी व्यवस्था करेंगे जिससे वह मजबूर हो जाय?

उत्तर—मजबूर करने की आवश्यकता है! तभी तो प्रश्न भी उठता है। मेरे खयाल में ऐसा उपाय काम में नहीं लाना चाहिए जिससे व्यक्ति की नैतिक भावना को उत्तेजन मिलने के बजाय वह उल्टी पस्त हो। जिसको दंड कहा जाता है, वह मनुष्य की नैतिकता को अक्सर मंद करता है।

प्रश्न—तो फिर अनुशासन रखने का क्या दूसरा उपाय हो सकता है, मिसाल के तौर पर आप बतलायँगे न ?

उत्तर—मिसाल के तौर पर बहुत-कुछ बतलाया जा सकता है, लेकिन यह ध्यान रहे कि वह मिसाल है।

मानिए कि बालक स्कूल नहीं जा रहा है। चाहा जाता है कि वह स्कूल जाय। तब बालक के मामले में यही पहले विचारणीय बनता है कि उसके स्कूल जाने की अरुचि में कारण क्या हो सकता है ? उस कारण को दूर किया जाय। बालक के मामले में अनुशासन जरूरी नहीं होगा, क्योंकि परिवार के और लोगों की अच्छी अथवा बुरी सम्मति का उस पर काफी प्रभाव होता है। वह सहसा अपने सम्बन्ध की अच्छी सम्मति को खो नहीं सकता। करना सिर्फ इतना होगा कि माँ-बाप लाड़ लड़ाने के अपने अकस्मात् उठने वाले चाव को रोकें और लड़के की उस आदत के बारे में अपनी असम्मति पूरी तरह प्रकट हो जाने दें।

लेकिन वयः प्राप्त को कैसे सुधारा जाय, जो अपेक्षाकृत दूसरे की सम्मति के प्रति चुनौती की भावना रखने लगता है ? तो मैं कहूँ कि असहयोग से यह काम किया जा सकता है। असहयोग भी एक अनुशासन ही है, और दंड के लिहाज से भी छोटा नहीं है। परिवार कह सकता है कि परिवार का आश्रय उस व्यक्ति को अनुकूल आचरण न करने पर प्राप्त न रहेगा। अगर परिवार में उस व्यक्ति के प्रति प्रेम है और परिवार के प्रति उस आदमी में आस्था है, तो वह सहज उस आश्रय से वंचित अपने को नहीं करेगा।

प्रश्न—परिवार में यदि किसी मत-भेद से दो भाग हो जायँ, तो क्या बड़े भाग को अधिकार है कि वह छोटे को अपने मतानुसार चलाने को अनुशासन का प्रयोग करे ? वह क्यों न उस छोटे भाग को अपना अलग एक परिवार बनाने की स्वाधीनता दे दे ?

उत्तर—वैसी स्वाधीनता तो है। अनुशासन भी तभी तक लागू है जब तक कि बड़े भाग के अंग बनकर रहने की इच्छा छोटे भाग में शेष है। अगर वैसी इच्छा शेष तक नहीं रह गई है, तो दोनों भाग अलग हो ही

जायँगे। कोई अनुशासन तब काम न देगा।

प्रश्न—परिवार के लोग यथाशक्ति काम तो करेंगे ही, किन्तु, आय की मद सीमित होने पर, खाने-खर्च के लिए कौन-सा सिद्धान्त काम करेगा। वह बराबरी का होगा, अथवा कोई अन्य ?

उत्तर—कोई एक सिद्धान्त कहीं काम नहीं करता। जिस परिवार में स्वास्थ्य है, वह ऐसी स्थितियों में अपने को निबाह लेना जानेगा। अगर आय कम है तो उसी हिसाब से छोटे बालक का दूध कम किया जाय जिस हिसाब से बड़े आदमियों की आवश्यकताओं में कटौती की जाय, ऐसे सिद्धान्तों में कुछ सार नहीं है। देखने में वह साम्य (वाद) का सिद्धान्त मालूम होगा, लेकिन वैसा नहीं है। इस मामले में एक में दूसरे के लिए उत्सर्ग की भावना जितना सहज समाधान सुझा सकेगी, उतनी हिसाब बीनी नहीं सुझा सकेगी।

प्रश्न—परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति में से एक व्यक्ति को परिवार से अतिरिक्त के लिए दान देने का क्या कोई अधिकार रह सकता है और कहाँ तक ?

उत्तर—यह तो परिवार के उसके प्रति विश्वास के ऊपर निर्भर है। जितना विश्वास उतना अधिकार।

प्रश्न—किन्तु, क्या वह स्वयं एतदर्थ अपना अधिकार समझ-कर उसके लिए परिवार पर जोर नहीं डाल सकता ?

उत्तर—नैतिक जोर डाल सकता है।

प्रश्न—नैतिक मसलन किस प्रकार ?

उत्तर—'नैतिक' से मतलब वे उपाय जिनमें दूसरों की अनिच्छा को अपनी वेदना के जोर से मुलायम करके जीता जाता है। अपनी लगन और प्रेम की तकलीफ के जोर से दूसरे के मत का परिवर्तन किया जाता है। इसमें लिहाज या विश्वास आ जाता है।

प्रश्न—क्या परिवार में किसी व्यक्ति को अपनी प्रतिभा के अनुसार स्वयं अपने कार्य का निर्णय करने का अधिकार होगा ?

उत्तर—क्यों नहीं ?

प्रश्न—किन्तु इस बारे में परिवार की संयुक्त सम्मति व्यक्ति की राय से ऊपर क्यों न मानी जाय ? क्या परिवार को यह हक नहीं कि वह उस व्यक्ति की समर्पित शक्ति का अपने मतानुसार उपयोग करे ?

उत्तर—ऊपर के उदाहरण में उस प्रतिभाशाली व्यक्ति की शक्ति परिवार के प्रति समर्पित नहीं हो रही है,—तभी तो प्रश्न सम्भव बना है। समर्पित हो, तब परिवार उससे लाभ उठायेगा ही।

प्रश्न—परिवार के प्रत्येक व्यक्ति की शक्तियाँ तो परिवार के प्रति समर्पित पहले ही समझी जानी चाहिए। इसलिए पूछना यह है कि वह अमुक काम करे और अमुक नहीं,—क्या अपनी आवश्यकतानुसार ऐसा आदेश करने का अधिकार परिवार को रहना चाहिए, कि नहीं ? अथवा व्यक्ति ही इस बात का निर्णायक रहेगा कि वह कौन-सा कार्य करने के लिए अधिक उपयुक्त है और किसकी परिवार को सबसे अधिक आवश्यकता है ?

उत्तर—परिवार-गत से अगर कोई बड़ी प्रेरणा व्यक्ति से कुछ और कराये, तो परिवार उसे कैसे रोक सकता है ?

प्रश्न—यदि परिवार का कोई व्यक्ति ऐसे रोग से ग्रसित है कि उसके द्वारा परिवार को खतरा है, तो परिवार उसके सम्बन्ध में क्या करेगा ?

उत्तर—खतरे से अपने को और अपने उस बीमार अंग को बचाने का प्रयत्न करेगा। हमारा हाथ खराब हो जाय, तो हम क्या करेंगे ? स्पष्ट है कि कोशिश करेंगे कि वह अच्छा हो जाय। जरा खराबी होते ही उसे अछूत नहीं मान लेंगे। अगर उससे समूचे जीवन पर ही आ बने, तो उसे, हाँ, कटा देंगे।

प्रश्न—तो कटा देने से आपका क्या मतलब ? उस व्यक्ति के जीवनांत से है अथवा केवल परिवार से अलग कर देने से ?

उत्तर—जीवन तो जिसने दिया है, वही लेगा। परिवार जितना जो देता है, उतना ही उससे ले सकता है। लेकिन परिवार की जिम्मेदारी उस रुग्णाङ्ग को अहलदा करके समाप्त कहाँ होती है? घर का कूड़ा क्या दूसरे घर के आगे डाल देने से काम खत्म हो जाता है? वह काम तो तभी खत्म होगा, जब कूड़े का कूड़ापन खत्म करके हम उसे कंचन बनाना सीखेंगे। जो मैला है, वह खाद बनकर उपयोगी होता है कि नहीं?—अर्थात् जो दूषित है, उसका दोष फैले नहीं, इसका ध्यान रखना तो जरूरी है ही। लेकिन स्वयं दूषित भी दोष से मुक्त हो जाय, यह भी तो देखना है। इस तरह परिवार का धर्म आत्मरक्षा पर ही समाप्त नहीं हो जाता, आगे भी जाता है।

१६—स्त्री और पुरुष

प्रश्न—स्त्री और पुरुष दोनों ही संसार के किसी भी कार्य-व्यवहार के लिए बराबर उपयुक्त हो सकते हैं, क्या आप ऐसा नहीं मानते हैं ?

उत्तर—नहीं। पुरुष माता नहीं बन सकता है। इसी के अनुकूल उन दोनों की सामाजिक हैसियतों में भी विभेद रहेगा। कर्तव्यों का अन्तर फिर थोड़ा-बहुत अधिकारों में भी अन्तर डालेगा।

प्रश्न—मातृत्व को छोड़कर, क्या कोई दूसरा उत्तरदायित्व स्त्री का ऐसा नहीं रह जाता, जो पुरुष का नहीं है ?

उत्तर—मातृत्व स्त्रीत्व का ही एक रूप है। माता न भी बने, तो भी स्त्री स्त्री है। ऐसी हालत में भी पुरुष से तो वह भिन्न ही है। तब (माता अथवा अमाता) स्त्री और पुरुष के स्थान में कुछ भेद होना असंगत नहीं।

प्रश्न—विचारों की उदारता और कला और आविष्कार की प्रतिभा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक रहती है,—क्या आप ऐसा मानते हैं? यदि मानते हैं, तो इसका कारण क्या हो सकता है ?

उत्तर—मान सकता हूँ। कारण, स्त्री की लगन स्थूल की ओर विशेष रहती है। सूक्ष्म की लगन प्रतिभा कहलाती है। लेकिन ये सब हमारे ही तो शब्द हैं। यह न समझना चाहिए कि स्थूल कम उपयोगी है, अथवा कि गैरजरूरी है। मनुष्य ऊँची कल्पना दौड़ाता है, सो तभी जब उसे स्थूल चिन्ताओं से स्त्री की सेवा के आधार पर अपेक्षाकृत छुट्टी मिल जाती है।

प्रश्न—किन्तु, पुरुष जो कि परिवार का संरक्षक होता है, क्या कम स्थूल चिन्ताओं से ग्रस्त रहता आया है, क्या संघर्ष की चोट

सीधे वही नहीं लेता है ?

उत्तर—संघर्ष की चोट तो लेता है, फिर भी यह बात कि आज क्या दाल बने और आज क्या साग बने, इस ओर से वह बहुत कुछ छूटा हुआ रहता है। नित्य प्रति की यह छोटी-मोटी बातें स्त्री अपने ऊपर ओढ़ लेती है, तभी पुरुष बड़ी बातों में मोर्चा लेने में समर्थ होता है।

प्रश्न—स्त्री को अबला कहा गया है। क्या उसे ऐसा शारीरिक बल के अभाव से ही कहना उचित है, अथवा आत्म-बल की कमी पर भी ?

उत्तर—इस विशेषण में मुझे कोरी शारीरिक बल की दृष्टि मालूम होती है।

प्रश्न—उनके उस अबलपन का कारण भी उनके ऊपर पुरुषों की संरक्षकता ही है, क्या आप ऐसा मानेंगे ?

उत्तर—मान भी लूँ, तो फिर यह प्रश्न उठेगा कि वह संरक्षण बनने में कैसे आया ? इसलिए यह सवाल कि संरक्षण अबलता का कारण हुआ अथवा कि अबलता ही संरक्षण में कारणीभूत हो गई चकरीला बन जाता है। वैसा चक्कर पैदा करना उपयोगी नहीं है।

प्रश्न—प्रायः जानवरों में, और खास तौर से खूँख्वार जानवरों में, देखने में आता है कि मादा नर से किसी भी तरह कम शारीरिक बल नहीं रखती। किसी-किसी जाति में तो वे अधिक ही जबरदस्त हैं। पर हाँ, फिर भी, उनमें नर का सा साहस-वेग (Boldness) नहीं है जो स्वभाव-बल से सम्बन्ध रखता है। इसका समाधान क्या आपका उपर्युक्त कथन करता है ?

उत्तर—मुझे नहीं मालूम कि पशुओं में किस जाति की मादा नर से अधिक प्रबल होती है। फिर भी, जन्तु-जगत् में मादा कई जातियों में नर से कहीं अधिक बड़ी और शक्तिशालिनी अवश्य होती है। वह अन्तर मेरे खयाल में प्रकृति उत्पादन के निमित्त करती है। आरम्भ में मादा ही पाई जाती है, नर तो पीछे से बनता है। कहीं तो नर बिल्कुल ही अप्रासंगिक

है, कहीं वह इतना हीन है कि मादा के लिए केवल दया का पात्र रहता है। जन्तु-जगत् में ऐसा उत्पादन के हेतु से ही होता होगा, यह समझना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। क्योंकि, प्रकृति का मुकाबिला करने की शक्ति जन्तु में अति क्षीण होती है। फिर भी उत्पादन तो प्रकृति का नियम है। इसीलिए जान पड़ता है कि प्रारंभिक अवस्था में मादा के प्रति प्रकृति का पक्षपात है। उत्पादन की दृष्टि से मादा ही प्रकृतिरूपा है।

लेकिन सच यह है कि प्रकृति के असल भेद का किंचित् भी बोध हमें नहीं है। यह जो ऊपर कहा है, वैज्ञानिकों का मन्तव्य है। यानी मानव-बुद्धि की खोज का परिणाम है। और चूँकि मानव-बुद्धि विकास-शील और परिणमन-शील है, इससे वह मन्तव्य बदल भी सकता है।

प्रश्न—स्त्री-पुरुष-विषयक मानसिक एवं शारीरिक बल की विषमता कभी दूर हो जायगी, क्या आप यह विश्वास करते हैं?

उत्तर—मुझे उसकी जरूरत नहीं मालूम होती।

प्रश्न—तो क्या स्त्रियों में उदारता, प्रतिभा और शारीरिक बल की वही क्षीणता बनी रहे, ऐसा आप चाहते हैं?

उत्तर—शारीरिक बल की न्यूनाधिकता फिर इन गुणों में भी हीनाधिक्य पैदा करती है, ऐसा तो मैं नहीं मानता। कर्म की विषमता स्त्री और पुरुष में कुछ-न-कुछ रहेगी ही। उनके गुणों में भी तदनुकूल कुछ भेद रहे, इसमें कोई हानि नहीं है। बल्कि ऐसा होना अनिवार्य है।

प्रश्न—स्त्री-जगत में जो एक आन्दोलन पुरुषों के प्रत्येक क्षेत्र में समकक्ष होने का चल रहा है, क्या वह बे-मानी है? या कुछ उसमें इष्ट भी है?

उत्तर—समकक्षता शाब्दिक अर्थ में खींचने पर बे-मानी हो जाती है। यों, स्त्री पुरुष से हीन है, यह बात तो गलत है ही। इस हीनता की भावना को पुरुषों और स्त्रियों दोनों के चित्त में से निकालने में जहाँ तक यह आन्दोलन सहायक होता है वहाँ तक तो कोई भी बुराई की बात नहीं है। उससे आगे बढ़ने पर मेल की जगह तनाव बढ़ता है और उस जगह पहुँच-

कर उस आन्दोलन का समर्थन नहीं हो सकता।

प्रश्न—पुरुषों की मनोवृत्ति स्त्रियों से काम निकालने की (Exploitation की) रही है, क्या साधारणतया ऐसा कहा जा सकता है ?

उत्तर—साधारणतया कह दीजिए, लेकिन यह कहने की इलाक्त मैं इसी लिए ले सकता हूँ कि मैं स्वयं पुरुष हूँ। स्त्री होकर मुझे यह कहना शोभा नहीं देगा। स्त्री होकर पुरुष को दोष देना मुझे अपने लिए लाभकारी न होगा। मुझे आलोचक बनना है तो मैं अपना ही आलोचक बनूँ। अतः पुरुष होने के नाते ही मैं यह कहने को तैयार हूँ कि पुरुष ने स्त्री के प्रति दुर्व्यवहार किया है और उसे इसका प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रश्न—स्त्री-जगत में एक लहर पुरुष ही जैसे खतरनाक और साहसिक कार्य कर दिखलाने की उठी है, कहीं तो वह आकांक्षा और फैशन भी बनती जा रही है। क्या ऐसी चेष्टाएँ कोई वास्तविक सार्थकता रखती हैं ?

उत्तर—क्या मुझसे फैसला माँगा जाता है ? जो कर्म किसी भीतरी प्रेरणा से नहीं, बाह्य आकांक्षा से प्रेरित है, वह कदाचित् ही हितकर होता है।

प्रश्न—सार्वजनिक कार्यों के प्रति स्त्रियों का कर्तव्य क्या वैसा ही है जैसा पुरुषों का ? अथवा कुछ भेद-युक्त ?

उत्तर—सार्वजनिक हित में उसका समान भाग है। लेकिन, जिनको सार्वजनिक कार्य कहा जाता है, ऐसे कार्य में स्त्री और पुरुष के भाग में मैं भेद मानता हूँ।

प्रश्न—वह भेद क्या है ?

उत्तर—स्त्री में कोमल गुणों की विशेषता है। वह उन गुणों द्वारा अपना दान समाज को देगी। यानी दौड़-धूप, व्यवस्था-संगठन और चुनावों की लड़ाइयों का क्षेत्र उसके अनुकूल क्षेत्र नहीं है।

प्रश्न—किन्तु, उन क्षेत्रों के कार्य-सम्पादन के साधन का क्या

कोमलता के विरुद्ध होना अनिवार्य ही है ? क्या वे कर्म स्त्रियों की कोमलता से और भी सहज-सम्पाद्य नहीं हो सकते ?

उत्तर—सब कामों में स्त्री का हिस्सा लेना अनिवार्य नहीं है। अगर वकालत मीठी बोली से ज्यादा भी चल सकती हो, तो इस कारण स्त्री को वकालत करना जरूरी है,—ऐसा मैं नहीं मानता। कुछ काम ऐसे हैं,—और सामाजिक सार्वजनिक काम अधिकांश इसी प्रकृति के होते हैं—जिनमें उत्सर्ग से अधिक आग्रह और विग्रह की वृत्ति जरूरी होती है। इसमें कोई अर्थ नहीं कि स्त्री से चाहा जाय, अथवा कि स्त्री स्वयं चाहे, कि वह उन कामों में हाथ बँटाए ही बँटाए।

प्रश्न—लेकिन वकालत सामाजिक अथवा सार्वजनिक कार्य तो नहीं है। वहाँ भले ही स्त्री की कोमलता का सदुपयोग न हो सके, पर समाज-सेवा में वह क्यों गैर मुनासिब है ?

उत्तर—ठीक। वह सार्वजनिक अथवा सामाजिक नहीं, व्यावसायिक कार्य है।

मैंने कहा कि सार्वजनिक हित में उसका कम भाग नहीं है। वह परिवार के बच्चों को सँभालती है, अन्न को भोजन के रूप में प्रस्तुत करती है, घर के और दस काम सँभालती है। यह सब भी क्या सार्वजनिक और सामाजिक हित का काम नहीं है ? अथवा कि यह काम क्यों कम महत्त्व का है ? सार्वजनिक कार्य कहने से जिस एक विशेष प्रकार के व्यवस्थापक और कोलाहलात्मक कामों का बोध होने लगा है, उसके लिए क्यों न पुरुष से माँग की जाय कि वह उस भार को सँभाले। मेरे खयाल में पुरुष की कठोरता भी इस भाँति चरितार्थ और सदुपयुक्त होती है।

प्रश्न—सार्वजनिक कार्य के लिए यदि किसी वास्तविक योग्यता की आवश्यकता है और वह किसी स्त्री में पाई जाती है, तो क्या आप उसे उत्साहित न करेंगे ?

उत्तर—जैसे ?

प्रश्न—जैसे कि किसी आन्दोलन, सभा-सोसायटी या कौंसिल

असेम्बली में नेतृत्व करने की क्षमता ?

उत्तर—हाँ, उसके लिए मैं स्त्री को उत्साहित नहीं करूँगा। इसके माने क्षमता का अपमान नहीं है। लेकिन क्षमता का लक्षण ही यह है कि वह भूखी नहीं होती। बाल-बच्चे और अड़ौस-पड़ौस में क्या वह क्षमता क्षमता होकर काफी काम और सन्तोष नहीं पा सकती ? अगर नहीं तो कैसी वह क्षमता है ? पास-पड़ौस में करने को काम कम नहीं है, बल्कि जितनी क्षमता अधिक सक्षम हो, उतनी ही वह आस-पास की स्थिति को सुधारने और बदलने में अधिक समर्थ होगी।

फिर यह भी याद रखना चाहिए कि अपवाद नियम को सिद्ध करता है। अपवाद सदा होंगे और होने देने चाहिए।

प्रश्न—क्या कभी-कभी ऐसा समय देश, जाति या परिवार के लिए नहीं आता है जब कि स्त्रियों को बिना किसी भेद के पुरुषों की तरह बाहर आकर सार्वजनिक कार्य में भाग लेना चाहिए ?

उत्तर—'बिना किसी भेद' पर क्यों जिद हो ? हाँ, ऐसे समय जरूर आते हैं जब उन्हें साधारण गिरस्ती के कामों से बाहर आकर कुछ और करना पड़े। राष्ट्रीय संकट के समय अथवा और अनहोनी घटनाओं के समय ऐसा होता है। उसमें अनुचित कुछ नहीं है।

प्रश्न—गिरस्ती के कामों को छोड़कर क्या अन्य किसी भी कार्य के लिए स्त्री अनधिकारी और अनुपयुक्त है ?

उत्तर—बिल्कुल नहीं। गिरस्ती से मतलब यह थोड़ा ही है कि अपने नातेदारों से आगे वह और किसी से सम्बन्ध रखे ही नहीं। बच्चों से उसका सम्बन्ध प्राकृतिक है, और ऐसा मालूम होता है कि छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए माताएँ और मातृ-जाति विशेष उपयोगी हो सकती है।

प्रश्न—किन्तु स्कूल, अस्पताल, मिशनरी-संस्था, न्यायालय, पुलिस-विभाग, जेल इत्यादि महकमों में बतौर पेशे के भी कोई स्थान ले सकती हैं कि नहीं ?

उत्तर—जेल-पुलिस में नहीं। न्यायालय में कथंचित्। और आपके

बताये अन्य विभागों में स्त्री का उपयोग विशिष्टतर मालूम होता है।

प्रश्न—वे जब उन महकमों में मुलाजिम होंगी, तो गिरस्ती का कार्य उनके यहाँ कौन चलायेगा ?

उत्तर—गिरस्ती का काम, अगर वह बहुत बड़ी गिरस्ती न हो तो, क्या समूचे-का-समूचा स्त्री को भर लेता है ? फिर गिरस्तियों में भी तो आपस में सहयोग और मिलना-जुलना होगा। इससे सामुदायिक आवश्यकताएँ भी उत्पन्न होंगी। जैसे शिक्षा या आरोग्य, रोगी-शुश्रूषा आदि। वे घरेलू से अधिक नागरिक विषय हो जावेंगे। परस्पर के सहयोग से ही सब काम पूरे होंगे और कोई स्त्री किसी ओर, तो दूसरी दूसरी ओर, विशेष मनोयोग दे सकेगी। फिर स्त्रियों में अविवाहित, विधवा, निस्संतति, सेवाव्रती, निश्चिन्त, अथवा गृहस्थिन आदि सभी प्रकार की स्थितियों की स्त्रियाँ होंगी। वे अलग-अलग कम-अधिक इन-उन कामों को निवाहने योग्य क्यों न हो सकेंगी ?

प्रश्न—जीवन के कार्यों को शायद आप दो भागों में बाँटते हैं। कुछ स्त्रियों के लिए, कुछ पुरुषों के लिए। क्या इसका यह अर्थ लिया जा सकता है कि स्त्री-पुरुष के अपने-अपने गुण हैं और व्यक्ति रूप से दोनों में कोई गुण-साम्य नहीं है ?

उत्तर—मानव तो दोनों हैं, स्त्री भी, पुरुष भी। मानवता के सामान्य गुण दोनों ही में जरूरी हैं। उसके आगे बढ़ने पर स्त्री और पुरुष का कर्तव्य-भेद आता है। उस दृष्टि से उनमें अन्तर भी है।

प्रश्न—क्या स्त्री में कोमलता आदि कुछ ऐसे गुण प्रधान हैं, जो पुरुषों में कम मिलते हैं ? तो क्या ये गुण (कोमलता आदि) पुरुषत्व के विरुद्ध हैं ?

उत्तर—विरुद्ध नहीं कहना होगा। असल में आदर्श का रूपक जब बाँधा गया है, तो उसको 'अर्धनारीश्वर' विशेषण भी दिया गया है। इसलिए पुरुषत्व और नारीत्व में किंचित् विरोध मानकर भी अन्त में तो दोनों ही समन्वित होंगे, ऐसा मानना होगा। दाम्पत्य और परिवार ऐसी ही

सम्मिलित संस्थाएँ हैं, जिनमें एक के सहयोग से दूसरा सम्पूर्ण होता है।

प्रश्न—क्या पुरुषत्व में स्त्रीत्व की अपेक्षा कुछ-न-कुछ कठोरता का होना अनिवार्य है ?

उत्तर—नहीं तो क्या ?

प्रश्न—तो क्या वह कठोरता स्त्री के मुकाबिले पुरुष की एकमात्र विशेषता है ?

उत्तर—एकमात्र क्यों ? और मृदुता अगर कुछ भी कठोर बनना न जान सके तो क्या वह निकम्मी ही चीज न हो जायगी ? इसी भाँति पुरुष की कठोरता भी स्त्री की कोमलता की ओर प्रेम से उमड़कर कठोर कम यद्यपि तेजस्वी अधिक हो जाती है। फिर ये तो शब्द हैं। यों क्यों न कहो कि स्त्री की विशेषता यह है कि वह स्त्री है, और पुरुष अपनी ही विशेषता से पुरुष है। उनकी विशेषताओं को अलग किसी और शब्द में बाँधने के आग्रह की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—पुरुष अपनी कठोरता से जिस संघर्ष से निबटता है, उससे क्या स्त्री की कोमलता से भी निबटा जा सकता है ?

उत्तर—कठोरता का आदर्श कठोरता नहीं है। कोमलता से वह अपना सम्बन्ध जोड़ सके, कठोरता युगपत् भीतर से कोमलता हो, यह उसका आदर्श है।

ईंट से मकान बनता है। क्या मिट्टी से काम नहीं बन सकता ? लेकिन मिट्टी और ईंट में प्रकृति के लिहाज से इतना ही तो फर्क है कि ईंट पकी हुई मिट्टी है। मिट्टी पक जाय तो ईंट हो जाय। पत्थर भी क्या मिट्टी का ही नहीं होता ? इसलिए यह पूछना कि स्त्री-सुलभ कोमलता से क्या जीवन-संघर्ष को पार नहीं किया जा सकता, विशेष अर्थकारी नहीं है। क्योंकि जो स्त्री अपेक्षाकृत निस्सहाय और एकाकी होकर जीवन-यापन करती है, कहा जा सकता है कि वह पुरुषोचित् गुणों से भी काम लेती है।

क्या आप यह समझते हैं कि पुरुष एक मिट्टी का बनता है और स्त्री दूसरी मिट्टी की बनाई जाती है ? नहीं, दोनों के गुण बीज-रूप से दोनों में

विद्यमान होते हैं। प्राधान्य जिनका होता है, वहीं फिर अन्ततः स्व-भाव-निर्णायक हो जाते हैं।

प्रश्न—निजी विशेषताओं से स्त्री स्त्री और पुरुष-पुरुष है,—यानी स्त्री कोमलता से और पुरुष संघर्षोपयुक्त कठोरता से,—तो क्या स्त्री का आदर्श अधिक-से-अधिक कोमल और पुरुष का अधिक-से-अधिक वैसा ही कठोर होना नहीं है ?

उत्तर—सो कैसे हो सकता है ? आदर्श अर्धनारीश्वर है। आशय यह नहीं कि व्यक्ति संकर हो जावे। नपुंसक भी स्त्री अथवा पुरुष नहीं होता। पर नपुंसक आदर्श नहीं है। आदर्श निषेधात्मक नहीं, समग्रात्मक होता है। स्त्रीत्व और पौरुष का जीवित समन्वय आदर्श-रूप है। वहाँ होगी व्यक्तित्व की पूर्णता। सभी गुण जहाँ पूर्णता को प्राप्त होते हैं,—शौर्य भी और मार्दव भी, तेज भी और आर्जव भी,—वह निर्गुणता की स्थिति सिद्धि है। 'निर्गुण' से आशय गुणहीनता नहीं, पर गुणों की यथावस्थितता है। जैसे सब रंग मिलकर निरंग सफेद हो जाते हैं। धवलता वह रंगहीनता है जो प्रकाश की भाँति केवल उज्ज्वल है और जिसमें सब रंग समाहित हैं।

प्रश्न—क्या इसका यही अर्थ हुआ कि पूर्ण व्यक्तित्व को पहुँच कर स्त्री स्त्री नहीं रहेगी और पुरुष पुरुष नहीं, बल्कि दोनों एक ही समान किसी तीसरी अवस्था में होंगे ? किन्तु फिर उस समय जीवन के कार्य-व्यापार में भी क्या उन स्त्री-पुरुष का भेद रहना आवश्यक होगा ?

उत्तर—हाँ, बहुत कुछ यह अर्थ हुआ। बहुत कुछ हुआ, पूरी तरह नहीं। जिस अंश में स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी मर्यादाओं से विकास-क्रम से ऊँचे उठते जायँगे, वैसे ही वैसे उनमें कर्तव्य-भेद की मर्यादाएँ कम होती जायँगी। मसलन संन्यास अवस्था में गृहस्थी की मर्यादा क्या स्त्री पर लागू होती है ?

प्रश्न—तो फिर निर्गुणावस्था के प्राप्त होने की भी कोई सम्भावना है ?

उत्तर—जब तक देह है तब तक गुण का बंधन भी है। शुद्ध निर्गुणावस्था देहातीत है।

प्रश्न—क्या आपका विश्वास है कि मानव-जीवन का विकास निर्गुणावस्था की ओर है ?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—किन्तु, क्या आप नहीं मानेंगे कि जहाँ एक ओर भौतिक जटिलता बढ़ रही है, वहाँ उसी के साथ-साथ हमारे संस्कार भी जटिल और बहुमुखी होते जा रहे हैं ?

उत्तर—यह भी मानता हूँ।

प्रश्न—तो फिर उन संस्कारों और भावों के साथ-साथ आप कैसे कहेंगे कि हम निर्गुणावस्था की ओर जा रहे हैं ?

उत्तर—जटिलता अन्त में अपने को खा लेगी और गुणों का परस्पर विरोध नष्ट हो जायगा। वही अवस्था गुणातीत अथवा निर्गुण होगी। जो निर्गुण, वह निराकार। निराकार अर्थात् सर्वव्यापी। इसलिए निर्गुण-निराकार की स्थिति में अस्तित्व का नाश नहीं है। वहाँ अस्तित्व की सर्वात्मकता है। वहाँ बाधा-रूप देह भी नहीं है।

पर ऐसे आदर्श के भजन से हटकर उसका ब्योरा पाने पर हम क्यों आ तुले हैं ? वह उपादेय नहीं है।

प्रश्न—किन्तु निर्गुणावस्था के भजन से आपका क्या अर्थ है ?

उत्तर—'भजन' से अर्थ है भजना, ध्यान में लाना, आदि।

प्रश्न—तो क्या आप सीधे सादे शब्दों में समाज को उसके सब दुःखों का नुसखा यह कहकर ही दे सकेंगे कि निर्गुणावस्था का ध्यान करो ? क्या यह कहना आपका किसी भी क़दर सार्थक हो सकता है ?

उत्तर—नुसखा अगर कोई हो, तो वह समाज को नहीं दिया जा रहा, समाज के व्यक्तियों को दिया जा रहा है।

व्यक्ति में ध्यान की शक्ति है। व्यक्ति में आदर्श के बिना गति ही नहीं

है। निश्चय उस आदर्श का आदर्श-रूप निर्गुण-निराकारमय है। वैसा यदि नहीं है तो आदर्श की आदर्शता कभी-न-कभी लुप्त हो जायगी।

ध्यान, भजन, मनन, साधन अथवा अन्य विधियों द्वारा व्यक्ति उसी आदर्श को सगुण-साकार रूप देता है। सगुण आराधना से वह शक्ति प्राप्त करता और प्रगति करता है।

इसमें नुस्खे का प्रश्न नहीं। यह तो धर्म है, यानी वस्तु-स्वभाव है। होता ही यह है। हर मामले में, हर व्यक्ति के साथ, ऐसा होता है।

'निर्गुण के भजन' से उन आडम्बर-पूर्ण कृत्यों का अर्थ तो कहीं नहीं समझ लिया गया है जो धार्मिक कहे जाते हैं, और जिनकी हिन्दुस्तान में और अन्य देशों में भी बहुलता दीखती है? वह मतलब नहीं है।

जिसको सम्पूर्ण व्यक्तित्व के जोर से उपलब्ध करने के निमित्त हम जी रहे हैं, उसको शब्दों द्वारा ऐसा या वैसा आकार देना कहाँ तक उचित है, कहाँ तक वह सम्भव भी है,—यह समझने की, अनुभव करने की बात है। और फिर उन भिन्न-भिन्न आकार-धारणाओं पर विवाद और विग्रह भी होते हैं। वे विग्रह इसीलिए सम्भव होते हैं कि यह भुला दिया जाता है कि वे धारणाएँ यदि सत्य हैं तो इसीलिये सत्य हैं कि वे किसी अमूर्त की मूर्त्त प्रतीक हैं। अमूर्त्त से विमुखता धारण की कि मूर्त्त झूठ हुआ।

मैं नहीं जानता कि मानवोपयोगी कौन-सा सामाजिक प्रयत्न मूर्त्त द्वारा अमूर्त्त भजन के विरुद्ध पड़ता है। क्यों न समझा जाय कि आदमी की सब चेष्टाएँ, सब प्रयत्न, अंत में उसी एक उपलब्धि की ओर उन्मुख हैं।

जिसको सामाजिक क्रान्ति कहो वह भी, और जिसे सामाजिक क्रमोदय कहो वह भी, सब उसी मुक्ति-मार्ग में अपने-अपने क्रम से उपस्थित होते हैं।

१७—अर्थ और परमार्थ

प्रश्न—उस आदर्श के भजन और ध्यान की बात आज एकदम कितनों को सूझती है,—यह तो मैं नहीं कह सकता। किन्तु मुख्य प्रश्न क्या आजकल के व्यक्तियों के सामने केवल रोटी के पाने और उसके साझे-बाँटे का नहीं है? उस समस्या का निर्णय क्योंकर हो सकता है?

उत्तर—उक्ति है 'कोउ काऊ में मगन कोउ काऊ में मगन'। यह बात मग्नता के विषय में ही नहीं, उससे इधर भी सच है। किसी की समस्या रोटी की है, तो दूसरे की समस्या रोटी से आगे बढ़कर चुपड़ी रोटी की है। तीसरे की मोटर की, चौथे की मकान की, पाँचवें की कर्ज भुगतान की, वगैरह। हम एकदम सीधे तौर पर जब यह कह देते हैं कि समाज को समस्या रोटी की है, तब अपने साथ पूरा न्याय नहीं करते। असल में समस्या-समस्या है और अगर वह सचमुच परेशान कर रही है, तो उस समस्या को जीवित समस्या, अर्थात् जीवन की समस्या, कहना चाहिए।

शब्द चल पड़े हैं: आर्थिक समस्या, राजनीतिक समस्या। उन शब्दों को व्यवहार में लाना गलत नहीं है। लेकिन, कहीं उनका मतलब यह न समझ लिया जाय कि जीवन में वैसे खाने बने हुए हैं। अध्यात्म का एक खाना, समाज का दूसरा खाना, अर्थ का तीसरा खाना! न न, ऐसा बिल्कुल नहीं है। समूचा जीवन एक तत्त्व है। प्रश्न दृष्टिकोण का है। अगर हम अर्थ की ओर से मूल समस्या को ग्रहण करते हैं तो वह आर्थिक जान पड़ती है, नीति की ओर से उसे पाना और सुलझाना चाहते हैं तो वह नैतिक जान पड़ती है।

इसीलिये मेरा आग्रह है कि हम जो भी उलझन है, उसको किसी शास्त्र

के (अर्थशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र के) भरोसे न टाल दें। वह शास्त्रों से खुलने वाली नहीं। पहली जरूरी बात यह है कि वह समस्या हमारे निकट सच्ची बने, यानी जीवन में घुली-मिली दिखाई दे। इससे पहले उसको सुलझाने का कोई प्रयत्न सच्चा नहीं हो सकता। जब वह जीवन के साथ एकम-एक हो जायगी तब हम उसे चारों ओर से ही सुलझाने की चेष्टा में लगेंगे। पूरे जीवन के जोर से हम उसे खोलेंगे और सुलझाएँगे। और वह अगर सुलझ गई और खुली तो ऐसे ही खुलेगी, अन्यथा नहीं।

ऊपर जो अरूप-अमूर्त के भजन की बात कही गई, वह इसी समूचे जीवन की अपेक्षा को याद रखकर कही गई। सामयिक-कर्म के प्रोग्राम की ध्वनि उसके आस-पास नहीं है। वह कोरी आध्यात्मिक-सी बात मालूम होती है। किन्तु ऐसा इस कारण है कि सामयिक कर्म का प्रोग्राम देना न यहाँ मेरा लक्ष्य है, न आपका ही वह प्रोग्राम माँगने का अभिप्राय होगा। वैसा प्रोग्राम व्यक्ति अपनी शक्ति और अपनी स्थिति के सामंजस्य से स्वयं प्राप्त करेगा। वह सबको अन्दर से मिलेगा। बाहर से वह आरोपित हो नहीं सकता है। और मैं स्वीकार करता हूँ कि उस दृष्टि से आदर्श-चर्चा, जो कि अमूर्त-चर्चा ही हो जाती है, अत्यन्त आवश्यकीय विषय है।

१८—मजूर और मालिक

प्रश्न—तो यह आप मानते ही हैं कि रोटी की, उसके साझे-बाँटे की, समस्या हमारे समूचे जीवन की समस्या का एक भाग है। लेकिन इसके साथ क्या आप यह भी मानेंगे कि इस समस्या का मूल कारण हमारे मशीन-युग के कारण बन गई हुई पूँजी-पति और मजदूर ये दो श्रेणियाँ हैं?

उत्तर—नहीं, यह नहीं मानता। मशीन-युग स्वयं व्याधि का चिह्न और फल है, कारण नहीं। उसे कारण मानना बात को अपने हाथ से बाहर फेंक देना है।

प्रश्न—पूँजीपति अपनी पूँजी के बल से मजदूरों से मनमाना काम कराता है और कम-से-कम एवज देता है, इसकी सम्भावना मशीन-युग से पहले नहीं थी, क्या आप इससे इन्कार करते हैं?

उत्तर—मशीन-युग से पहले मशीन नहीं थी, इसलिए मालिक एक-साथ बहुत-से मजदूरों की जान को इस भाँति अपनी मुट्ठी में भी नहीं रखता था।

लेकिन तब गुलामी की प्रत्यक्ष-परोक्ष कई अन्य प्रथाएँ थीं। क्या वे मजदूरी-प्रथा से कम अनिष्ट थीं?

प्रश्न—गुलामी-प्रथा इससे कहीं बढ़कर अनिष्ट थी। लेकिन सभ्यता की ओर अग्रसर मानव-जाति ने उसका प्रतिकार भी किया। तो क्या इस मजदूरी-प्रथा को भी उसी प्रकार का अनिष्ट मानकर उसका प्रतिकार करना नहीं चाहिए?

उत्तर—क्यों नहीं करना चाहिए? किसी को क्या हक है कि दूसरे मनुष्य के रिश्ते में वह अपने को मालिक माने, या कि अपने को उसका

आश्रित मजूर माने ? दोनों तरह से यह मानवता का अपमान है और इसमें आत्मघात है। दो आदमियों के बीच मालिक-नौकर का रिश्ता सामाजिक पाप है। इसलिए एक लिहाज़ से यह व्यक्तिगत पाप से भी अधिक चिन्तनीय है।

प्रश्न—तब यह मजूर-मालिक की समस्या इस युग की होने में आपको कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती है? किन्तु इसके निराकरण का उपाय भी कभी आपने सोचा है? सोचा है, तो क्या?

उत्तर—साफ तो है कि मैं न अनिच्छापूर्वक मजूर बनूँ, न अनिच्छापूर्वक किसी को मजूर बनाऊँ। एक-एक करके लोकमत भी ऐसा बनता जायगा और पर्याप्त लोकमत बनने के बाद आईन-कानून से इसके पक्ष में सहायता मिलनी चाहिए। जो गलत है उसको वर्जनीय ठहराकर मैं आज से ही अपना आचरण तदनुकूल चलाना आरम्भ कर दूँ, और जिन पर मेरा प्रभाव हो उनको भी उस ओर प्रेरणा दूँ। यह स्पष्ट उपाय है और यह उपाय अमोघ भी है।

प्रश्न—मजूर अपने को मजूर न समझे और मालिक अपने को मालिक नहीं। किन्तु फिर भी कोई-न-कोई काम करने वाला और कोई-न-कोई पैसा लगानेवाला तो रहेगा ही और पैसा लगाने वाले को अपने पैसे की सुरक्षा और वृद्धि के लिए दूसरों के 'कॉम्पिटीशन' का भी खयाल करना होगा। तो फिर वह मजूरों से अधिक-से-अधिक काम लेने से कैसे बच सकता है।

उत्तर—पैसे वाला पैसे को अपना न समझे, काम का पैसा समझे, तब पैसे से हर हालत में नफा उठाने की तृष्णा मन्द हो जायगी। अब भी तो स्टेट शिक्षा के मद में काफी खर्च करती है। क्या उस मद से पैसे के अर्थ में मुनाफा होता है? औद्योगिक स्पर्धा में जुट कर व्यावसायिक मनोवृत्ति हो जाने के कारण ही ऐसा जान पड़ता है कि पैसे को हाथ से छोड़ने में एक ही अर्थ हो सकता है, और वह अर्थ होगा उसपर मुनाफा उठाना। परन्तु, यदि गहरी दृष्टि से देखें तो यह बात सच है नहीं। आज भी मन्दिर,

सदाव्रत, धर्मशाला, अस्पताल और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का होना क्या यह साबित नहीं करता है कि पैसा व्यक्तिगत आर्थिक प्रत्याशा के अभाव में भी खर्च हो सकता है ? आप देखेंगे कि बड़ी-से बड़ी इमारतें अगर कहीं हैं तो वे व्यक्ति की नहीं हैं, वे सार्वजनिक हैं। इसका यही अर्थ होता है कि व्यक्ति के भीतर ही सामाजिक और सार्वजनिक प्रेरणा है। उस प्रेरणा को पुष्ट और बलिष्ट किया जाय तो कोई कारण नहीं कि आदमी बिना संकीर्ण प्रति-फल की भावना के अपने संरक्षण में आये हुए रुपये को खर्च न करे।

और अगर पैसे पर से अपने स्वत्वाधिकार की भावना को धनाढ्य व्यक्ति कम नहीं कर सकेगा तो उसकी धनाढ्यता खतरे में है, यह उसे पक्की तौर पर समझ लेना चाहिए। क्योंकि भूख तो भूखी नहीं रहेगी और फिर एक हद से अधिक भूखी होकर वह धनाढ्यता के गर्व को खर्च किए बिना दम न लेगी।

इसलिए अगर मालिक सीधी तरह अपने को मालिक समझना नहीं छोड़ देगा, तो भाग्य तो सीधे-टेढ़े का ध्यान नहीं रखता है। और वह भाग्य फिर टेढ़े रास्ते से ही भूले हुए को उसकी भूल सुझा देगा।

प्रश्न—यह तो आपने बतलाया कि मालिक उचित रूप से क्या समझें और करें। किन्तु, जो ऐसा समझने और करने के पास नहीं फटकना चाहते, उनका क्या इलाज है ?

उत्तर—इलाज है उनका दुर्भाग्य। धर्म-शास्त्रों ने कर्म-फल को अनिवार्य बतलाया है। पाप का फल नर्क और पुण्य का स्वर्ग बताया है। जो जैसा करेगा वैसा भरेगा, इसमें मुझे रंच-मात्र संशय नहीं है।

प्रश्न—पाप-पुण्य का फल देनेवाले भाग्य के हाथ-पैर भी, मैं समझता हूँ, वर्तमान के लोगों में ही रहते हैं, क्योंकि उन्हीं में उचित अनुचित के साथ बरतने की सूझ पैदा होती है। तो मैं यह पूछता हूँ कि आपको भी कोई ऐसी बात सूझती है कि इन अधर्मियों के साथ क्या किया जाय ?

उत्तर—नहीं, पाप का फल देने वाले हम तुम नहीं। हमारे-तुम्हारे द्वारा अगर फल दिया जाता हो, तो वह बात दूसरी है।

अधर्मी को दण्ड मिलेगा, यह तो उस अधर्मी व्यक्ति को याद रखना ही चाहिए। पर दण्ड देने का जिम्मा कौन है जो अपने ऊपर ले सके? है कोई जो बिलकुल अधर्मी नहीं है?

फिर भी, सामाजिक व्यवहार के लिए तरह-तरह के दायित्व समाज-द्वारा लोगों पर डाले जाते हैं और उस दायित्व-पूर्ति के वास्ते जरूरी अधिकार भी उन्हें दिये जाते हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि हम उन दायित्वों को छोड़कर भाग सकते हैं। इसीलिए समाज में एक अपराधी है तोएक जज भी है। वह सामाजिक दायित्व निबाहे तो जायँगे ही, फिर भी, व्यक्तियों में जहाँ तक हो वहाँ तक भावना साम्य की ही रहनी चाहिए। जज कहीं यह न समझ बैठें कि अपराधी पशु हैं और वह स्वयं दिव्य-पवित्र हैं। क्योंकि, यह तो अन्तर्यामी ही जानता है कि अधर्मी क्यों और कितना अपराधी है और धर्माभिमानी का भी पुण्य-कर्म किस हद तक धर्म है। हमारा सामाजिक लेखा-जोखा इस की तह तक नहीं पहुँच सकता। इसीलिए परम धर्म तो क्षमा ही है, दण्ड की बात बस सामाजिकता को देखते हुए हो सकती है। जो कृत्य जिस काल में सामाजिक ऐक्य के लिए जितना विघातक समझा गया वह उतना ही दण्डनीय ठहरा, चाहे फिर भीतर से वह कृत्य कितना ही धर्म-भावना से प्रेरित क्यों न रहा हो। ईसामसीह की सूली उसी का उदाहरण है।

अधर्मी के प्रति किसका क्या व्यवहार हो, यह तो एक व्यक्ति के ऊपर आ गये हुए सामाजिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा में निश्चित होगा। साधारण-तया यह कहा जा सकता है कि अधर्म के प्रति असहयोग और स्वधर्म के प्रति निष्ठा, यह धार्मिक जन का कर्तव्य है। इसी में सब-कुछ आ जाता है।

प्रश्न—तो क्या आपका मतलब है कि मजूर लोग वैसे मालिकों का काम करना छोड़ दें?

उत्तर—वे मजूर बने ही क्यों? उन्हें अपने श्रम का मालिक रहना चाहिए। हरेक स्वाधीन भाव से उद्यमी क्यों न हो?

प्रश्न—किन्तु श्रम का मालिक बनने का भी तो यही अर्थ है न कि वे श्रम की कीमत के लिए मालिकों के अधीन न रहें, जैसे अधीन कि वह हैं ? फिर इसके लिए असहयोग करें, यानी हड़ताल करें, यही न ?

उत्तर—नहीं, श्रम की कीमत के लिए नहीं, श्रम के दान के लिए वे किसी के अधीन न रहें। कीमत का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक तो प्रत्येक आदमी कुछ-न-कुछ पराधीन है। कीमत सदा आपेक्षिक (=Relative) होती है। उसके निर्धारण में बहुत-सी बाहरी बातों (factors) का भी सम्बन्ध होता है। इसलिए कर्म-फल के बारे में जब कि व्यक्ति स्वाधीन नहीं है, तब स्वयं कर्म के सम्बन्ध में अवश्य वह स्वाधीन होता है। इसलिए मजदूर का अपने परिश्रम के सम्बन्ध में स्वाधीन होना, अर्थात् उसका स्वाधीन-चेता होना, काफी है। स्वाधीन-चेता व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक सेवा करता है और विवेकपूर्वक कर्म करता है। वह अपने कर्म का कर्ता होता है और मजदूरी का मालिक होता है। इस कारण वह दयनीय नहीं होता, अनुकरणीय हो जाता है।

प्रश्न—कर्म-फल को बिल्कुल अपने अधीन नहीं भी समझा जा सके, तो भी अपने श्रम और युक्ति के बल पर कुछ-न-कुछ उसे अधीन जरूर ही समझना होता है और उसे ऐसा बनाने ही के लिए श्रम होता है। नहीं तो क्यों और किसके लिए चेष्टा की जाय ? तो पूछना यही था कि मजदूर भी अपनी मजदूरी के प्रति न्याय प्राप्त करने के लिए उस अधर्मी मालिक के साथ व्यवहार-रूप में असहयोग किस प्रकार करे ?

उत्तर—व्यवहार-रूप में कोई क्या करे, यह उसकी स्थिति और उसकी शक्ति पर निर्भर करता है। लेकिन, जो मजदूर है उसको यह समझ लेना चाहिए कि जन-शक्ति धन-शक्ति से हीन नहीं है। वह सदा ही उससे प्रबल है। धन में यदि शक्ति है, तो इसी कारण कि उससे जन-शक्ति भी बहुत कुछ हाथ में आ जाती है। अगर जन-शक्ति स्वाधीन-चेता हो

जाये तो पूँजी और परिश्रम के संघर्ष का सवाल भी बहुत कुछ हल हो जाय। क्यों मजदूर यह बर्दाश्त करते हैं कि पशुओं की भाँति उनसे व्यवहार हो? उनकी इस झूठी सहनशक्ति में ही रोग के कीटाणु हैं। क्या वे मनुष्य नहीं हैं? पहली आवश्यकता तो यह है कि वे मनुष्य बनें। मानवोचित व्यवहार करें और वैसा ही व्यवहार स्वीकार्य करें। अपना कर्तव्य-पालन करने के रास्ते अपने अधिकारों के अधिकारी बनें। उनके ऐसा बनने के बाद पूँजीपतियों में यदि कुछ दुर्व्यवहार की लत शेष भी रही होगी, तो जाग्रत लोकमत उससे सुलझ लेगा। मजूर लोग यह क्यों नहीं अनुभव करते कि लोकमत की शक्ति बड़ी होती है और उसके द्वारा शासन-पद्धति तक बदली जा सकती है? वे तो सदा ही संख्या में अधिक होते हैं, तब उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि लोकमत पूँजीपति से अधिक श्रम-पति के निकट और वश में होता है। ऐसा वे समझ जायँ, तब फिर पूँजी की (=Capital की) ओर से श्रम के प्रति (=Labour के प्रति) नासमझी का व्यवहार सम्भव नहीं रहेगा।

प्रश्न—मजदूर जो मजदूरी पाते हैं, वह कम है या अधिक, इसका निर्णय तो उन जरूरतों के खयाल से हो सकता है जिनका अनुभव वे स्वयं करते हैं। किन्तु वह मजदूरी श्रम के अनुसार उनका ठीक पारिश्रमिक है कि नहीं, इसका निर्णय वे कैसे करें?

उत्तर—अपनी जरूरतों के लिहाज के अतिरिक्त कोई निर्णय का पैमाना उनके पास नहीं हो सकता। न होने की जरूरत है।

हरेक प्राणी को जरूरी धूप और जरूरी हवा और जरूरी जमीन पाने का हक है, इसके बाद पेट-भर खाना और आवश्यक आच्छादन भी उसे मिलना चाहिए। उसके आगे आत्म सम्पादन और आत्मदान करने-योग्य क्षमता और सुविधा उसे मिलनी चाहिए।

जीवन ज्यों-ज्यों जटिल होता जाता है, वैसे-ही-वैसे किसी प्रकार की दस्तकारी अथवा व्यवसाय की (=Handicraft or profession की) शिक्षा भी निर्वाह करने और समाजोपयोगी होने के लिए जरूरी होती

जाती है। वह शिक्षा भी प्रत्येक को मिलनी चाहिए।

श्रमी के श्रम का बाजार-मूल्य आज चाहे कुछ हो, लेकिन उसको (बाजार दर को) ऊपर बताई दिशा की ओर ही बढ़ना चाहिए। मिसाल के तौर पर आज एक मिल का मालिक बाजार की कठिनाइयाँ बताकर यह कहता है कि मजदूर को दिन में दो आने से ज्यादा देने से माल महँगा पड़ता है और बाजार में बिक नहीं सकता। तो उसका यह कहना बाजार के लिहाज से कितना ही सच हो, फिर भी, मेहनत करने वाले की मजूरी, जब कि जिन्दा रहने के लिए बारह आने प्रतिदिन जरूरी हो, दो आने किसी हालत में नहीं की जा सकती।

यानी, आदमी की मौलिक आवश्यकताओं के बारे में किन्हीं आर्थिक अंकों के आधार पर विचार करना काफी नहीं है। आदमी का कर्तव्य है कि वह अपनी शक्तियों का दान करने को उद्यत रहे। इसके बाद उसका हक हो जाता है कि जिन्दगी की जरूरियात उसकी मेहनत के एवज में उसे मिल जायँ।

लेकिन मेहनत की बाजार-दर नियत करने में और-और बातों का भी असर पड़ता है। उसी का परिणाम है कि कभी जी-तोड़ मेहनत से भर-पेट खाना नहीं मिल पाता है और टाली रहकर बिना मेहनत ढेर-की-ढेर कमाई की जा सकती है।

इसलिए बाजार का मूल्य-निर्धारण जिन सामाजिक एवं आर्थिक संघटनाओं पर निर्भर करता है, श्रमी के श्रम का मूल्य निश्चित करने में उनको ही अन्तिम माप नहीं बनाया जा सकता,—कम-से-कम श्रमी को बाध्य नहीं किया जा सकता कि वह अपने श्रम-दान में वही दृष्टि रक्खे।

ईश्वरीय न्याय है कि मनुष्य पसीने की कमाई रोटी खायगा। जो पसीना बहाता है उसकी रोटी नहीं छीनी जा सकेगी। इस न्याय में जो बाधा है वह टूटेगी। कोई अर्थ-शास्त्र अगर उस अन्याय का पोषण करे, तो उसे ग़लत ठहराना होगा।

'सबको उनकी आवश्यकता के अनुसार और सबसे उनकी सामर्थ्य के

अनुसार', नियम यह होना चाहिए।

पेट सब के हैं। अब किसी में बुद्धि अधिक है, किसी में कम। जिसके बुद्धि अधिक है, उसकी समाज के निकट उपयोगिता भी अधिक हो सकती है। लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि वह पाँच सौ आदमियों के लायक रोटी (=वेतन) अथवा धन पाने की हविस रक्खे। जैसे औरों के एक पेट है, वैसे ही उसके भी एक ही पेट है। समाज का संगठन ऐसा होना होगा कि बुद्धिशाली आदमी को भी जरूरत से अधिक खाना बटोरने को न मिले। नहीं तो, वह बुद्धिशाली आदमी अपने को बिगाड़ बैठेगा। मिले उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार, फिर भी उसकी बुद्धि का उपयोग पूरा-का-पूरा समाज के लिए हो जाना चाहिए।

'सबको जरूरत के मुताबिक और सबसे क्षमता के अनुसार' यह सूत्र हमारे सामाजिक संघटन में चरितार्थ हो निकले, उस ओर हम को बढ़ना है। जो (अर्थ-शास्त्र का) तर्क इससे उल्टी ओर खींचता है वह पूँजी का तर्क है, और स्वार्थ का तर्क है। और उसको लाँघ जाना हमारा फर्ज होता है।

आज भी तो आप देखते हैं कि सरकार की ओर से मजूरी की एक हद बनी रहती है। उससे कम मजूरी नहीं दी जा सकती। अर्थात् आज भी आदमी के श्रम को एकदम 'सप्लाइ' और 'डिमांड' के सिद्धान्त के आधीन नहीं रहने दिया गया है। इसके यह अर्थ नहीं हैं कि 'सप्लाइ' और 'डिमांड' वाले मतव्य में कोई सचाई नहीं है। अभिप्राय यही है कि मानवी सचाई उससे बड़ी है और वह किसी अर्थ-शास्त्र की 'थियरी' पर समाप्त नहीं है।

प्रश्न—पानी और हवा उस मात्रा में मौजूद हैं कि हमारी आवश्यकताओं से भी ज्यादा। इसलिए, इनके बँटवारे तथा अधि· कार का प्रश्न भी नहीं उठता। वह प्रश्न तो केवल उन चीजों के के प्रति उठता है जो इतनी सीमित हैं कि सब जन-समाज के लिए काफी हो भी सकती हैं और नहीं भी। और इसलिए आवश्यकताएँ हवा और पानी की आवश्यकताओं की तरह स्वाभाविक न होकर

उन सीमित वस्तुओं की (खाना-कपड़ा इत्यादि की) सीमितता से निर्धारित होती है। तो फिर श्रमी कैसे कह सकता है कि वह भले कितना ही काम करे, किन्तु उसकी आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए?

उत्तर—नहीं, यहीं आप भूल करते हैं। वस्तुस्थिति यह नहीं है कि धूप, हवा, पानी का सवाल कोई सवाल ही नहीं हो। सवाल नहीं होना चाहिए यह तो ठीक है, लेकिन यह सवाल अधिकाधिक होता जा रहा है, यह और भी ठीक है। यह दिल्ली है; गनीमत है कि दिल्ली ही है, न्यूयार्क नहीं है। लेकिन दिल्ली होकर भी हवा-पानी का सवाल क्या यहाँ सचमुच नहीं है? पानी के एक नल पर यहाँ कैसी लड़ाइयाँ हो जाती हैं, क्या कभी आपने नहीं देखा या सुना? सिर फूट गये हैं और जानों पर आ बनी है। उसके बाद क्या आपने वे अँधेरी कोठरियाँ नहीं देखीं जहाँ चूहे नहीं रहते आदमी रहते हैं? वे कैसे रहते हैं, यह मैं नहीं जानता, लेकिन करिश्मा देखिए कि आदमी सचमुच उनमें रह रहे हैं! कहा यही जा सकता है कि वे आदमी चूहे से बदतर हैं। लेकिन क्या यह भी कहा जा सकता है कि वे सचमुच धूप और हवा नहीं चाहते? और आदमी की जान उनमें नहीं है?

अब प्रश्न यह है कि खैर, हवा-पानी की बात तो हल हो जायगी। क्योंकि हवा खूब है, पानी खूब है, और सबको मन-भर ये चीजें मिल सकती हैं। यह बात समझ में आती है। और इसका होना मुश्किल नहीं मालूम होता। [अगर्चे मुझे बहुत सन्देह है कि इस बात को इतना आसान हम लोगों ने रहने दिया है!] लेकिन कपड़ा, खाना और अन्य आवश्यकताओं का निर्णय कैसे किया जाय? ये चीजें तो आदमी की मेहनत से बनती हैं और इनका बना बनाया कोई खजाना भी अटूट नहीं है। इसलिये इसका निपटारा कैसे होगा? मानिए कि मुझे जरूरत है एक साल में सिर्फ पहनने के कपड़े के लिए पचास सूट की। [मेरी यह जरूरत कम है, क्योंकि हजारों सूट रखने वाले स्त्री और पुरुष विरले नहीं हैं।] तब क्या मुझे यह सब

कपड़ा मिलेगा ? नहीं मिलेगा, तो मैं क्यों न असन्तुष्ट रहूँ और उस समाज-विधान के खिलाफ़ क्यों न द्वेष रखूँ और फैलाऊँ जो मुझे पचास सूट चुप-चाप नहीं दे देता है। अब कहिए, क्या कहिएगा ?

लेकिन यह कठिनाई उत्पन्न ही इसलिए हुई है कि जीवन की अत्यन्त सामान्य आवश्यकताओं के बारे में हमने सामाजिक विषमता को आश्रय देकर अभाव और अनिश्चय की सम्भावना पैदा कर दी है। एक के पास आज जाड़े से बचने लायक भी कपड़ा नहीं है। वह ज्यों-त्यों ठिठुरकर रात बिताता है। पास में धन होते ही क्या आप सम्भव समझते हैं कि एक बार तो कपड़े के मामले में वह अपनी हवस पूरी तरह नहीं निकाल लेना चाहेगा ? फिर भविष्य-सम्बन्धी अनिश्चय भी आदमी में संग्रह की तृष्णा बढ़ाता है। तिस पर इन सामान्य आवश्यकताओं-सम्बन्धी पदार्थों की गिनती से व्यक्ति को छोटा अथवा बड़ा भी समझ लिया जाता है। इसी से तरह-तरह के रागचक्र (= Complexes) और मद-मत्सर आदि पैदा होते हैं। अगर ये बातें हट जायँ, वातावरण में स्पर्धा न रहे, तो क्या मुझे पचास अदद सूट बोझ और बेवकूफ़ी ही नहीं मालूम होने लगेंगे ? जितने से मेरा काम चलेगा, उतने से अधिक फिर मैं चाहूँगा ही क्यों ? आज भी चार रोटी से मेरा पेट भरता है, तो कल जाने क्या हो, इस खयाल से पाँचवीं रोटी तो मैं पेट में ठूँसने की कोशिश नहीं करता। अतः, समाज में स्वास्थ्य हो चले और विषमता कम हो तो धन-सम्पत्ति के मामले में भी व्यक्ति की लोभ-वृत्ति एक रोग समझी जाने लगे। और लोग उस संग्रह-सतृष्ण व्यक्ति पर ईर्ष्या करने के बजाय करुणा करें।

आप देखें कि जीवन के जरूरी उपादानों के बटवारे का सवाल उतना पेचीदा उस अवस्था में नहीं रहता है। मेरी जरूरतें मेरा बन्धन हैं। जरूरतें बढ़ेंगी तो आजादी घटेगी। जरूरतें घटेंगी तो बोझ भी कम होगा। बोझ कम हुआ कि फिर मैं प्रगति के निमित्त खुला और हलका हो जाऊँगा।

आज तो धन का नहीं धूप के बटवारे का भी सवाल है। लोग रुपया देकर जमीन के बाड़े-के-बाड़े घेर लेते हैं, जिसका फल यह होता है कि दूसरा

आदमी सीलदार भिट में रहने को लाचार होता है। जिस पद्धति से धूप, हवा, पानी की समस्या का हल साफ़ और आसान मालूम होता है, ठीक वही पद्धति और तरह के बटवारे में भी काम देगी। उस पद्धति से वह बटवारा भी सरल हो जायगा।

धूप ईश्वर की है और सब की है। हवा ईश्वर की है और सब की है। भूमि ईश्वर की है और सब की है। द्रव्य ईश्वर का है और सब का है। जो वस्तु सब की है वह सब को मिले, इसी के सुभीते के लिये हम चाहें तो किसी को राजा मान लेंगे, किसी को मन्त्री, किसी को महाजन, किसी को चौकीदार, किसी को किसान, किसी को मेहनती। यह सब तो हमारे अपने बनाये हुए ओहदे (भेद) हैं और वे इसीलिए हैं कि सब की चीज सब को पहुँचे। इन ओहदों पर बैठे हुए लोग अगर सब की चीज को सब तक पहुँचाने में मदद नहीं देते हैं,—अपने स्वार्थ पैदा करके उन्हें बीच-बीच में अटका कर रोक लेते हैं, तो यह चोरी है, ईश्वर की अमानत में खयानत है और पाप है।

प्रश्न—जो चीज़ सबकी है, उसे सबके पास पहुँचाने के लिये आपने ऊपर राजा और मन्त्री की बात जो कही, क्या इसका यह मतलब है कि समाज की समस्त सम्पत्ति का वितरण-कार्य स्टेट के हाथ में रहे और उसके उत्पादकों या उत्पादन में सहायक होने वालों का कोई अधिकार उस पर न रहे ?

उत्तर—नहीं, यह मतलब नहीं है। किसी वस्तु का उत्पादक उसके उत्पादन में श्रम तो अपनी ओर से डालता है, परन्तु, साधन पहले से मौजूद पाता है। इसका मतलब यह है कि वह वस्तु का पूर्ण और एक-मात्र स्वत्वाधिकारी नहीं है। लेकिन स्टेट को उसका स्वत्वाधिकारी मानना फिर अन्ततः कुछेक व्यक्तियों के समूह को स्वयं उत्पादक की अपेक्षा अधिक स्वत्वाधिकारी मान लेना है। स्टेट हर अवस्था में ईश्वर की प्रतिनिधि नहीं है। वह सच्ची जनता की प्रतिनिधि विरल ही कभी होती है। फिर स्टेट अपने आप में व्यक्तियों से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। स्टेट अगर किसी पर अपना

अधिकार रख सकती है तो किसी व्यक्ति ही की मार्फत। इस लिहाज से माध्यम के (=Distributing agency) तौर पर चाहे स्टेट से काम ले लिया जावे, और तदनुकूल उसके अधिकार भी मान लिये जावें, पर उससे अधिक अपने आप में ही उन स्वत्वों को स्वीकारा नहीं जा सकता। जैसे समझिये पंचायत। पंचायत का मतलब है कि वह प्रधानतः परस्पर के अधिकारों को झगड़ने नहीं देती, उन सब को मिलाए रहती है। ऐसे ही स्टेट। अगर व्यक्तिगत विकार की भावना सीमा का अतिक्रमण कर जायगी तो स्टेट उसे रोक देगी। सीमा का अतिक्रमण नहीं होगा तो स्टेट भी निष्क्रिय रहेगी। अर्थात् स्टेट सर्वेसर्वा नहीं है, वह विशिष्ट सामाजिक उपयोग की एक संस्था-मात्र है। इसलिये स्वत्वाधिकार सब पदार्थों पर स्टेट का मानना विशेष अर्थ नहीं रखता। बल्कि वह एक विशिष्ट प्रकार का पूँजीवाद (=State Capitalism) हो जा सकता है, जो कि अनिष्ट है।

प्रश्न—अधिकार अथवा स्वत्वाधिकार की बात को जाने दीजिए। जानना तो मैं यह चाहता था कि जो कुछ भी कम से कम हर एक व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ होंगीं, उनको इस प्रकार पूरा करने का काम (=Function) कौन-सी एक ऐक्यकारक (=Unifying) सत्ता का होगा कि जिसमें समष्टि का स्वास्थ्य बना रहे ?

उत्तर—पारस्परिक सहयोग-भावना से वह काम होगा। सत्ता से क्या मतलब ? सैनिक शक्ति से सन्नद्ध सत्ता ? वैसी सत्ता को हम क्यों न एक दिन अनावश्यक बना दें। परस्पर का सहयोग ही तब एक जीवित तत्त्व होगा। और यदि आप चाहें तो वह आपसी सहयोग ही आवश्यक होने पर यथानुकूल संस्था का स्वरूप सुझा देगा और स्वयं उस स्वरूप को स्वीकार कर लेगा।

प्रश्न—किन्तु, उस सहयोग के लिये क्या किसी भी प्रकार की संस्था होना अनिवार्य नहीं है, और उस संस्था को आप स्टेट न कहकर क्या कहेंगे ?

उत्तर—सहयोग आवश्यकतानुसार संस्था-रूप हो ही जायगा। परिवार

भी क्या एक संस्था नहीं है ? दाम्पत्य भी एक संस्था है। नगर भी एक संस्था ही है अगर उसमें कोई भी एकत्रित सांस्कृतिक सामान्यता हो। इसलिये संस्था अथवा संस्थाएँ तो होंगी ही। लेकिन उनका विधान इसी समय पेश नहीं किया जा सकता। उस संस्था का नाम 'स्टेट' होगा भी, तो इसमें मुझे यही कहने योग्य जान पड़ता है कि 'स्टेट' शब्द में ही शासन-सम्बन्धी वाह्य उपादान, यथा पुलिस-फौज आदि की आवश्यकता की ध्वनि आती है। मैं समझता हूँ कि मानव-जीवन के विकास के साथ शनैः शनैः ये संगठित हिंसा के उपकरण कम और लुप्त होते जायँगे। उन हिंसोपकरणों के संगठन के के विना भी स्टेट की अगर आप धारणा कर सकते हैं, तो ऐसी अवस्था में उसे 'स्टेट' कहने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

प्रश्न—वैसी स्टेट लाने के लिये क्या आज की सामाजिक व्यवस्था मौका दे सकेगी ? अथवा कि उसे विल्कुल तोड़-फोड़कर उस नई व्यवस्था की नींव डालनी होगी ?

उत्तर—नींव तोड़ने-फोड़ने से नहीं पड़ेगी। अतः तोड़ने-फोड़ने की वृत्ति हितकर नहीं है। लेकिन धरती में से उगता हुआ नया किल्ला भी यदि धरती को फोड़ता हुआ उगता है तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह धरती को फोड़ना चाहता है ? ऐसा जान पड़ता है कि मानो धरती स्वयं उस किल्ले के जीवन को सम्भव बनाने के लिए अवकाश दे देती है। वह किल्ला ही फिर वृक्ष हो जाता है। इस भाँति जान-बूझकर किसी को भी तोड़ने के लिए प्रवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। सचाई पर जीना ही झूट को काफी चुनौती है। इसलिए यदि आगे कभी सोसायटी में हम इस प्रकार की अहिंसा-पूर्ण शासन-व्यवस्था को सम्भव बना हुआ देखना चाहते हैं, तो उपाय है कि हम स्वयं अपने सम्बन्धों में अहिंसा का व्यवहार आरम्भ कर दें। हिंसा के और आतंक के आधार पर खड़ी संस्थाएँ इस तरह स्वयं निष्प्राण होकर मुर्झा जायँगी और समाज-व्यवस्था में कोई भंग भी न प्रतीत होगा; क्योंकि तब तक अहिंसात्मक संस्थाएँ उनकी जगह लेने को बन चुकी होंगी। आधुनिक भाषा में कहिए कि शक्ति का हस्तांतरित होना (= trans-

ference of power) सहज भाव से घटित हो जायगा।

प्रश्न—लेकिन जो हिंसा की संस्थाएँ किसी एक वर्ग अथवा दल की सत्ता के लिए प्राण-स्वरूप हैं, क्या हम उम्मेद करें कि वे उन्हें मुरझा जाने देंगे ?

उत्तर—क्या हम चारों ओर नहीं देखते कि आज का सप्राण आदमी कल निष्प्राण भी हो जाता है, यानी मर जाता है ? क्या कोई स्वयं मरना चाहता है ? इसलिए हिंसा-समर्थक संस्थाओं के समर्थक अपनी इच्छा से उन्हें मरने देंगे, यह कौन कहता है ? फिर भी, एक दिन उन्हें नष्ट होना होगा। उन संस्थाओं का नाश तो इसी में प्रमाणित हुआ रखा है कि वे स्वयं नाश करने में, यानी हिंसा में, विश्वास रखती हैं। विजय सत्य की होती है, हिंसा की विजय नहीं होती। पर यह तो ठीक ही है कि अनायास हमारे सामाजिक जीवन-व्यापार में से हिंसा लुप्त हो जाने वाली नहीं है। इसलिए निरन्तर धर्म-युद्ध की जरूरत है। 'धर्म' के साथ 'युद्ध' लगाया है—इसके माने ही हैं कि बहुत विरोध होगा जिससे धर्म को मोरचा लेना होगा। मैं मानता हूँ कि धर्म की यह विजय यों सहज ही नहीं हो जायगी। वह बहुत कुछ बलि लेगी। लेकिन, बलि किसी दूसरे की नहीं, हमारी ही।

१६—क्रान्ति : हिंसा-अहिंसा

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि आज की व्यावसायिक वृत्ति (यानी आपा-धापी), जो हमारे समस्त कारोबार के मूल में है, उस अभीष्ट स्टेट के बिलकुल विरुद्ध है, और उसे उलटना होगा ? और उलटने के माने क्या यह भी नहीं है कि हम सब वैसे कारोबार से हाथ खींच लेंगे और तब तक फिर सहयोग द्वारा अर्थोत्पादन के नये रूप की व्यवस्था करेंगे ? किन्तु क्या इस क्रिया में व्यवस्था-भंग प्रतीत होना अनिवार्य ही नहीं है ?

उत्तर—हाँ, वैसा करेंगे और भंग पड़ना अनिवार्य नहीं प्रतीत होता। जिन सामाजिक मूल्यों के परिवर्तन को इन्कलाब और क्रान्ति कहा जाता है, देखा जाय तो वह भी कोई भंग नहीं है, बल्कि विकास की ही क्रिया है। फोड़ा पकते-पकते एक रोज फूट जाता है। वह फूटना यद्यपि आकस्मिक मालूम होता है, पर वह क्रमिक है। मेरा खयाल है कि कोई भी निश्चित मूल्य एकाएक बदलने में नहीं आ सकते, वे शनैः-शनैः विकसित होते हैं। इस प्रकार वे इतने बदल सकते हैं कि पहले से उलटे मालूम होने लगें। लेकिन नये मूल्यों को थोपा नहीं जाया करता, उन्हें उगाना होता है। जैसे वृक्ष धरती के भीतर से उगता है, ऊपर से टपकता नहीं है, वैसे ही वर्तमान अतीत में से प्रस्फुटित होता है, भविष्य की ओर से वह प्रक्षिप्त नहीं है। वर्तमान की मर्यादाओं को भविष्य के स्वप्नों से खींचकर अगर हम एकदम उल्लंघन कर जाना चाहेंगे तो मुँह के बल गिरेंगे। ऐसे मुँह के बल गिरने के उदाहरण इतिहास में थोड़े नहीं हैं। हिंसा के साथ किये जाने वाले विप्लव इसी सच्चाई के द्योतक हैं। फ्रांस की क्रान्तियाँ इतिहास-प्रसिद्ध हैं। उस वक्त मानो व्यवहार से उछलकर आदर्श को पकड़ने की कोशिश की गई।

लेकिन ऐसे व्यवहार भी टूटा, आदर्श भी न हाथ आया, और, जहाँ तक सामाजिक विधान का सम्बन्ध है, परिणामस्वरूप उसमें भी कुछ विशेष सुधार नहीं हुआ। एक नई क्रान्ति आँखों के सामने हुई है जिसको रूसी क्रान्ति कहना चाहिए। इटली और जर्मनी में भी जो हुआ है, उसे क्रान्ति कहो। इन पिछली क्रान्तियों में पहले की निस्बत खून कम बहा, लेकिन यह देखना शेष है कि उनका फल क्या वह हो सका जो चाहा जाता था। असल में राज-क्रान्ति बाहरी उथल-पुथल से सम्बन्ध रखती है। वह सच्ची क्रान्ति ही नहीं है क्योंकि उससे व्यक्ति की मूल स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। शासन केवल इस हाथ से उस हाथ में चला जाता है। कह दो कि कमजोर हाथों से मजबूत हाथों में चला जाता है; पुरानों की जगह नये आदमी आते हैं, और बस। शासन का, यानी शासक का, हृदय-परिवर्तन नहीं होता। अर्थात् राजक्रान्तियाँ, जो हिंसा के साथ होती हैं, ढाँचे को बदलती हैं, अन्तःप्रवृत्ति को नहीं छूतीं; शासन-विधान को बदलती हैं, जीवन-पद्धति और जीवन-विचार के मूल को नहीं बदलतीं। इसलिए उन्हें क्रान्ति भी क्या कहना। जो सच्ची है और सम्पूर्ण है, वह क्रान्ति तो हृदय में जन्म लेगी। वह सर्वांगीण होगी और इसीलिए वह क्रान्ति का घोष नहीं शान्ति की इच्छा चाहेगी। बाहरी कोलाहल उसे अभीष्ट न होगा। फिर भी देखते-देखते वस्तुओं के मूल्यों में ऐसा कुछ मौलिक अन्तर पड़ जायगा कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। ऊपर जिस परिवर्तन की आवश्यकता कही, वह ऐसी ही शान्तिमय क्रान्ति से सम्पन्न होगा। उसमें समाज-विधान के भंग की सम्भावना, जैसी कि राजक्रान्ति में हुआ करती है, नहीं होगी; क्योंकि, वह राजक्रान्ति नहीं जीवन-क्रान्ति होगी।

कठिनाई यही है कि शासन-विधान को हम मूल मानवीय (=जीवन की) परिभाषा में नहीं देखते हैं, उसे राजनीति-शास्त्र के (=Science of Political Economy के) कानूनों की परिभाषा में देखते हैं और इसलिए राज्य-विधान तो बदलना चाहते हैं, समूचे जीवन में तदनुकूल हेर-फेर नहीं करना चाहते। इस भाँति राजक्रान्ति तो शायद हो भी पड़े,

पर सच्चा सुधार कोई नहीं होता। इसलिए आवश्यकता है कि क्रान्ति को हम संकुचित सीमित राजनीतिक अर्थ में न लें, बल्कि व्यापक जीवन के अर्थों में लें। तब शायद बिना 'क्रान्ति' शब्द की आवश्यकता पड़े शान्ति से ही वह क्रान्ति हो जायगी।

प्रश्न—समूचे समाज के हित में यदि कुछेक को बाधक समझा जाता है और समाज की रक्षा के लिए वैध उपायों द्वारा (=Lawfully) बिना किसी व्यक्तिगत राग-द्वेष की भावना के उन कुछेक को खत्म कर दिया जाता है, तो क्या इसे आप हिंसात्मक कहेंगे ?

उत्तर—समाज ने क्या उन्हें पैदा भी किया था ? हाँ, मैं उसे हिंसा कहूँगा। फाँसी की सजा के मैं हक में नहीं हूँ। लेकिन शेर अगर बकरी को खा जाता है, तो यह कहने से क्या फायदा कि शेर के उस प्रकार अपने शिकार को खा जाने के मैं हक में नहीं हूँ। फायदा नहीं, फिर भी मैं यह कहता हूँ। क्योंकि मैं नहीं मानूँगा कि आदमी जानवर ही है। जानवर रहने के लिए आदमी आदमी नहीं है। मैं समझता हूँ कि समाज की यह बदला निकालने की भावना (=Revenge) है जो अपराधी को फाँसी तक भेजती है। लेकिन अब इस तत्त्व को अधिकाधिक पहचाना जा रहा है कि समाज में अपराध और अपराधी के प्रति बदले की नहीं सुधार की भावना चाहिए। जेल का नाम 'रेफरमेशन केम्प' होता जा रहा है, सो क्यों ? यानी जो व्यक्ति असामाजिक व्यवहार करता है समाज उस असामाजिकता को निषिद्ध ठहरा सकती है और उसे मिटाने का आग्रह कर सकती है, किन्तु व्यक्ति को ही मिटा डालने का दावा उसका नहीं हो सकता, क्योंकि यह निर्विवाद है कि मनुष्य मूलतः सामाजिक प्राणी है ऐसा होकर भी यदि वह असामाजिक वर्तन (=अपराध) करता है, तो यह विकार अकारण नहीं हो सकता। आवश्यकता है कि बाह्य परिस्थिति और उस व्यक्ति की चित्तवृत्ति में से उस असामाजिकता का 'क्रिमिनेलिटी' का, निदान खोजा जाय। मौत की सजा समाज के हक में उसकी हार का प्रमाण है। वह दीवालियापन है।

प्रश्न—आपने कहा कि जिसे इन्कलाब या क्रान्ति कहा जाता है वह भी विकास ही की क्रिया है। तो क्या उस क्रान्ति अथवा इन्कलाब को विकास की क्रिया मानते हुए उसे आप अभीष्ट समझते हैं, और क्या इस तरह क्रान्तिवादियों से आपका मत-भेद अभिधा-संज्ञा के (Nomenclature के) सिवा और कुछ नहीं है?

उत्तर—अभीष्ट या कुछ समझने की उसे गुंजायश नहीं है। भूचाल को अभीष्ट समझा जाय, अथवा क्या समझा जाय? हमारे अपने हाट-बाट के जीवन की दृष्टि से भूचाल इष्ट नहीं है। लेकिन यह कहना किसके हाथ में है कि वह भूचाल भी किन्हीं अनिवार्य कारणों का परिणाम नहीं होता होगा? फिर भी हम प्रार्थनापूर्वक और यत्नपूर्वक भूचाल को नहीं बुला सकते।

इसलिए संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि क्रान्ति, क्योंकि वह अपने में इष्ट नहीं है, इसलिए कभी की जानी नहीं चाहिए। क्रान्ति जिसे हम कहते हैं, वह प्राकृतिक नियमों को उल्लंघन करते रहने का एकत्रित परिणाम है। वह दबी हुई सचाई का फूट पड़ना है। उपयुक्त यह है कि वह सचाई हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अधिकाधिक व्यक्त होती रहे। वह कुचली तो जा नहीं सकती। इसलिए जब-जब ऐसा होता है, उसको दबाया और कुचला जाता है, तब-तब मानो क्रान्ति के भी बीज बोए जाते हैं। जैसे दमन के (Repression के) परिणाम में जब विस्फोट (=Explosion) होगा ही, तो उस विस्फोट को अभीष्ट या अनभीष्ट क्या कहा जावे? हाँ, अभीष्ट यह अवश्य है कि जीवन में (सत्य का) दमन कम-से-कम हो और अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक हो। क्रान्ति सामाजिक स्थूल अर्थ में चाही नहीं जा सकती, चाही तो शान्ति ही जा सकती है। लेकिन उस क्रान्ति से मुँह भी नहीं मोड़ा जा सकता, क्योंकि वह तो कर्म-परम्परा एक भाग है।

प्रश्न—दबी हुई सचाई का जो फूट निकलना विकास के लिए अनिवार्य है, आप उसमें सहायक होना चाहेंगे अथवा नहीं?

उत्तर—उस सचाई के दबाने में सहायक नहीं होना चाहूँगा। इसलिए

सचाई को फोड़े की भाँति फूटकर निकलना पड़े, इस सम्भावना को मैं कम चाहूँगा। लेकिन निश्चय ही फोड़ा जब फूटे, तो उस दृश्य से घबराना नहीं चाहूँगा और मुँह नहीं मोड़ूँगा, बल्कि मरहम-पट्टी लेकर पास रहना चाहूँगा।

प्रश्न—लेकिन वह फोड़ा जब फोड़ा है, उस समय, उसके प्रति आपका क्या कर्तव्य होगा ?

उत्तर—जो होना चाहिए। यानी उसे पकने देना और नश्तर के लायक हो तो वैसा करना। लेकिन इस उपमा को हम बहुत आगे न खींचें। इसमें खतरा यह है कि हर कोई अपने को डाक्टर मान सकता है, और जो बात उसे पसन्द न आये उसे फोड़ा कह सकता है। इसीलिए क्रान्ति की बात करते समय, या कोई बात करते समय अहिंसा-तत्त्व का सदा ध्यान रखना पड़ेगा। 'अहिंसा' में यह गर्भित है कि भविष्य भविष्य के हाथ में है। फल विधाता के वश है। इससे भविष्य को बनाने के इरादे से, यानी फल-आकांक्षा में, कोई ऐसा कर्म नहीं किया जा सकता जो अनैतिक हो। जब अनैतिक कर्म किया जाता है, तो उसके भीतर परिणाम का मोह रहता है। परिणाम जिसके हाथ है, उसके हाथ है। अतः करना तो सत्कर्म ही होगा। वैसा करके फल की चिन्ता से निश्चिन्त रहा जा सकता है।

प्रश्न—समाज की बाबत उस फोड़े के पके होने से आपका क्या मतलब है ? आप उसे कब पका समझेंगे और उस समय नश्तर लगाने का आपका क्या अभिप्राय है ? और नश्तर लगाने का अधिकारी हरेक अपने को न समझ ले, इसके लिए आप क्या रोक रखते हैं ?

उत्तर—इसके लिए निर्णायक नीति मेरे विचार में यह होनी चाहिए कि मैं स्वयं अपने आचरण का ध्यान रक्खूँ। अपने से दूसरे का निर्णायक बनने की जल्दी मुझे नहीं करनी चाहिए। इसी नीति को समाज-व्यापी करने से यह रूप हो जायगा कि किसी बुराई को कानून से रोके जाने से पहले उस सम्बन्ध में जनमत को पका लेना चाहिए। जनमत ही जनता का अस्त्र है।

जनमत को अप्रबुद्ध रहने देकर किन्हीं बाहरी उपायों से उस जनता की बुराइयों को निर्मूल नहीं किया जा सकता। अर्थात्, कब फोड़ा किस हालत में है और नश्तर कौन लगाये?—इन प्रश्नों का समाधान इसी में है कि सबको आत्म-निर्णायक बनने की स्थिति तक पहुँचाया जाय। व्यक्ति अपना, और अपने साथ उनका भी निर्णायक बन सकता है जिनका विश्वास और दायित्व उसे प्राप्त हुआ है। मैं अपने को और अपनों को दण्डित कर सकता हूँ, अन्य को नहीं। मतलब कि राष्ट्र का जिन पर भरोसा है वे राष्ट्र की नीति का निर्णय करें। अहम्मान में यह काम नहीं हो सकता है।

'नश्तर लगाने' से ठीक किसी पैनी धार वाले अस्त्र को (=कानून को) इस्तेमाल करने का अभिप्राय नहीं है। वह कानून, उसकी सूझ, उसकी आवश्यकता तो असल में लोकमत में से उगनी चाहिए। अपने समय से पूर्व अच्छा विधान भी बुराई को कम न कर सकेगा। अभिप्राय यह है कि जिसके फोड़ा है, वह पहले उससे छुट्टी पाने को आतुर हो जाय, यह बहुत आवश्यक है। इसके अनन्तर जो साधन उपलब्ध होंगे, उन्हे अपने ऊपर प्रयुक्त होने देने को वह स्वयं उद्यत होगा। फिर तो अस्त्र जितना पैना हो उतना अच्छा। क्योंकि रोगी स्वेच्छा से अपने ऊपर ही उसका प्रयोग करता है, इसलिए 'नश्तर' और 'पैने' आदि शब्दों के इस्तेमाल से भी हिंसा का भय वहाँ नहीं है। क्योंकि अपने को इस प्रकार साधते (मारते) रहना तो सब भलाइयों का मार्ग है। पर ध्यान रहे, उपमा की भाषा उपमा की है, वह हत्या की नहीं है।

प्रश्न—शासन-विधान, कूट-नीति और पाशविक बल के द्वारा भोली जनता प्रायः कुछेक के हाथ का खिलौना ही रही और रहती है। जब जनता कुछेक के हाथ का खिलौना है और उसे प्रबुद्ध करने का तो क्या उस तक पहुँचने का भी मौका नहीं है, वैसी अवस्था में क्या उसके प्रबुद्ध होने तक की प्रतीक्षा की जाय? अथवा अन्य साधनों के द्वारा, कूटनीति और पाशविक बल का प्रयोग करके भी, उन कुछेक व्यक्तियों ही को अपने मार्ग से पहले

साफ किया जाय ?

उत्तर—जनता तक पहुँचने का मौक़ा नहीं है, इसका क्या मतलब ? क्या इसका यह मतलब है कि बाहरी प्रतिबन्ध ऐसे लगा दिए गए हैं ? तब तो सवाल यह हो जाता है कि हममें लगन कितनी है ? कुछ हो, स्वधर्म को नहीं छोड़ा जा सकता। हमारे भीतर अगर उत्कट लगन है और जनता तक पहुँचे बिना मानो जीवन ही हमारे लिए भार-स्वरूप जान पड़ता है, तो स्पष्ट है कि वे कृत्रिम प्रतिबन्ध हमें रोक न सकेंगे। रोकेंगे भी तो पाशविक बल से और केवल शारीरिक अर्थ में रोक सकेंगे। यह सत्याग्रह का रूप हुआ। पाशविक बल का जवाब उसी बल से सत्याग्रही नहीं दे सकता, लेकिन खुल्लमखुल्ला वह उस बल की असत्यता स्वीकार करता है और सविनय भाव से उन कृत्रिम प्रतिबन्धों की अवज्ञा करता है। यह स्वयं में जनता के लिए आत्म-प्रबोधक बात होगी। जब यह (सत्याग्रह का) मार्ग सदा खुला है, तब किसी प्रकार के पाशविक और कूटनीति के उपायों से काम लेने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? वह स्थिति असम्भव है जहाँ सच्ची लगन वाले पुरुष के लिए मार्ग का अभाव हो। लगन ही मार्ग निकाल देती है। यह कहना कि मानवता के मार्ग तो सब ओर से बन्द हैं और परिस्थितियों का दबाव बेहद है, इसलिए चलो, इस पशुता के मार्ग पर ही चले चलें, हीन-विश्वास का द्योतक है। मामूली तौर पर बुराई का मुकाबला मुश्किल मालूम होता है। इसलिए बुद्धि उस मुकाबले से तरह-तरह से बचने के मार्ग सुझाती है। हिंसक नीतियाँ वैसे ही एक प्रकार से बुराई से युद्ध करने के बजाय उससे बच निकलने की रीतियाँ गुप्त (=Secret) संगठन आदि की सूझ भी बहुत कुछ इसी बचने की वृत्ति में से प्राप्त होती है। इसलिए उपाय सचाई की तरफ सीधे चलने और इस प्रकार बुराई को सीधी चुनौती देने का है। सीधी चुनौती,—यानी उसका सीधा वार अपनी छाती पर लेने की हिम्मत।

प्रश्न—जो हिंसक है, उसके सामने कभी और कितने ही अहिंसक बनकर जायँ, क्या वह सबको खा ही न लेगा ? यह

विश्वास आप कैसे कर सकते हैं कि कभी वह हिंसा से बाज भी आयेगा ?

उत्तर—वह क्या अपनी माँ को भी खा लेता है, या खा गया है ? अगर हिंसक आदमी ऐसा नहीं कर सका, तो मैं अपना अहिंसा का विश्वास किस भाँति तोड़ दूँ ? हो सकता है कि वह मुझे खा जाय, लेकिन इससे क्या मुझे डरना चाहिए ? अगर वह मुझे खा जाता है, तो इसका यही तो मतलब है कि माँ के जितना वह मुझे अपना नहीं समझता। मेरी कोशिश होनी चाहिए कि मैं अधिकाधिक उसका होता जाऊँ, यहाँ तक कि उसकी माँ से अधिक मैं उसका हो जाऊँ। तब निश्चय ही वह मुझे नहीं खा सकेगा। तब वह मेरी बात सुनेगा और मानेगा। आप पूछते हैं कब ऐसा होने में आयेगा ? मैं कहता हूँ कि चाहे तो अगली घड़ी ही ऐसा होने में आ जाये, और चाहे तो जन्म-जन्मान्तर में भी वह हृदय-परिवर्तन न दीखे; लेकिन, उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। शहादत इसलिए श्रेष्ठ नहीं है कि वह तत्काल चमत्कार दिखा देती है। वह शहादत है, यही बड़ी बात है। इसलिए फल न भी दीखता हो और चाहे सामने मौत ही दीखती हो (और हमारी ये स्थूल आँखें देखती भला कितनी दूर तक हैं ?) यह निश्चय मानना चाहिए कि विधेय अहिंसा ही है। दूसरी ओर फल वृहत् भी समक्ष दीखता प्रतीत होता हो, फिर भी पक्की प्रतीति रखनी चाहिए कि हिंसा मानव-धर्म नहीं है।

प्रश्न—लेकिन अगर आप एक ऐसे जंगल में रहते हैं जहाँ शेर का आतंक है, तो क्या आप उसके द्वारा खाया जाना शहादत समझेंगे ? ऐसी अहिंसा क्या आत्म-हिंसा ही के निकट नहीं है ?

उत्तर—मैं जो करूँ, क्या सचाई उस पर मौकूफ़ है ? शेर से डर लगता हो तो मन से तो मैं उस डर के समय ही उस शेर का वधिक बन गया। तब ऊपर से अहिंसा का ढोंग निभाना तो दोहरा पाप हुआ। इसलिए अगर मुझ में भय विद्यमान है, तब यही योग्य है कि अपने को बचाने के लिए मैं बने तो उसको मार भी दूँ। लेकिन अगर वैसा भय नहीं है, तो

शेर को अपने को खा जाने भी दूँ, तो इसमें मुझे कोई अनीति नहीं मालूम होती। वह श्रेष्ठतर हो सकता है। पर ऐसे काल्पनिक उदाहरण को लेकर हम अटकें क्यों? फिर सामाजिक प्रश्न को लेते समय ध्यान रखना होगा कि यहाँ आदमी और शेर का सवाल नहीं है, यहाँ तो आदमी और आदमी का ही सवाल है। शेर के साथ व्यवहार करने में जो छूट आदमी को मिलती है, वह मनुष्य के साथ व्यवहार करने में नहीं मिल सकती। यों तो इतिहास में ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जहाँ सचमुच आदमियों का शिकार किया जाता था। पुराने इतिहास में ही क्यों, अदल-बदलकर वह शिकार की वृत्ति अब भी हमारे बीच में से अनुपस्थित नहीं है। लेकिन उसको निन्द्य ठहराना होगा। और अगर प्रगति करनी है तो उससे विपरीत नियम को, अर्थात् प्रेम के नियम को, विवेकपूर्वक स्वीकार करना होगा।

प्रश्न—यदि कभी ऐसी स्थिति हो कि कुछेक बहु-संख्यक कुछेक थोड़े लोगों के शिकार होने को हैं, और उन्हें बचाने के लिए समय का तकाजा कूटनीति और पाशविक बल ही के लिए हो,—वरना अहिंसक रहने में उनका नाश निश्चित हो, तब आप क्या करेंगे?

उत्तर—ऐसा हो, तभी पा सकूँगा कि मैं क्या करता हूँ। लेकिन यह तो मैं मानता हूँ कि मनुष्य के लिए कोई स्थिति ऐसी नहीं हो सकती जब पशुता का मार्ग ही एक मार्ग रह जावे। ऐसा है तो वह मनुष्य किस लिए है? कूटनीति के रास्ते से प्रारम्भ में बचाव दीखता हो, लेकिन वह भ्रम है। खतरा अगर ऐसे टलता है तो टलने के साथ वह बढ़ भी जाता है। इस-लिए अगर कूटता और पशुता का उपाय उपाय हो भी, तो भी वह दूर-दर्शिता का उपाय नहीं है।

ऊपर के उदाहरण में शिकार होने वाले लोगों की संख्या आप अधिक बताते हैं। तब तो स्थूल बल भी उन लोगों के पास अधिक हुआ। ऐसी हालत में मेरी समझ में नहीं आता कि वह स्थूल बल, जो कि उनके पास पहले ही से मौजूद है पर जिसके रहते हुए भी वे पराभूत हैं, आखिर फिर

क्योंकर महत्त्वपूर्ण ठहराया जा सकता है ?

अगर कूटनीति उन्हें विनाश से बचा सकती है, तो इसलिए नहीं कि वह कूट है, बल्कि इसलिए कि वह नीति है। मेरा कहना यही है कि खुल कर देखा जाय तो संकट के समय स्थूल बल नहीं, नीति का बल ही अधिक उपयोगी होता है। और यह भी आसानी से देखा जा सकता है कि जो नीति जितनी सच्ची है, उतनी ही बलदायक है। इसी से पशुता के विरोध में नीतिमत्ता और नैतिकता का समर्थन किये बिना उपाय नहीं है।

प्रश्न—उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार कह सकते हैं कि समाज में एक श्रेणी कुछ ऐसे लोगों की है जिनकी वृत्ति हिंस्र पशु जैसी है और जो अन्य लोगों का शिकार करने में लगे हैं। तो क्या उनके साथ वही वर्ताव किया जाय जैसा कि आपने ऊपर शेर के लिए बतलाया कि उसे मार डाला जा सकता है ?

उत्तर—शेर जब खाने को आवे तब अगर हमें डर लगता है और अन्यथा हम अपने को बचा नहीं सकते, उसे मार डालेंगे।

लेकिन यह बात याद रखने की है कि आदमी शेर नहीं है, वह आदमी है। वह जंगल में नहीं, समाज में रहता है। उसके साथ मन-चाहे तरीके से व्यवहार करने की हमें छूट नहीं है। वह छूट हो नहीं सकती। आदमी के निज के दुर्गुण और अपराध का सम्बन्ध समाज से भी है। शेर की मानिन्द सिर्फ पेट भरने के लिए आदमी आदमी पर नहीं टूटता। जिसको 'सामाजिक शोषण' कहा जाय वह असल में समाजव्यापी दोष है। आदमी व्यक्तिगत रूप में कहा जा सकता है कि उस समाजव्यापी रोग का शिकार होता है। इसी तरह अन्य अपराधी भी जंगली पशु हैं, ऐसा मानकर नहीं चला जा सकता। बल्कि उनकी अपराधवृत्ति का निदान खोजना और पाना जरूरी है, इसलिए, आदमियों के मामले में जानवरों वाला तर्क नहीं लगाना चाहिए। जो नीति पशु जाति पर लागू है, वह कुछ हो, वह चाहे लाठी-भैंस (=might is right) वाली ही नीति हो,—पर इसलिए वह मानव-जाति की भी नीति हो सकेगी, सो कदापि नहीं।

प्रश्न—आदमी पशु नहीं है, लेकिन उसमें पशुता है; और समाज बिल्कुल जंगल नहीं है, लेकिन उसमें कुछ जंगलपन है। क्या आप ऐसा नहीं स्वीकार करते? और फिर क्या उस पशुता और जंगलपन के लिए वही (सशस्त्र) उपाय आवश्यक नहीं हो सकता?

उत्तर—मनुष्य में जो पशुता और समाज में जो जंगल की समानता शेष है, वह है तो इसलिए है कि मानव के प्रयत्नों से वह उत्तरोत्तर और भी कम हो। इसलिए वह नहीं है कि विकास की घड़ी को उलटा चलाने के लिए समर्थन के तौर पर हम उस अपनी पशुतुल्यता का प्रयोग करने लग जावें।

प्रश्न—किन्तु मानव-समाज का वह वर्ग जिसकी रही-सही पशुता उग्र होकर हिंसा की हिंसकता का रूप धारण कर दूसरों को खाने में लगी रहती है, और मानवता जिन्हें अपील ही नहीं कर सकती, उनसे बचने के लिए सशस्त्र शक्ति से काम लेना क्या अनुचित होगा?

उत्तर—मैं ऐसे किसी आदमी के होने में विश्वास नहीं करता जो विधाता की भूल से मनुष्य बन गया है पर असल में है वह कोरा पशु। जब ऐसे आदमी में ही विश्वास नहीं करता, तब ऐसे वर्ग में तो विश्वास कर ही कैसे सकता हूँ? असल में पशुता हम सबमें ही थोड़ी-बहुत है। क्या अमीर क्या गरीब जब पशुता जागती है तो हम सभी निकृष्ट व्यवहार करते हैं। जब मैं किसी आवेश में निकृष्ट व्यवहार कर रहा होऊँ तब क्या यह पसन्द करूँगा कि मुझे मार दिया जाय? मैं तो खैर अपना मरना क्यों पसन्द करने लगा, लेकिन क्या आप यह पसन्द करेंगे? इसी तरीके से मैं कहना चाहता हूँ कि जो निकृष्ट कर्म करता दीखता है, उसके भीतर सम्भावना है कि वह उत्कृष्ट कर्म भी कर सके। मैं मनुष्यता के बारे में निराशा और अविश्वास का रुख पकड़कर चलने का समर्थन नहीं कर सकता। मैं पूछना चाहूँगा कि जो पागल है, जो चोर हैं, जो डाकू हैं, वह क्यों ऐसा है? क्या हम अक्ल का दिवाला

निश्चल बैठें और यह सोचने का प्रयत्न न करें ? इसमें कुछ नहीं लगता कि किसी को दुष्ट कहा और उसे मौत के घाट जा उतरा। लेकिन, इस नीति को खुल्लमखुल्ला इस्तैमाल करना मनुष्यता के लिए अपनी हार मानने से कम नहीं होगा।

यह विवेक से और विज्ञान से हाथ धो लेना होगा। मैं कह सकता हूँ कि अपराधी अकारण अपराधी नहीं होता और अपराध के साथ व्यवहार करने का उपाय दण्ड देना ही नहीं है। जैसे रोगियों के लिए, वैसे अपराधियों के लिए भी अस्पताल हो सकते हैं। अपराध-चिकित्सा के माने हैं कि हम प्रत्येक व्यक्ति की मूल मानवता में विश्वास रखते हैं और उसके स्वभाव में जो विकार आ गये हैं, प्रयत्न द्वारा उनका प्रतीकार करने में विश्वास रखते हैं। बदला लेने और बदले में जान तक लेने की नीति का समर्थन करना मानवता के अब तक के इन प्रयत्नों को निःसार मान बैठना होगा। क्या आप मुझे इतना अविश्वासी बना हुआ देखना चाहते हैं ?

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि समाज में एक ऐसा वर्ग है जो कि स्वभावतः (=essentially) ऐसे साधनों से सुसज्जित है कि जिनसे वह शेष जन-समाज का शोषण कर सकता है और यहाँ तक कि जानते-बूझते (=Consciously) ऐसा करने में अपना इष्ट समझता है ? और साथ ही क्या आप मानते हैं कि जो लोग उसे ऐसा करने से रोकते हैं उनसे वह मोरचा लेता है और लेने को तैयार रहता है ? यदि ऐसा है, तो फिर उसके दिल में किस ओर से परिवर्तन की गुंजायश रह जाती है ?

उत्तर—कोई विशेष वर्ग ही दूसरे का अहित करके अपना हित साधने की इच्छा का शिकार हो, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता। इसके बीज लगभग सभी में हैं, और जो इस प्रभाव से कम-अधिक मुक्त हैं, ऐसे लोग भी थोड़े-बहुत सभी वर्गों में पाये जा सकते हैं।

जो आज पैसेवाला है उसके पास पैसे के कारण शोषण के साधन हैं, ऐसा समझा जाता है। यह समझना गलत नहीं है। लेकिन जो आज पैसे

वाला नहीं है, वह व्यक्ति इसी कारण भिन्न प्रकृति का है, और मौका पड़ने पर वह शोषक न होगा, ऐसा समझना ठीक नहीं है। अमीर और गरीब में, मानव-प्रकृति की दृष्टि से, उस अमीरी-गरीबी के कारण अन्तर नहीं माना जा सकता। एक को राक्षस और दूसरे को देवता-रूप में देखने की आवश्यकता नहीं है। जिसको 'शोषण' कहा जाता है, उसकी जड़ में संकीर्ण स्वार्थ की वृत्ति है। जहाँ-जहाँ वैसा संकीर्ण स्वार्थ है, वहाँ शोषण अवश्यंभावी है, चाहे लाख उसे कानूनों से रोका जावे। वैधानिक सुधारों से निःस्वार्थता के उपयुक्त परिस्थिति पैदा करने में मदद ली जा सकती है, लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि मुख्य वस्तु निःस्वार्थता है।

अकिंचन व्यक्ति (=The have;not) या ऐसा वर्ग (=The proletariat) अगर मनमें बल-संचय और अधिकाराहरण के (=capture of Power के) मनसूबे रखता है तो शोषण-हीन समाज व्यवस्था कायम करने में वह विशेष सहायक न होगा। अकिंचनता तो भीतर तक पैठी होनी चाहिए, तभी उसके जोर से शोषण की भावना को समाज में से निर्मूल किया जा सकता है।

इस दृष्टि से शोषक (=Exploiter) और शोषित (=Exploited) वर्गों में मैं स्थान-भेद के अतिरिक्त कोई और मौलिक भेद नहीं देखता। एक को दूसरे की जगह बैठा दीजिए, तब भी विशेष अन्तर नहीं मालूम होगा। जो आज शोषित दीखता है, किसी अघट घटना के योग से वह यदि अधिकार-प्राप्त हो जावे तो वह किसी शोषक से कम दीखेगा, ऐसी सम्भावना नहीं है। अतः यही कहा जा सकता है कि शोषक-वर्ग अधिक प्रबुद्ध है, संगठित है और चतुर है, इससे शोषक है; और दूसरा अप्रबुद्ध है, इससे निर्बल है और शोषित है। किसी वर्ग के स्वार्थ को ऊँचा उठाकर उसी में त्राण मानने लगने से शोषण बन्द नहीं होगा, इस भाँति वह और गहरा होगा। यदि शोषण बन्द होना है तो वह तभी होगा जबकि प्रत्येक व्यक्ति यह जाने कि उसका अपना अलग और भिन्न स्वार्थ कोई नहीं है। जो परार्थ से अविरोधी है वही स्वार्थ सच्चा स्वार्थ है।

जिन्हें संकीर्ण भाव से अपने स्वार्थों को देखने और साधने की आदत हो गई है, वे स्वभावतः ऐसे प्रयत्न में बाधा बनकर सामने आवेंगे जो सर्व-हित-साधन करना चाहता है। यह तो मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन इसमें निराश होने-जैसी कोई बात नहीं है।

अगर हम समाज की विषमता को दूर करना चाहते हैं तो वह तभी दूर होगी जब हम उस विषमता की चेतना से स्वयं छूटेंगे और बाहर भी उसे कम करने में प्रयत्नशील होंगे। वर्ग-विग्रह ही तो शिकायत है, वही तो रोग है। वर्ग-विग्रह की चेतना को गहरा करने का उपाय तो रोग में गहरे धँसने का ही है। इससे व्यक्ति-मात्र को, चाहे फिर वह राजा हो या रंक हो, एक धरातल पर रखकर विचार करने या व्यवहार करने से ही सामाजिक समस्या का कुछ समाधान हो सके तो हो सके, अन्यथा तो वह उलझती ही जायगी। वर्ग-विग्रह की (= Class struggle की) जगह वर्ग-संग्रह की (= Class Collaboration की) भावना चेतानी होगी।

आदमी-आदमी है। जो भेद है वह कृत्रिम है। उस कृत्रिम भेद के नीचे आदमी-आदमी की सहज सामान्यता हम नहीं पहचानेंगे और उसी को नहीं याद रक्खेंगे तो हमारा पैदा किया हुआ समाजव्यापी वैषम्य किस के सहारे फिर दूर हो सकेगा? इसी से मेरी धारणा है कि आर्थिक लड़ाई को पारमार्थिक दृष्टिकोण से देखकर ही निपटाया जा सकेगा। प्रचलित अर्थ-शास्त्र में प्रचलित आर्थिक संकटों का इलाज मिलेगा ही कहाँ से, क्योंकि वही तो उस संकट के मूल में है।

प्रश्न—क्योंकर विश्वास किया जाय कि वह शोषक जिसका शोषण में अभ्युदय हुआ है और उस शोषण की क्षमता होने से ही जो उस अभ्युदय का अपने को अधिकारी समझता है, कभी अपने इस व्यवहार को स्वयं ही अनुचित समझने लगेगा?

उत्तर—यह विश्वास इसलिए किया जा सकता है कि कोई भी शोषक कोरा शोषक ही नहीं है; वह आदमी भी है। उसके माँ-बाप होंगे, भाई-बहिन होंगे, बाल-बच्चे होंगे, बन्धु-बान्धव होंगे। वह समाज का भाग होगा।

अगर समाज के अन्तःकरण में वस्तुओं के विविध मूल्यों की धारणा बदल जावे, लखपती का आज की तरह से दबदबा न रहे और वह अपने लखपतित्व के लिए सामान्य से किसी कदर हीन ही व्यक्ति समझा जाय तो लखपती होने की लालसा और लखपती हो जाने पर गर्व की भावना फिर किसके सहारे उसमें पैदा होगी और किसके सहारे टिकेगी ? मेरे अभिमान को तुष्टि तभी मिलती है जब दूसरा मेरे समक्ष कुछ झुकता हुआ दीखता है। पैसे में से वह शक्ति जब खिंच रहेगी तब पैसे का ढेर पेट के नीचे रखने का आग्रह भी मन्द हो जायगा।

आज जो हमें पूँजीपति के पूँजी-मोह से उबरने की सम्भावना असंभव दिखाई देती है, तो क्या इसका कारण यह भी नहीं हो सकता कि उस पूँजी-मोह के शिकार थोड़े-बहुत हम भी हैं ? आज भी क्यों मैं पूँजी, पूँजीपति और पूँजीवादी के आतंक को अस्वीकार नहीं कर सकता ? और अगर सच-मुच ही उस आतंक-बोध से मैं छुटकारा पा जाता हूँ त. मुझे निश्चय है कि कम-से-कम मुझे लेकर तो अपनी पूँजी के अधिपतित्व में उस आदमी को स्वाद अनुभव नहीं हो पाएगा। क्या यह अविश्वसनीय मालूम होता है कि गौतम बुद्ध के समक्ष होकर एक लक्षाधिप अथवा नराधिप अपने को निम्न ही अनुभव कर आता होगा ? वहाँ उसका दंभ,—उसकी शोषकता को क्या हो जाता है, और वह मानो दयनीय क्यों हो आता है ? मैं पूछता हूँ, क्यों ? इसके जवाब में ही असली जवाब है।

मुझे मालूम होता है कि पूँजीपति लोकमत का (=Public opinion का) दास ही होता है। लोकमत से वह बेहद घबराता है और उसकी अनुकूलता और दासानुदासता द्वारा ही वह धन कमा पाता है। उसके व्यक्तित्व में कुछ असली तरीके की हिम्मत होती तो वह धन नहीं बल्कि समाज में सच्ची नैतिक निष्ठा का अर्जन करता। इस लिहाज से मुझे शंका नहीं है कि खूब पैसा कमाकर झोंपड़ियों के बीच में अपना महल बनाकर बैठने वाला साहूकार कमजोर आदमी होता है। झोंपड़ियों का उसे डर रहता है। उसके विश्वास पुष्ट नहीं होते और वह प्रचलित सामाजिक मान्यताओं

के टेकन पर टिककर ही जीता है। वह टेकन हटे कि उसकी सारी ऊँचाई धूल में मिली हुई दिखाई दे आए! और मैं नहीं समझ पाता कि रुपए के मोल आत्मा का सौदा करने में कौन बड़प्पन है?

प्रश्न—किन्तु उस लोकमत अथवा सामाजिक मान्यताओं की टेकन के हटने से उसके तोपक-गलीचा, गाड़ी-मोटर महल आदि आराम का सामान और भविष्य के लिए बाल-बच्चों की सुरक्षा भी क्या हट जायगी? और क्या इनके लिए उसमें पूँजी-मोह बना ही न रहेगा?

उत्तर—हाँ, वह हट भी सकते हैं। रूस का जार गिरा। उसके बाल-बच्चे, मोटर-वैभव क्या हुए? मान लीजिए, उसे मारा न जाता, जिन्दा रहने दिया जाता, तो भी क्या उसका जीवन किसी प्रकार स्पृहणीय समझा जाता? कल के बड़े-बड़े अमीर-उमराव, राजे-नवाब परिस्थितियों के प्रतिकूल हो जाने पर अपनी थोड़ी-बहुत सम्पत्ति के बावजूद किस कोने में कैसे निर्वाह कर रहे हैं, कोई आज इस बात को जानने की भी परवाह करता है! अगर उन्हें कोई देखता भी है तो ऐसे जैसे प्रेक्षक किसी ऐतिहासिक खण्डहर को देखता है।

इसलिए ऊँचे महल और सम्पत्ति की बहुलता को हम जरूरत से अधिक न गिनें। किसी का जीवन केवल इन पर नहीं बीतता। पैसे वाले का तो और भी नहीं। अगर बाहर समाज में किसी के नाम की थू-थू हो रही हो, तो लाख पैसा उसको जरा आराम नहीं दे सकता। यहाँ 'आराम' से केवल मानसिक आराम का मतलब नहीं है, ऊपरी और दैहिक आराम की बात भी उसमें गर्भित है। बहिष्कार को (=Social Boycott को) आप छोटा दण्ड न मानिए। शायद इससे बड़ा दण्ड कोई हो नहीं सकता। इसलिए यह कहना कि पूँजी वाले को, जब तक उसके पास पूँजी है, अहंकार से निवृत्ति मिल नहीं सकती, ठीक नहीं है। यों तो ईसा ने कहा ही है, 'सुई के नकुवे में से ऊँट चाहे निकल भी जाय, पर स्वर्ग राज्य में धनिक का प्रवेश उससे भी कठिन है।'

प्रश्न—यदि आपका यह विश्वास ठीक है तो फिर समाज इस दशा को पहुँचा ही क्योंकि पूँजीपति उसके सर्वेसर्वा बन गये ? क्या आपका विश्वास आज तक के इतिहास की कसौटी पर सच्चा उतरता है ?

उत्तर—कारण उसका क्या कहा जाय ? कह सकते हैं कि हम आदि से माया में ग्रस्त हैं।

हाँ, इतिहास से मुझे तो अपनी ऊपर की स्थापना के लिए पुष्टि मिलती है। पहले बाहुबल की जितनी कीमत थी क्या आज भी उतनी है ? पहले फौजी नायक के हाथ में ज्यादा शक्ति रहती थी, आज फौजी नायक के ऊपर व्यवस्थापिका सभा है। इसी तरह और भी परिवर्तन हुए हैं। मैं मानता हूँ कि ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ेंगे, चरित्रबल की प्रभुता बढ़ती जायगी, पशुबल और धनबल की महत्ता घटती जायगी। मुझे वह अवस्था अकल्पनीय नहीं मालूम होती जहाँ ब्रह्मज्ञानी को कोषाध्यक्ष से और सेनापति से अधिक सामाजिक श्रेष्ठता प्राप्त होगी। सूक्ष्म-भाव में देखें तो वह अवस्था आज भी है।

प्रश्न—भूखे-नंगे मजदूर जैसे असंस्कृत प्राणियोंवाले जन-साधारण में पेट की आग क्योंकर धनिकों के मुकाबले में उनकी हीनता सुझाने से बाज आयेगी और क्योंकर घृणा और द्वेष के स्थान में प्रेम और समता का भाव पैदा होने देगी ? क्या ऐसा सहज नियम के विरुद्ध और असम्भव ही नहीं प्रतीत होता ? समृद्धि में तो वह विरक्ति होती देखी गई है, किन्तु भूखे मरते मनुष्यों की अकिंचनता में से भी क्या वही विरक्ति उग सकेगी ? आपका गौतम बुद्ध का उदाहरण तो इसका सही प्रमाण नहीं है।

उत्तर—यह बिल्कुल ठीक है। जो भूखा है और भूख से त्रस्त है, वह भोज्य पदार्थ को साधारण से अधिक ही महत्त्व देगा। उसकी वृत्ति में समता दुर्लभ है। इसलिए ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे लाचारी के कारण कोई भूखा न रहे। स्वेच्छापूर्वक किया गया उपवास तो भूखा रहना है ही नहीं। इसलिए, यह कहा जा सकता है कि भूखा रहना पाप है।

इतना कहने के बाद यह मानना मेरे लिए कठिन है कि भूखे को यदि भूख मिटानी है तो उसे धनाढ्य का द्वेषी ही होना चाहिए। यह तो ठीक है कि भूख की अवस्था प्रीति की अवस्था नहीं है, और उस हालत में मनुष्य-मात्र के लिए प्रीति का उपदेश प्रासंगिक भी नहीं है। लेकिन, मैं यह तो कहना चाहता ही हूँ कि अगर भूखा व्यक्ति ईर्ष्या की जलन से और भी जलना आरंभ करेगा तो इससे भूख की जलन कम होने की सम्भावना नहीं होगी, बल्कि इस प्रकार वह सम्भावना कुछ दूर ही हटेगी। अगर सच्चे तौर पर भूखे की भूख मिटाने के साधन पैदा करना है तो उसके द्वेष को गहरा नहीं करना होगा, बल्कि उसे स्वाधीन भाव से उद्यमी बनना बताना होगा। वर्ग-विग्रह काम न आयगा, विवेकपूर्वक हृदय, बुद्धि और शरीर का उपयोग ही उसके कुछ काम आ सकेगा। वैसा कोई उद्योग ही उन अकिंचनों के संगठन का मध्य-बिन्दु बनाना चाहिए। अन्यथा उनका कोरा संगठन,—यानी पूँजी वालों के विरोध की वासना के आधार पर किया गया वाग्बहुल संगठन, अन्ततः विष-फल ही उत्पन्न करेगा।

प्रश्न—उस संगठन का उद्देश्य मालिक-मजदूर के भेद को हटाना ही हो सकता है। किन्तु इस समस्या का हल तो आपने भावनात्मक बतलाया है : यानी मजदूरों और मालिकों के दिलों में परिवर्तन। तब फिर इसके लिए मजदूरों के संगठित होने की ही कौन-सी आवश्यकता रह जाती है?

उत्तर—संस्था और संघ तो सदा ही आवश्यक हैं। पेड़ों के जंगल और मनुष्यों के समाज में अन्तर है, तो क्या? अन्तर है मनुष्य की यही संघ-वृत्ति। व्यक्तित्व को व्यापक होना है कि नहीं? या व्यक्ति की परिधि व्यक्ति ही रहे? सम्मिलित, एकत्रित व्यक्तित्व का नाम 'संस्था' है। संस्था में संगठन आ ही जाता है।

शायद आपको शंका है कि जहाँ संगठन आया वहाँ विरोध तो आया ही रक्खा है। हाँ, संगठन में अंशों की स्वाधीनता सत्ता अवश्य गर्भित है। लेकिन उन अंशों की ओर से स्वेच्छापूर्वक उस स्वाधीनता का आंशिक समर्पण

भी गर्भित है। वहाँ विरोध की भावना बेशक नहीं चाहिए। वैसा विरोध अनिवार्य है, यह मैं नहीं मानता।

प्रश्न—क्या आपका मतलब यह है कि मजदूर अपना उचित स्थान पाने के लिए एक विश्वव्यापी संस्था संगठित करें और फिर किसी एक समय संगठित और सम्पूर्ण असहयोग द्वारा मालिकों को मजबूर करें कि वे अपने उन अधिकारों को छोड़ें जिनके कि वे अधिकारी नहीं हैं ?

उत्तर—असल में जो मैं चाहता हूँ उसके लिए अधिकारों की चेतना और चिन्ता कुछ विदेशी है। मजदूर भी आदमी, पूँजीपति भी आदमी है। दोनों का कर्तव्य है कि परस्पर मनुष्य की भाँति रहें। उसके बाद दोनों का अधिकार है कि वे मनुष्योचित ही वर्ताव दूसरे से स्वीकार करें। मानवोचित के अतिरिक्त पूँजी अथवा श्रम का एक का दूसरे के प्रति, अथवा दोनों का तीसरे के प्रति, कोई अधिकार नहीं है। संगठन भी इसी एक सिद्धान्त के अधीन होने चाहिएँ और हो सकते हैं। जिससे इस सिद्धान्त का उल्लंघन हो वैसा कर्म, व्यक्तिगत हो अथवा सांघिक, समाज में विक्षोभ पैदा करता है और जन-शक्ति और जन-कल्याण का ह्रास करता है।

प्रश्न—मान लिया जाय कि मजदूरों की एक बड़ी संगठित जमात कोई सभा या सम्मेलन करती है और उन्हें तितर-वितर करने के लिए मालिकों की ओर से उन पर सशस्त्र प्रहार होने लगता है। उस समय मजदूरों का या किसी सत्याग्रही का क्या कर्तव्य होना चाहिए ? बदला लेना तो खैर हो ही क्यों सकता है,—किन्तु क्या बचने-बचाने का भी प्रयत्न करना होगा, अथवा चुपचाप खड़े रहना होगा ?

उत्तर—अगर आन्दोलन-कर्ता कोई षड्यन्त्र नहीं कर रहे हैं तो मार के डर से वे क्यों तितर-बितर हो जावें ? पर इस बात पर विश्वास होना चाहिए कि वे मिल-बैठकर किसी की बुराई की बात नहीं सोचते हैं,—अपनी भलाई की बात ही सोचने के लिए जमा हुए हैं। नहीं तो, सत्याग्रह

के नाम पर दुराग्रह हो जायगा।

प्रश्न—डर से नहीं तो क्या बुद्धिमत्ता ही का लिहाज कर वहाँ से हट जाना चाहिए? मान लिया जाय कि हमारे कार्य-स्थान पर किसी की गोली तो नहीं पर आसमान से ओले ही बरसने लगे हैं। तो क्या उन ओलों की बाधा को अस्वीकार न करना होगा? क्या उनके नीचे दबकर मर जाना होगा?

उत्तर—हाँ, बुद्धिमत्ता के लिहाज से बच जाना भी ठीक हो सकता है। मतलब तो यह है कि मानवी हिंसा के आतंक से दबकर कोई काम करना उचित नहीं है।

प्रश्न—यदि बचने का स्थान न मिलता हो और मुँह पर लाठी पड़ रही हो, तो क्या उस लाठी को पकड़ लेना अनुचित होगा?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—और उसे छीनकर फेंक देना?

उत्तर—वह भी नहीं।

प्रश्न—क्या इस छीन-झपट में पाशविक बल का प्रयोग न होगा?

उत्तर—'छीन-झपट' आपने कहा? किन्तु इसमें दूसरी ओर से 'झपट कहाँ है? और जो अकेली 'छीन' है वह भी दीखने-भर की है, लाठी प्रहार-कर्त्ता के हाथ में से अलग हो (या की) गई है। यहाँ प्रहार सहने वाले की ओर से पाशविक बल का प्रयोग किस जगह है? प्रहार न खाना तो पाश-विक बल के प्रयोग का काफी सबूत नहीं है।

प्रश्न—विकास और क्रान्ति में आप क्या अन्तर मानते हैं?

उत्तर—'विकास' में बलात् परिवर्तन और उथल-पुथल का भाव नहीं है जो कि 'क्रान्ति' में है।

प्रश्न—उथल-पुथल से क्या मतलब? क्या मनुष्य का कोई कर्म थोड़े-बहुत अंश में उथल-पुथल ही नहीं है? और क्या उस कर्म के बिना कोई विकास सम्भव है?

उत्तर—'उथल-पुथल' से मतलब है कि जहाँ पूर्व के साथ पश्चात् का मेल न देखा जाय, विरोध ही देखा जाय। अतीत के खण्डन पर वर्तमान और वर्तमान के खण्डन पर भविष्य बने, यह अभिप्राय 'क्रान्ति' में है। उन अतीत-वर्तमान एवं भविष्य में किसी धारागत एकता की स्वीकृति का आशय 'विकास' में है।

प्रश्न—तो क्या अतीत या वर्तमान को मनुष्य बिलकुल ठीक ही समझे ?

उत्तर—बिलकुल ठीक तो समझ नहीं सकता, क्योंकि इस प्रकार भविष्य उसके लिए नष्ट हो जायगा। लेकिन, इन दोनों को एकदम इन्कार करने का भी तो मौका नहीं है, क्यों कि ऐसे भविष्य फिर खड़ा किस पर होगा ?—उसका आधार नष्ट हो जायगा। इन्कार पर तो कोई कुछ टिक नहीं सकता।

प्रश्न—आपने विकास के लिए अतीत या वर्तमान का खण्डन वर्जनीय कहा था। तो मैं पूछता हूँ कि क्या अतीत या वर्तमान का कोई भी अंश ऐसा नहीं हो सकता जिसका खण्डन किया जाना अनिवार्य हो ?

उत्तर—जरूर होना पड़ेगा। पर खण्डन इष्ट नहीं है, खण्डन गर्भित है। भविष्य क्या वर्तमान को ललकारता हुआ आता है ? वह आता है तो बेमालूम भाव से। इसीसे खण्डन के मनसूबों में कुछ अर्थ नहीं है। जीना अपने-आप में मौत का खण्डन ही तो है। जीना मौत को जीतना है। जीने के अतिरिक्त तो कोई तरीका मृत्यु से लड़ने का है नहीं। जीना अपने आप में मौत का इन्कार जो है। इस भाँति देखने से मौत का भय जाता रहता है और उस तक से मेल हो सकता है। इसलिए कर्तव्य कर्म तो मेल ही है, और किसी प्रकार की ठान-ठान कर खण्डन पर उतारू होना भला नहीं है। मेल बढ़ाने में घृणा आप खण्डित होती जायगी।

प्रश्न—जीना अपने-आप में मौत का खण्डन है, लेकिन उस जीने में आखिर साँस लेना, खाना-पीना आदि कुछ तो कर्म है ही उस कर्म में बिना कुछ हलचल किये आप रह सकते हैं ? खाते,

पीते और साँस लेते क्या जरूर आप किसी का खण्डन नहीं करते और उस खण्डन को क्या आप इष्ट नहीं समझते ?

उत्तर—मैंने कहा कि खण्डन बिना किये भी होता है और वैसा ही खण्डन जायज है। लेकिन 'खण्डन' के शाब्दिक आधार से आगे जाइए कि हिंसा का भाव आ जाता है। हिंसा विना 'किये' नहीं होती; अर्थात्, हिंसा का सम्बन्ध भावना से है। भावना-हीन कर्म में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं है। जीने-मात्र में कुछ-न-कुछ हिंसा आ जाती है। लेकिन जीने में ही जो हिंसा विना मेरे जाने हो जाती होगी, उसके लिए मुझे अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। हिंसा का सवाल उठता ही वहाँ है जहाँ हिंसा 'की' जाती है। तो यह 'की' जाने वाली हिंसा कभी कर्तव्य नहीं है, यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है। आपके प्रश्न में 'खण्डन' शब्द से भाव को साफ करने में कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती है। क्योंकि खण्डन वासना के विना भी सम्भव मालूम होता है, इसलिए खण्डन को सहसा अनुचित कहते नहीं बनता। लेकिन 'खण्डित करने की इच्छा' में वासना आ जाती है, हिंसा आ जाती है। इसीलिए कहना होता है कि खण्डन मैं 'कर' नहीं सकता, वैसे यों मेरा समूचा जीवन ही एक युद्ध और खण्डन की प्रक्रिया है। कर्तव्य-कर्म पाने की जहाँ बुद्धि है वहाँ असंदिग्ध रूप में इष्ट प्रेम ही है, अप्रेम अनिष्ट है। खण्डन का समर्थन, लीजिए, मैं करता हूँ, लेकिन वह प्रेम द्वारा अप्रेम का खण्डन है। उससे अलग किसी प्रकार की स्थूल खण्डनेच्छा का मैं हामी नहीं हूँ।

प्रश्न—जीने-मात्र में कुछ-न-कुछ हिंसात्मक खण्डन होता है जिसकी शायद आप छूट देते हैं। किन्तु कभी कोई खण्डन के लिए खण्डन करता देखा गया है ? क्या बड़े-से-बड़े खण्डन में जीने-मात्र ही की किसी-न-किसी रूप में अपेक्षा नहीं रहती है ? क्रान्ति वाला खण्डन भी खण्डन के लिए नहीं है, वह भी सामाजिक पैमाने पर जीने-मात्र के आग्रह में से ही निकलता है ?

उत्तर—तो इसका मतलब है कि प्रेम से खण्डन किया गया,—

शान्ति से क्रान्ति की गई। तो, उसका तो मैं पूरा कायल हूँ ही।

प्रश्न—प्रेमपूर्वक खण्डन किया जा सकता है। किन्तु जिसे खण्डित किया जायगा उससे आवाज पैदा न होगी, इसकी गारंटी कौन ले सकता है?

उत्तर—कोई नहीं, और उस गारंटी की माँग मेरी ओर से है भी नहीं।

प्रश्न—लेकिन ऊपर जो आपने क्रान्ति को शान्ति से किए जाने की शर्त रक्खी है, उसका क्या मतलब है?

उत्तर—इसका मतलब है कि भावना, लगन और विचार सदा शान्ति के होने चाहिएँ।

प्रश्न—तो मार्क्स द्वारा प्रतिपादित क्रान्ति के प्रति आपका क्या विचार है? क्या उसमें भावना, लगन और विचार की शान्ति की शर्त नहीं निभती, या निभ सकती है?

उत्तर—मेरे खयाल में शान्तिमय भावना की शर्त वहाँ नहीं निभती। श्रेणी-युद्ध का सिद्धान्त शान्तिमय नहीं है। यह मैं नहीं कहूँगा कि मार्क्स में अथवा मार्क्सवाद में शान्ति की इच्छा नहीं थी, या नहीं हो सकती; लेकिन इच्छा ही तो काफी नहीं है। स्वप्न शान्ति का हो, तब व्यवहार भी उसी का होना चाहिए। नहीं तो कोरे स्वप्न से और साथ व्यवहारानुकूलता न होने से स्वभाव में बेचैनी और अधीरता पैदा होती है; और स्वप्न और व्यवहार का अन्तर इतना बढ़ जाता है कि विरोध दीखने लगता है। शान्ति की चाह में किए जाने वाले हिंसक प्रयत्न इसी प्रकार की मनोदशा को व्यक्त करते हैं।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि अगर मार्क्स के विचारों से प्रेरणा-प्राप्त करने वाला कोई व्यक्ति सचमुच शान्ति-कर्मी हो भी जाय, तो समाजवादी सम्प्रदाय के लोग ऐसे व्यक्ति का 'समाजवादी' कहा जाना नहीं गवारा करेंगे। मुझसे पूछो तो सच्चा समाजवादी धार्मिक व्यक्ति ही हो सकता है, क्योंकि समाज का अंग बनकर रहना और अपने स्वार्थ को अलग करा

हुआ न रखना ऐसे व्यक्ति का तो धर्म ही हो जाता है। लेकिन समाजवादी दल और उस वाद के शास्त्री लोग क्या इस बात को किसी के मुँह से निकलने तक देंगे ? इसलिए मैं मानता हूँ कि मार्क्स के अनुगमन में शान्ति की रक्षा और पुष्टि नहीं है।

प्रश्न—लेकिन ऐसा तो शायद आप भी मानते हैं कि पूँजीपति और मजदूर दोनों के स्वार्थों में (=Interests में) परस्पर-विरोध है ?

उत्तर—पूँजीपति और मजदूर दोनों एकसाथ भूचाल में मर सकते हैं। दोनों का स्वार्थ इसमें है कि भूचाल न आवे। यहाँ उनके स्वार्थों में विरोध नहीं दीखता। आदमी की हैसियत से दोनों के स्वार्थों में विरोध नहीं है।

सामाजिक हैसियत से विरोध है। एक रकम का अधिक भाग अगर मालिक को पहुँचेगा तो मजदूर के लिए कम भाग रह जायगा। मजदूर को अधिक भाग पहुँचे, इसके लिए जरूरी है कि मालिक का भाग कम हो। यह विरोध है, और जरूर है।

प्रश्न—ऐसा ही मतलब क्या मार्क्सवादी भी श्रेणी-युद्ध का नहीं लगाते ?

उत्तर—हाँ, वे शायद पूँजीपति और मजदूर दोनों में सम-सामान्य मानवता को काफी दृष्टि में नहीं रखते हैं, जहाँ कि स्वार्थों की पृथकता दूर हो जाती है और उनमें अभेद दीखता आता है।

प्रश्न—पूँजीपति अपने स्वार्थ से अभिन्न होते हैं और उसी तरह मजदूर भी। उनमें सम-सामान्य मानवता की गुंजायश कहाँ रह जाती है जिसका वे हिसाब लगायँ ?

उत्तर—क्या सचमुच नहीं रहती ? वे एक नगर में रहते हैं, एक प्रान्त और देश में रहते हैं, इस बात का अनुभव क्या उन दोनों को पग-पग पर नहीं होता ? मुल्क पर हमला हो तो क्या दोनों नहीं चेतेंगे ? शहर में क्या म्युनिसिपैलिटी का कानून दोनों पर ही एक-सा लागू नहीं

होता ? नदी में बाढ़ आ जाय, तो क्या वह झोंपड़ी और महल को देखेगी ? इसलिए आँख खोलते हुए मैं कैसे कह दूँ कि उन दोनों का हित कहीं भी जाकर एक नहीं है। कारखाने को छोड़कर शेष दुनिया में उनका विरोध लुप्त-प्राय हो जाता है।

प्रश्न—यदि वह कहीं भी एक हैं या हो सकते हैं तो केवल एक-दूसरे से लाभ उठाने के लिए और शोषण (=Exploit) करने के लिए; और इस प्रकार का एक जगह रहना केवल संघर्ष ही है। यानी, बस चले तो एक-दूसरे को हड़पने की भावना ही दिन-दिन उनमें मजबूत होती जा रही है। क्या इस एक जगह रहने में कोई वास्तविक सहयोग या मेल है, या मेल उगने का बीज है ? जान तो ऐसा पड़ता है कि वे एक-दूसरे से निबटकर ही रहेंगे।

उत्तर—मेल का बीज जरूर है और मुझे नहीं जान पड़ता कि उनमें से कोई सफलतापूर्वक किसी को खाकर पचा जा सकेगा। फिर भी आपस में वे खाऊँ-खाऊँ करते हैं, यह मैं जानता हूँ। लेकिन इससे कहा यही जा सकता है कि वे अपने को नहीं जानते। अरे, मैंने एक बाढ़ में बहे आते हुए छप्पर पर साँप और आदमी को निर्विघ्न भाव से पास-पास बैठे आते हुए देखा है। और तो और, ऐसी अवस्था में शेर-बकरी तक विरोध भूल जाते हैं। यह झूठी बात है कि मिल-मजदूर और मिल-मालिक कभी अपना विरोध नहीं भूलते। और अगर उस प्रकार का विरोध उनकी बोटी-बोटी में, रग-रग में, समाता जा ही रहा है तो मैं कह सकता हूँ कि यह अच्छी बात नहीं है, एकदम बुरी बात है। ऐसा ही है, तो दोनों देख न लें एक बार एक-दूसरे को खाने की कोशिश करके। ऐसी कोशिश से किसी का पेट नहीं भरेगा, और पीछे भारी मुसीबत उठानी पड़ेगी। आप समझते हैं प्रालितारियत वर्ग ने रूस के प्रयोग में उच्च वर्ग को (=Capital को) खा लिया और खाकर पचा लिया ? शायद एकाएक तो मुँह फाड़कर उस केपिटल को हड़प लिया भी गया हो, लेकिन वह खाया पच नहीं सका और रह-रहकर वहाँ जी की उबकाई के दृश्य दीखने में आते हैं और निगला हुआ क्रम-क्रम से उगला

भी आ रहा है। मैं कहता हूँ कि नहीं है घृणा मानवता का भोजन ! जो उसे खायगा, वह पछतायगा। भूखे हो तो भूख सह लो; पर जहर न खाओ। भूख में जहर को ही ज्यादा खाकर एकाएक पेट भरा-सा लग आ सकता है, लेकिन यह तरीका भूख तो भूख, पेट से ही हाथ धो बैठने का है। असल बात यह है कि मानवीय श्रम और पूँजी-प्राप्य साधन दोनों में से किसी भी एक अकेले से काम नहीं चलता। साधनहीन उद्यम कोरे सपने की कारवाई-जैसा हो जाता है और उद्यम का तिरस्कार करके साधन स्वयं तो जड़ हैं ही। इसलिए श्रम और पूँजी में सहयोग होना होगा। यों आपसी बन-अनबन कहाँ नहीं लगी है ? दो भी हों तो बासन खटक पड़ते हैं। पति-पत्नी हर कहीं झगड़ते हैं। लेकिन कौन भला आदमी है जो इसलिए दो के इकट्ठेपन को एकदम असंभव कहेगा। इससे रगड़-बिगड तो होती रह सकती है, क्यों कि उसका निपटारा भी होता रह सकता है। लेकिन मामला अगर हिंसा तक पहुँचा,—एक दूसरे को नोंच खाने की प्रवृत्ति ही हो आई, तब तो ईश्वर ही बचाये। और हम विश्वास रक्खें कि ईश्वर है तो रक्षा भी है ही। उस ईश्वर की तरफ से यह विधान है कि कोई किसी को खाकर खत्म नहीं कर सकता। मुँह अगर पूँछ को खाता है तो उससे भय की आशंका नहीं। उससे किसी को कुछ नुकसान नहीं होगा : क्योंकि यह तो कोरा तमाशा है, माया है। वैसा अपने अंग को खाना कब तक चलेगा ? कोई ऐसा दुराग्रही हुआ भी, तो उसी में साफ उसकी मौत भी बैठी है।

२१—व्यक्ति और परिस्थिति

प्रश्न—मनुष्य भला या बुरा अपनी परिस्थितियों के अनुसार बनता है। परिस्थितियों से वह डिक्टेट किया जाता है : क्या ऐसा आप स्वीकार करते हैं ?

उत्तर—यानी, क्या परिस्थितियों का व्यक्ति पर पूरा काबू स्वीकार करता हूँ ? नहीं, व्यक्ति पर काबू परिस्थितियों का हो, यह मैं नहीं मान पाता। ठीक जैसे कि देह का आत्मा पर अकाट्य, बन्धन मैं नहीं स्वीकार कर पाता। फिर भी आत्मा की अभिव्यक्ति देह द्वारा ही होती है, और दैहिक स्वास्थ्य अथवा अस्वास्थ्य हमारी अन्तरंग दशा पर भी प्रभाव डालता है। वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं !—क्या नहीं ? उन होते रहने वाले परिवर्तनों को समझें तो जान पड़ेगा कि उनका आरम्भ किसी एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व से होता है। कर्म-स्वातन्त्र्य और 'इनीशी-एटिह्व' आदि शब्दों में नहीं तो फिर कुछ अर्थ ही न रह जायगा। भावना-संकल्प को कर्म के मूल में मानना ही होगा और वे भावना-संकल्प व्यक्ति में जन्म लेते हैं। इससे अगर कहना ही हो तो यह कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है कि वाह्य-स्थिति की अपेक्षा व्यक्ति प्रधान है।

प्रश्न—यदि परिस्थितियाँ प्रधान नहीं हैं तो फिर क्यों अधि-कांश मानव-समाज सत्कर्म को जानते हुए भी उसके विपरीत काम करते देखे जाते हैं ?

उत्तर—शायद इसीलिए कि उन्हें अपने बल का पता नहीं है।

प्रश्न—तो क्या इसका मतलब यह है कि जीवन आदि से परिस्थिति-प्रधान है, और फिर वह धीरे-धीरे व्यक्तित्व-प्रधान हो रहा है ?

उत्तर—हाँ, यह कह सकते हैं।

प्रश्न—तो क्या परिस्थितियाँ आत्मा के प्रति विदेशीय (=Foreign) हैं, ऐसा आप मानते हैं ?

उत्तर—अगर चरित्र-निर्माण और कर्म-निष्ठा की अपेक्षा, अर्थात् व्यवहार की अपेक्षा, देखें तो यही कहना उचित होगा। अन्यथा शुद्ध निश्चयात्मक दृष्टि से उनमें सर्वथा द्वित्व नहीं माना जा सकता। निश्चय में तो सब कहीं एक ही लीला है। और जड़-चेतन का मेल अनादि-अनन्त है, द्वित्व माया में ही है।

प्रश्न—तो क्या व्यवहार-दृष्टि से हम यह भी मान सकते हैं कि हम और हमारे आदर्श के बीच में परिस्थितियाँ एक फासला डालती हैं ?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—तो क्या यों कहें कि मानव का कार्य-व्यापार केवल उन परिस्थितियों के प्रतिकार के लिए है ? परिस्थितियाँ हटीं कि आदर्श फिर प्राप्त है ?

उत्तर—नहीं, यह कहना ठीक नहीं। थोड़ी देर के लिए यों समझिए कि मैं दिल्ली में रहता हूँ, और मुझे कलकत्ते पहुँचना है। कलकत्ता पहुँचने के लिहाज से मेरा दिल्ली छोड़ना उचित है। दिल्ली में रहने का मोह कलकत्ता पहुँचने में बाधा है। पर दिल्ली के अपने जीवन की परिस्थिति को एकाएक मैं गाली देने लगूँ, इससे कलकत्ता पहुँचने में कोई सहायता नहीं प्राप्त होगी। मैं कह सकता हूँ कि दिल्ली की परिस्थिति इस अंश में मेरी सहायक हुई है कि वह मुझे कायम रक्खे हुए है। कलकत्ते की यात्रा के लिए सम्बल मुझे दिल्ली की स्थिति में से ही जुटेगा। उस स्थिति से एकदम अलग होकर मेरी सम्भावना ही नष्ट हो जाती है !

अर्थ निकला कि हरेक स्थिति की अपनी कुछ मर्यादाएँ हैं। वे मर्यादाएँ इस लिहाज से अत्यन्त आवश्यक और उपादेय हैं कि मर्यादाओं के नितान्त अभाव में कोई स्थिति सम्भव ही नहीं हो सकती। किन्तु जीवन स्थिति का

नहीं, निरन्तर गति का नाम है। इसलिए कोई स्थिति यदि गति का अभिनन्दन करने को तैयार नहीं है, तो वह जीवन-विरोधी और बाधा-स्वरूप हो जाती है।

अब यहाँ दिल्ली से वहाँ कलकत्ता तक सड़क भी बनी हुई है। दिल्ली-कलकत्ते में कितना फासला है? कहा जायगा कि ठीक उतना ही जितनी लम्बी वह सड़क है। तो यह कहना क्या एकदम झूठ है कि वह सड़क दिल्ली से कलकत्ते को उतनी (कहिए हजार मील) दूर बनाये हुए है? भाषा के प्रयोग के लिहाज से यह कथन अशुद्ध नहीं है। लेकिन यह भी उतना ही सच है वह ही सड़क दिल्ली और कलकत्ते के उस फासले को मिलाये भी हुए है। अगर सचमुच कलकत्ता पहुँचना है, तो फासले को नापने वाली सड़क से बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है। वह सड़क ही हमारा मार्ग है। अगर्चे यथार्थ इष्ट हमारे लिए सड़क नहीं है बल्कि यह है कि कब वह सड़क खत्म हो और हम कलकत्ता पहुँचें।

परिस्थितियों को भी इसी निगाह से देखने से काम सधेगा। एकदम परिस्थितिहीन के अर्थ तो हो जायँगे स्थिति-हीन, यानी सत्ता से ही हीन। यह अवस्था मुक्ति की नहीं है, यह तो विनाश है। स्थिति में रहकर उससे आबद्ध न रहना और बढ़ते चलना, बढ़ते ही चलना, यह विकास का लक्षण है। जीवन एक यात्रा है। उसका अन्त वहाँ है जहाँ उसका आदि भी है।

प्रश्न—ऊपर आपने एक स्थिति का जिक्र और किया है। इसलिए मैं जानना चाहता हूँ कि आप, आपकी स्थिति और परिस्थिति, इन तीनों को कहाँ तक आप अलग-अलग मानते हैं?

उत्तर—'मैं' का अभिप्राय स्पष्ट ही है। 'मैं' और चहुँ ओर की 'परिस्थिति' इन दोनों के वर्तमान परिणाम को 'मेरी स्थिति' कहना चाहिए। उसमें से मैं अपने को घटा लूँ तो बाह्य जो कुछ शेष रहेगा उसको 'परिस्थिति' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। यों कहिए कि वस्तुगत स्थिति है, 'परिस्थिति'। 'मैं' है जीव-तत्त्व। इन दोनों को परस्परापेक्षा में रखने से 'मेरी स्थिति' प्राप्त होती है।

लेकिन क्या इन शब्दों के व्यवहार से ऊपर कुछ आपको विभ्रम या गलतफहमी होती है ? वह विभ्रम क्या है ?

प्रश्न—ऐसा केवल मैंने निश्चय करने के विचार से पूछा। हाँ, तो अब मैं पूछना चाहता हूँ कि जीव-तत्त्व के (सत् के) अतिरिक्त शेष स्थिति या परिस्थिति क्या वास्तव में कोई सत् वस्तु हैं ? क्या वे शून्य यानी असत् में (= Vacuum में) बनी असत् की रेखा या उसकी छाया ही नहीं हैं और उसको बाँधने ही वाली नहीं है ? तब आपका यह कहना क्यों कर समझ में आए कि मेरे लिए मेरी स्थिति सहायक ही होती है ?

उत्तर—यह तो सूक्ष्मता में खींचा जा रहा है। वहाँ डर यह है कोई कथन बाजीगरी का-सा न मालूम होने लगे। अनिर्वचनीय को वचन में लाने की कोशिश से भाषा के स्वरूप पर बहुत बोझ आ पड़ता है। भाषा वहाँ टूट जायगी।

खैर यों समझिए। मैं हूँ कि नहीं ? 'मैं' के बोध से बचना सम्भव नहीं। जब मैं हूँ, तब अन्य भी कुछ है। 'मैं' के होने में, नहीं तो, कुछ अर्थ ही नहीं। इस प्रकार हमारे सब व्यापार द्वित्व से सम्भव बनते हैं। मैं ज्ञाता, अन्य ज्ञेय। मैं जीव, अन्य जड़। मैं आत्मा, अन्य वस्तु।

परिस्थिति जिसको कहा उससे आशय इसी अन्य-अन्य के योग से है।

स्थिति मेरे होने की शर्त है। स्थितिहीनता का अर्थ अस्तित्वहीनता ही हो जायगा।

किन्तु स्थिति ही सत् का लक्षण नहीं है, गति भी उसमें है। स्थिति गति द्वारा प्रतिक्षण बदलती-बढ़ती रहे, इसी को कहेंगे जीवन। यही चैतन्य का लक्षण है।

इस लिहाज से प्रत्येक स्थिति, यद्यपि वह क्षण-स्थायी ही है और अपने क्षण से आगे बन्धन रूप हो जाती है, लेकिन, ठीक अपने समय और अपने स्थान पर वह जीवन-विकास में सहायक ही होती है।

प्रश्न—धर्म और ध्येय में क्या अन्तर है ?

उत्तर—ध्येय के प्रति उन्मुखता धर्म है। धर्म की कोई वस्तुगत (= Objective) सत्ता नहीं है। खण्ड का समग्र के प्रति निवेदन धर्म है।

ध्येय भी अन्त में ध्याता से अलग नहीं रहता। ध्याता और ध्येय के बीच अनन्य-ध्यान का जो सम्बन्ध है, मानवी अनुभूति में उसी को सुख, आनन्द, सिद्धि या साधना या जो चाहे कह सकते हैं।

अन्त में जाकर भक्त और आराध्य एक हो जाते हैं। Law and Law giver are one,—वहाँ नियम ही नियन्ता है!

प्रश्न—संसार (Universe) क्या विकासशील है?

उत्तर—विकासशील मानकर ही हम गति को सह सकते हैं। जहाँ गति का आभास नहीं है, वहाँ 'विकास' शब्द को प्रयोग में लाने तक का अवकाश नहीं है। यदि काल (Time) है, तो विकास ही उसका अभिप्राय हो सकता है।

प्रश्न—किसी एक खूँटे के चारों ओर चक्कर लगाये जाने में गति को तो सहा जा सकता है, किन्तु क्या उसमें कोई विकास भी आभासित होता है?

उत्तर—कौन ऐसी गति को सहता है! कोल्हू का बैल जरूर सहता है, लेकिन क्या कोई बैल तक भी कोल्हू का बनकर रहना चाहता है! और आप देखें कि बैल को कोल्हू का बनाने के लिए उसकी आँखों को पट्टी डालकर लगभग अंधा कर दिया जाता है। नहीं तो वैसे क्या वह अपने को कोल्हू में जुतने दे! यह बैल की बात हुई। तब आदमी की तो क्या पूछिए!

प्रश्न—कोल्हू की मिसाल छोड़िए। मान लीजिए मैं गेंद से खेलता हूँ,—मैं उसे उछालता हूँ और हाथ में लपक लेता हूँ। मैं इस क्रीड़ा में लीन हो जाता हूँ। क्या इस बीच मेरा कोई विकास हो रहा है? और क्या इसी तरह हमारा दौड़ना-भागना और फिर सो जाना, पाना और फिर खर्च कर डालना, आदि हमें एक चक्कर ही में नहीं फिरा रहे हैं?

उत्तर—मन के आह्लाद को अमित गति हम नहीं कह सकते। चिन्ता-सन्देह जरूर इस तरह के मरमीले भँवर हैं। उनसे प्रवाह की गति मन्द होती है। अतः वे विकास में बाधक हैं। हम पैदा होते, दुख उठाते और मर जाते हैं। शायद फिर भी पैदा होते हों। अगर फिर भी पैदा होते होंगे, तो अन्त में मरते भी होंगे। इस सब का क्या अर्थ है :—यह तो मैं कैसे जानूँ ? ठीक वैसे ही जैसे कि उछाली जाने वाली गेंद अपने उछलने, उठने और गिरने का अर्थ नहीं जानती होगी। लेकिन उस सब व्यापार में कुछ भी अर्थ नहीं है, यह कहने की हिम्मत भी मुझे किस बल पर हो ? जान पड़ता है कि मैं धृष्टता और हठ के साथ कुछ देर के लिए सब-कुछ को व्यर्थ मान भी सकूँ, तो उतनी ही देर में शायद मैं मर भी जाऊँ। सर्वथा इन्कार पर जीना कैसे हो सकेगा ? इससे मैं मानता हूँ कि हम जानें अथवा नहीं जानें, हमारे द्वारा एक नित्य धर्म ही निष्पन्न हो रहा है।

प्रश्न—आपने ऊपर कहा है कि यदि काल है तो विकास ही उसका अभिप्राय है। लेकिन विकास को काल का अभिप्राय क्यों कहा जाय ? काल तो जिसे हम विकास कहते हैं, उसका गति-रूप से भान या आभास-मात्र है। स्वयं में तो वह कुछ नहीं है जिसका कि अभिप्राय ढूँढ़ा जाय। यदि विकास खोजने पर एक भ्रम साबित होता है, तो काल भी क्या उसी के साथ-साथ खत्म हो जाता है ?

उत्तर—'काल' संज्ञा में किसी मानवी प्रयोजन का भाव नहीं है। वह मानो एक वैज्ञानिक (=पारिभाषिक) संज्ञा है। 'विकास' शब्द कुछ अधिक मानव-सापेक्ष है। काल क्या करता है, यदि यह प्रश्न हो, तो उत्तर दिया जा सकता है कि काल का काम विकास करना है। यही इन शब्दों में भेद समझना चाहिए। यदि कोई ऐसी स्थति है, अथवा उसकी कल्पना की जा सकती है, जहाँ काल नहीं है, तो वहाँ विकास को मानने से भी छुट्टी मिल जायगी।

प्रश्न—विकास में जो परिवर्त्तन अनिवार्य है, क्या उस परिवर्त्तन से अलग भी किसी काल का भान हो सकता है ?

उत्तर—शब्दों की पकड़ में न आइए। काल हमारी चेतना की शर्त (=a category of consciousness) है। अब उस काल में हमने एक सार्थकता देखनी चाही। काल की उस मानवाविष्कृत सार्थकता को ही नाम दिया गया 'विकास'।

प्रश्न—लेकिन यह आपने कैसे मान लिया कि सत् के साथ जो काल की चेतना है वह ठीक-ठीक समझने पर व्यर्थ का भ्रम ही नहीं है? काल और विकास, जिसे आप सार्थक कहते हैं,—इन दोनों से क्या सत् की अपूर्णता का ही भान नहीं होता है? और यदि कोई विकास है तो क्या वह केवल उस पूर्णता के पा लेने तक ही नहीं है जहाँ हमारा विकास खत्म ही हो जाता है?

उत्तर—जहाँ वह खत्म हो जाय, वहाँ की बात तो मैं क्या जानता हूँ। इसलिए, हो सकता है कि जो आज मेरे लिए सही है, वह वहाँ की दृष्टि से व्यर्थ का भ्रम ही हो। पर आज के दिन उसको भ्रम मानकर मैं कैसे चल सकता हूँ? अन्त में जाकर काल क्या है और क्या कर रह जायगा, इसकी कल्पना में उड़कर आज जो वह मेरे लिए बना हुआ है उससे निषेध कैसे कर सकता हूँ? अपनी ससीमता से नाराज होकर, या उससे इन्कार करके, क्या मैं अपनी सीमा को लाँघ सकूँगा? असीम का मैं भाग हूँ, स्वयं असीम हूँ, यह निष्ठा रखकर भी अपना सीमित स्वरूप निबाह सकूँ तभी ठीक है। नहीं तो जीवन असम्भव हो रहेगा। सीमा को, अपूर्णता को, निरा अभिशाप मैं न मान लूँ। सीमा-बद्ध होकर मुझे मौक़ा रहता है कि मैं असीम के प्रति कृतज्ञ हो सकूँ। इसलिए काल की मर्यादा से भी चिढ़ने की आवश्यकता नहीं। त्रि-काल त्रि-लोक का जो अधीश्वर है वह किसी लोक में (घिरा) नहीं है। अर्थात् उसके ध्यान में, उसकी गोद में, काल भी अपना स्वत्व खो रहता है। लेकिन वहाँ की बात हम-आप कैसे करें। हम तो काल में ही हैं न? हमारी चेतना काल की परिधि पाकर ही जी पाती है। अन्यथा, क्या वह सहमकर मूर्च्छित और मृत-प्राय ही न हो जाय?

प्रश्न—यदि विकास हर समय है, तो संसार या संसार की

आधारभूत सत्ता का कभी क्या कोई अपना स्वरूप निर्धारित (Trace) किया जा सकता है ? या तो हम कहें कि विकास किसी एक अवस्था से आरम्भ होता है, और आगे-आगे बढ़ता जायगा। या कि वह स्वयं में एक चक्कर लगाता है और उन्हीं अवस्थाओं से बार-बार संसार गुज़रता है। किन्तु पहली बात से तो विकास का सर्वकालीन होना असिद्ध रहता है क्योंकि उसका आरम्भ मान लिया जाता है। और दूसरी अवस्था में भी विकास सर्वकालीन नहीं रहता क्योंकि उसमें पुनरावृत्ति आ जाती है।

उत्तर—विकास मानव-सापेक्ष शब्द है। मूलतत्त्व काल है। काल अर्थात् गति और परिवर्तन का आधेय। चारों ओर हर घड़ी सब-कुछ बदलता हुआ हमें दीखता है। इस बदलने और चलने में बुद्धि फिर कुछ अभिप्राय भी देखना चाहती है। विविधता को एक रूप में देख सकने की शक्ति ही बुद्धि की साधना कहलाती है। 'विकास' शब्द मनुष्य की उसी बौद्धिक साधना का परिणाम है। हम वर्तमान में रहते हैं, पर इतिहास द्वारा अतीत में भी पैठते और उसका रस लेते हैं। उस बीते अतीत और आज के वर्तमान में हम संगति बैठाते हैं। अनन्तर उसके आधार पर भविष्य की धारणा को भी हम खड़ा करते हैं। पर हम ही कहते हैं कि अतीत व्यतीत हुआ, और वर्तमान आ गया। भाषा का यह प्रयोग एक लिहाज़ से ठीक भी हो, पर इस बीच का इतिहास व्यर्थ ही नहीं गया। वह सार्थक है। उसी सार्थकता का नाम मनुष्य ने रक्खा है 'विकास'। विकास इस भाँति एक सिद्धान्त है। आस्था-बुद्धि से कहें, तभी उसे 'सत्ता' कह सकते हैं। पर अगर आप उस शब्द से आगे बढ़ना चाहें तो वह भी हो सकता है। आगे बढ़कर तो कह सकते हैं कि कैसा विकास और कैसा कुछ और,—यह सब तो लीला है, किसी एक अव्यक्त का खेल है। असल में जिसको 'काल' कहो, जिसको 'विकास' कहो,—वे सब हमारी ही परिमित चेतना के गढ़े हुए शब्द हैं। वे माया से बाहर कहाँ हैं ? मायाहीन सत्य में जाकर फिर सचमुच विकास कहाँ ठहरता है ?

समुद्र में बूँद कहाँ है ? नित्यता (= Eternity) में समय (= Time) कहाँ है ? 'विकास' शब्द भी उस पल-छिन-रूप समय-विभाग की अपेक्षा में ही सम्भव बनता है। क्योंकि सहस्र-लक्ष कोटि वर्ष शाश्वत में (= Eternal) में वैसे ही नगण्य हैं, जैसे रेखा में बिन्दु नगण्य है। इसलिए अगर आप बहुत आगे बढ़कर पूछना चाहोगे तो मुझे यह कहने में कठिनाई नहीं होगी कि विकास भी वहाँ झूठ है जहाँ कहने वाला मैं स्वयं ही झूठ हो जाता हूँ। लेकिन यह तो भाई, झमेला है। बुद्धि को इससे बचाये रखना चाहिए। बुद्धि इसमें गिरी कि ऐसे डूब जायगी जैसे पानी में नोन की डली। फिर उसका पता नहीं चलेगा!

प्रश्न—विकास जिससे सम्भव होता है, वह प्रेरणा आन्तरिक है अथवा बाह्य ?

उत्तर—काल की धारणा द्वित्व बिना सम्भव नहीं है, इसलिए विकास भी द्वित्व के अभाव में नहीं है। जैसे चने में दो दल होते हैं वैसे ही प्रत्येक अस्तित्व में दो पहलुओं की कल्पना है : अन्तः और बाह्य ! और जैसे नदी दो तटों के बीच चलती है और वस्तुमात्र के (कम-से-कम) किनारे (= Fronts) दो होते हैं, उसी प्रकार विकास अन्तर्-बाह्य को निबाहता हुआ सम्पन्न होता है। उनमें क्रिया-प्रतिक्रिया बराबर चलती है। लेकिन यह विवेचन तात्त्विक कहा जायगा। कर्म की स्फूर्ति शायद इसमें से प्राप्त न हो। इसलिए अगर कर्म की अपेक्षा, व्यवहार की अपेक्षा और भविष्य की अपेक्षा विकास को निर्धारित हम किया चाहें तो अन्तरंग को मुख्य और बाह्य को अपेक्षाकृत आनुषंगिक ठहराना उपयोगी होगा।

यों कहिए कि मूल प्रेरणा का स्रोत तो है वह जहाँ अन्तर-बाह्य भेद नहीं है। उसे ही परमात्मा कहा। परम-आत्मा कहा, परम शरीर नहीं कहा। यानी जो अन्तिम (अथवा कि, आदि) सत्य है उसको आत्म-रूप में ही हमने देखा, पदार्थ (objective) रूप में नहीं। उस अद्वैत से उतरकर द्वित्व के तल पर आते हैं, तो शरीर-धर्म और आत्म-धर्म दो हो जाते हैं और उनमें संघर्ष उपस्थित हो जाता है। ऐसे स्थल पर कहना

होगा कि वहाँ आत्म-धर्म को प्रधानता देकर ही चलना उचित है, यद्यपि बिना शरीर आत्मा भी निरर्थक है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकास की यात्रा है। इस लिहाज से जबकि यह सर्वांशतः ठीक ही है कि अन्तर्बाह्य सामंजस्य सिद्धि है, तब यह भी समझ लेना चाहिए कि बाह्य को आन्तरिक के अनुकूल बनाना ही इष्ट है। अनुकूलता को सिद्धि मानकर बाह्य परिस्थिति के नीचे झुक जाना उचित नहीं है, क्योंकि यदि सच्चा समन्वय है तो सूक्ष्म में ही है, स्थूल में तो पृथक् भाव की ही प्रधानता हो आती है।

प्रश्न—आपने कहा कि बाह्य को अन्तरंग के अनुकूल बनाना इष्ट है। लेकिन देखने में तो ऐसा आया है कि चराचर का विकास बाह्य के ही अनुकूल हुआ है। किसी भी प्राणी, समाज, संस्कृति या सभ्यता से क्या यह प्रतीत नहीं होता है कि वे उस देश-काल ही के लिए हैं और बने थे ?

उत्तर—देश-काल की अनुकूलता तो जरूरी है। लेकिन उस अनुकूलता के द्वारा जीवन अभिव्यक्त होना चाहिए, वैसी अनुकूलता स्वयं में साध्यान्त नहीं है। जहाँ प्रगति है वहाँ यही कहना अधिक यथार्थ होगा कि देश और काल में से जीवन-अनुकूलता प्राप्त कर ली गई है, न कि जीवन देशकालाधीन हो गया है। जीवन निरन्तर गतिमान और वर्द्धमान तत्त्व है। देश-काल के अनुकूल होना ही नहीं, प्रत्युत देशकालातीत के अनुरूप होना सिद्धि है। क्योंकि वर्तमान में तो भविष्य बन्द नहीं है और न किसी विशिष्ट स्थिति में सब सम्भावनाएँ समाप्त हैं, इसलिए सच्चा जीवन देश-काल से परिसीमित नहीं होता। हाँ, देश-काल की अनुकूलता द्वारा, मानो उस चित्रपट पर वह अभिव्यक्त जरूर होता है।

लेकिन इस बहस का छोर न मिलेगा। ऐसे ही चलोगे तो इस प्रश्न पर जा पहुँचना होगा कि 'स्व' पहले है या 'पर' पहले। किन्तु 'स्व' शब्द के उच्चार में ही 'पर' की स्वीकृति है। इन दोनों में पहले-पीछे का निर्णय बेकार है।

यह स्पष्ट है कि यदि हमें धर्म-जिज्ञासा और कर्तव्य-कर्म के दृष्टिकोण से बात करनी है, तो 'स्व' की ही परिभाषा में करनी होगी। केवल वैज्ञानिक, अर्थात् भावना और तत्काल से असम्बद्ध, दृष्टिकोण व्यक्ति की तुलना में परिस्थिति को प्रधान दिखा सकता है। उसे अयथार्थ कहने का भी अभिप्राय मेरा नहीं है। लेकिन कर्मण्यता के विचार से वह दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है। उस लिहाज से तो परिस्थिति पर व्यक्ति की विजय ही की बात की जायगी। प्रतिभा इसी प्रकार के संघर्ष-फल और विजय का नाम है।

प्रश्न—तब क्या व्यक्ति की आदर्श-भावना यह हो कि वह शेष सृष्टि के सामने अपने को न झुकने दे, बल्कि खुद उसे झुकने को मजबूर करे ? तब तो समर्पणापेक्ष प्रेम और मेल-मिलाप के स्थान पर चिरंतन युद्ध की ही सम्भावना है क्योंकि सभी व्यक्ति एक दूसरे पर विजयी होने की कोशिश करेंगे।

उत्तर—आत्मा की रक्षा के अर्थ 'पर' से और परिस्थिति से युद्ध करते रहने का नाम ही जीवन है। किन्तु यहाँ 'युद्ध' शब्द से डरने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि आत्मा तो सर्वव्यापी है और एक है। इसलिए अपनी आत्मा की रक्षा में सबके ही सच्चे हित की रक्षा आ जाती है। ऐसा युद्ध प्रेम का युद्ध होता है। वह किसी व्यक्ति के खिलाफ नहीं होता, बस अप्रेम के खिलाफ होता है। उससे अन्त में हार्दिक ऐक्य ही बढ़ता है।

प्रश्न—आत्मा सर्वव्यापी है, यह उस वक्त कैसे समझा जाय और अनुभव किया जाय, या उसके मुताबिक कर्म किया जाय, जब कि यह सब जानते हैं कि सबके पेट और मुँह अलग-अलग हैं ? ऐसी हालत में दो ही बात हो सकती हैं कि उस रोटी को जो मेरे और दूसरे के बीच है या तो मैं स्वयं ही खा लूँ और दूसरे को भूखा रक्खूँ, और या उसी को दे दूँ और खुद भूखा रहूँ।

उत्तर—कौन अकेला रोटी खाता है ? मैं एक भी ऐसे आदमी को नहीं जानता। कोई भी आदमी ऐसा नहीं है, नहीं हो सकता, जिसके लिए

कोई दूसरा ऐसा प्यारा न हो कि जिसे पहले खिलाकर वह खुद पीछे खाना चाहे। मैं पूछूँगा कि ऐसा क्यों है? बाप खुद भूखा रहकर बच्चे को क्यों खिलाता है? चोर चोरी करने का पाप क्यों उठाता है? खुद दुख उठाकर वह कुनबे को आराम क्यों देना चाहता है? बड़े-से-बड़ा दुष्ट किसी प्रिय के लिए सर्वस्व त्याग करने को उद्यत रहता है, सो क्यों? अपराधी बनना किसी को प्रिय नहीं है, फिर भी कोई अप्रिय काम करता है तो किस के खातिर? मैं दावे से कहता हूँ कि अपने लिए नहीं, अपने से किसी दूसरे के लिए ही वह अपने ऊपर पाप का बोझ लेता है। अब पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यों है? इसका एक ही जवाब है। वह यह कि पेट तो सबके अलग-अलग हैं, और वे सबको अलग-अलग रखते हैं, लेकिन कुछ ऐसा भी है जो दो को और कई को पास लाता है और उन्हें मिलाता है और जो उन अनेकों में स्वयं एक होकर व्याप्त है। जो सब अनेकता को एक बनाये हुए है, वही परम तत्त्व है आत्मा। हम उसको नहीं भी देख सकें, लेकिन एक कण को, किसी तुच्छातितुच्छ घटना को भी उठाकर उसे गौर से देखें तो उसमें भी उस परम तत्त्व की आभा मिलेगी। ऐक्य नहीं, तो और किसी भी आधार पर इस जगद्-व्यापार को नहीं समझा जा सकता। आदमी पेट नहीं है, और पेटको सब-कुछ मानकर थोड़ी भी उलझन नहीं सुलझ सकेगी। सब अलग-अलग मुँह से खाते हैं, लेकिन उस धरती में तो अलहदगीका फर्क नहीं है जिसमें अन्न होता है। क्योंकि अलग मुँह हैं, इसलिए मन की एकता सम्भव नहीं है,—यह कौन-सा न्याय है? क्योंकि अलग पेट हैं, इसलिए सहयोग क्या असम्भव ही मान लें?

२१–जीवन-युद्ध और विकासवाद

प्रश्न—(Survival of the fittest) अर्थात् योग्यतम ही जिन्दा रह सकते हैं, इस सिद्धान्त में क्या आपका विश्वास है? और 'योग्यतम' का आप क्या अर्थ लगाते हैं?

उत्तर—यह तो मेरे पूछने की बात है कि मैं उसे क्या समझूँ? मामूली तौर पर जिस अर्थ में वह शब्द प्रयुक्त किया जाता है, उसमें मुझे कोई महत्त्व नहीं दिखाई देता। आज इस दुनिया में कीड़ा है, चींटी है, हाथी है, आदमी है, मशीन है,—क्या इन सब की योग्यता (Fitness) एक-सी है? मान लीजिए कि आदमी योग्यतम (Fittest) है, तब क्या ऐसी दुनिया की कल्पना की जा सकती है जब आदमी ही आदमी रह जायँगे? हीन समझा जाने वाला कोई भी और प्राणी नहीं रहेगा? अव्वल तो ऐसी कल्पना की नहीं जा सकती, पर अगर यह सम्भव भी हो, तो वैसी सपाट वैचित्र्यहीन दुनिया को कौन पसन्द करेगा? इसलिए अगर भिन्न योग्यता वाले बहुत तरह के प्राणी आज एक ही साथ इस धरती पर जी रहे हैं, तो आप ही बताइए कि (Survival of the Fittest) का मुझे क्या मतलब समझना चाहिए?

प्रश्न—यह तो आप मानते ही हैं कि विभिन्न योग्यता वाले प्राणी जी रहे हैं। क्या आप नहीं देखते कि उनकी योग्यता की माप भी पारस्परिक संघर्ष में (=Struggle में) उनकी टिकने की क्षमता के अनुपात के मुताबिक हुई है? जिसमें जितनी क्षमता है, उतना ही जीवन में उसको स्थान प्राप्त है। कम योग्य अपने से अधिक योग्य की अधीनता में है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं वह केवल साधन-मात्र है। साथ ही ऐसे प्राणी भी हैं जो सर्वथा अक्षम

होने से घटते और मिटते जा रहे हैं। उस (Survival of the fittest) के सिद्धान्त को मानते हुए भी वैचित्र्य सम्भव ही नहीं अनिवार्य भी दिखाया जा सकता है।

उत्तर—वह तो ठीक है। लेकिन, (Survival) से क्या मतलब? जब शायद मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब पानी में मछली थी। वह पानी की मछली आज बीसवीं सदी में भी है। वह इस सारे बीच के काल को (Survive) करती आ रही है कि नहीं?

इस पृथ्वी के आदिम युग में कहा जाता है कि बहुत बड़े-बड़े जन्तु थे। इतने बड़े कि उनके सामने आज का हाथी तो कोई चीज नहीं। वे दुर्दान्त जन्तु बेहद डील-डौल के थे और बहुत शक्ति रखते थे। पर वे आज नहीं हैं। वे इस बीच के काल को survive नहीं कर पाये। अब पानी की छोटी-सी मछली और उन भीमकाय प्राणियों में योग्यता के बल के (=fitness के) लिहाज से क्या तुलना की जायगी?

और मनुष्य की कहानी लीजिए। वह, जैसा कि प्रकृति-विज्ञान बतलाता है, हर लिहाज से हीन प्राणी था। डर के मारे खोह में छिपकर रहता था। बाहर रहता था, तो भयभीत रहता था। देह की शक्ति उसमें कम थी। भाग-दौड़ में वह अन्य वनचरों की तुलना में कहीं का न ठहर सकता था। उसकी देह वार सह सकने योग्य सख्त न थी, न दाँत वैसे पैने थे। क्या यह कहना गलत होगा कि इस हीनता के उत्तर में ही उसमें बुद्धि फलीभूत हुई? आज वही आदमी बड़ी आसानी से अपने को सबसे बड़ा मान सकता है। अपने से कई गुने बड़े और जबर्दस्त जानवरों को उसने वश में कर लिया है। मशीनें ऐसी बना ली हैं कि उनकी वजह से आदमी की ताकत का पूछना ही क्या है!

अतः यह बात विचारणीय हो आती है कि Survive करने योग्य योग्यता का (fitness का) क्या मतलब है? साधारणतया उसका मतलब दीखने वाली ताकत लिया जाता है। लेकिन क्या उसका यह मतलब हो सकता है? मुझे प्रतीत होता है कि वह मतलब तो एकदम नहीं हो सकता।

तब आपका प्रश्न क्या रह जाता है ?

प्रश्न—जहाँ हम देखते हैं कि भीमकाय प्राणी लुप्त हो गये और छोटे-छोटे जीव कायम हैं, वहाँ भी दरअसल कोई एक ताकत ही विजयी हुई है। वह जिस्मानी ताकत नहीं वरन् बुद्धि और युक्ति की ताकत थी। इसलिए बल ही survive करता है, यह सिद्धान्त क्या बदस्तूर वहाँ लागू नहीं होता ?

उत्तर—तो यों कहिए कि बल सत्य नहीं है, बल्कि सत्य बल है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि जो सचाई के अनुकूल नहीं है, वह अबल ही है। कितना भी जबर्दस्त दैहिक बल तनिक मानसिक बल के आगे तुच्छ है, यदि यह बात विकास-धारा को बारीकी से समझने से प्रमाणित हो जाती है तो दीखने-वाले बल में विशवास करना हमारे लिए अनुचित हो जाता है।

'विकास' शब्द से जो अभिप्राय साधारणतया लिया जाता है उसमें स्थूल बल पर ही ज्यादा जोर है। अँग्रेजी के शब्द Natural selection और survival of the fittest आदि में कुछ इसी अर्थ की ध्वनि भर गई है। मैं उस अर्थ को अयथार्थ मानता हूँ। वह अवैज्ञानिक है।

यह नहीं कि विकास में अबलता की जीत होती है। बल्कि मतलब यह है कि उत्तरोतर ऊँचे प्रकार का बल, अर्थात् सत्य-बल विजयी होता है और स्थूलतर बल पराजित होता है। जो उच्चतर है, वह सूक्ष्मतर भी है। इस भाँति कहा जा सकता है कि इतिहास-गत विकास द्वारा नैतिक बल को ही पुष्टि मिल रही है और हिंसा-बल की सत्ता क्षीण पड़ती जा रही है। इतिहास को अगर ठीक ढंग से पढ़ा जाय तो यही दीखना चाहिए।

प्रश्न—दैहिक बल के विरुद्ध मानसिक बल उत्तरोत्तर प्रबल हो रहा है,—यानी कैसे ही बड़े स्थूल बलधारी प्राणी को एक दुबला-पतला जीव अपनी युक्ति और चालाकी आदि से वश में कर लेता है।—तो क्या उसके इस बल में नैतिकता का होना अनिवार्य या सहज सम्भव कहेंगे ?

उत्तर—हिंस्र भाव की जहाँ जितनी कमी है, वहाँ उतनी ही नैतिकता

है। जो हिंसा से किंचित् भी बचता है, उसी अंश में जाने-अनजाने वह नैतिक बन जाता है। आप देखें कि यह शब्द-प्रयोग आपेक्षिक ही हो सकता है। प्रखर सूर्य-तेज के आगे दीपक अँधेरा दीखता है, लेकिन अँधेरे में तो वही उजाला देता है। इसी भाँति हिंसा-वृत्ति से शून्य न होते हुए भी मानव नीतिशून्य प्राणी नहीं है। क्योंकि मानव में कितनी ही हिंसा हो, उस हिंसा के भी जड़ में अहिंसा ही है। इसलिए मैं बेखटके कह सकता हूँ कि दानवी क्रूरता से चतुर व्यक्ति की चतुरता, चाहे वह छल-छद्म के संयोग के कारण निन्दनीय ही हो, नीति के मान में ऊँची है। तभी तो हम पशु से पापी आदमी को ऊँचा दर्जा देने को तैयार हो जाते हैं। मुर्दा आदमी दुष्टता के दोष से मुक्त है; लेकिन क्या इस कारण वह मुर्दा व्यक्ति एक दुष्ट जीवित व्यक्ति से ऊँचा है?

प्रश्न—Survive करने में संघर्ष, बल और विजय का भाव अपेक्षित है। और जहाँ स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म को प्रबल देखते हैं, वहाँ बल (=Power) और विजय का (=Control का) भाव तो वैसा ही बना रहता है, उसे आप किसी तरह भी कम क्यों मान लें? इसलिए उस स्थूल से सूक्ष्म की ओर के विकास को आप हिंस्रता से अहिंस्रता की ओर, चाहे वह सापेक्षिक ही सही, कैसे मान रहे हैं? तब क्या आप मानते हैं कि एक सरल सीधे ग्रामीण मजदूर से एक चालाक छली बनिया अधिक नैतिक है? यदि दो चालाक बनियों में ही विरोध हो जाय, तो क्या उनमें से अधिक चालाक होकर जीतने वाले बनिये को आप अधिक नैतिक कहेंगे?

उत्तर—आपका Survive शब्द चक्कर में डाल सकता है। पेड़ की आयु ज्यादा है, मनुष्य की आयु थोड़ी है। कह सकते हैं कि वृक्ष मनुष्य को Survive करता है। लेकिन क्या वृक्ष को मनुष्य से ऊँचा ठहराया जा सकता है।

आपके दूसरे उदाहरण को थोड़ा और स्थूल बनाकर पकड़ें। समझिए

कि पत्थर है और साँप है। पत्थर में हिंस्र-भावना नहीं है। माना जाता है कि साँप में हिंस्र-भावना है। तो क्या पत्थर नैतिक है और साँप अनैतिक ?

असल और मुख्य बात चैतन्य है। विज्ञान के (अथवा बुद्धि के) आरम्भ में ही जो पहला द्वैत उपस्थित होता है वह जड़ और चेतन चेतना को शर्त के तौर पर स्वीकार करने के बाद ही नैतिक अथवा अनैतिक का प्रश्न उठता है। जहाँ चैतन्य ही हीन है, वहाँ नीति अथवा अनीति की सम्भावना भी हीन हो जाती है जड़ वस्तु में न नीति है, न अनीति है। क्योंकि वह व्यक्ति नहीं वस्तु है। आप की कठिनाई यह मालूम होती है कि विकास को जब आप स्थूल से सूक्ष्म की ओर स्वीकार कर सकते हैं, तब उसे आवश्यक रूप में हिंसा से अहिंसा की ओर मानने का कारण आप नहीं देखते। यही न ?

स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकास-क्रम है,—यह तो ठीक ही है न ? लेकिन यह कथन मानव-भावना की अपेक्षा से उतना नहीं है जितना वस्तुगत और तथ्यात्मक है।

उसी बात को यदि भावना-सापेक्ष बनाकर कहा जावे, तो कहा जायगा कि वह विकास अनैक्य से ऐक्य की ओर है। ऐक्य-विस्तार ही है विकास का लक्ष्य। और किसी रूप में 'विकास' शब्द के मूलाभिप्राय को व्यक्ति-सापेक्ष बनाकर कहा नहीं जा सकता।

'अनैक्य से ऐक्य की ओर', इसी का अन्वयार्थ और चरितार्थ बन जाता है : हिंसा से अहिंसा की ओर।

स्थूल से सूक्ष्म : यह विकास की तात्विक गति है। हिंसा से अहिंसा : यह विकास की सामाजिक अथवा मानवीय गति है।

प्रश्न—क्या प्राणि-मात्र की प्रेम-भावना भी विकास के क्रम से आबद्ध है ? यदि है, तो स्थूल से सूक्ष्म की अथवा हिंसा से अहिंसा की राह में किस प्रकार कहाँ और कब हम प्रेम विकसित होते देखते हैं ?

उत्तर—जहाँ क्रम-क्रम से खुलने की बात है वहाँ आबद्धता कैसे आ सकती है ? विकास किसी को बाँध नहीं सकता, विकसित ही कर सकता है।

विकास हम पर घटित हो जाता है, इतना ही नहीं, विकास हम घटित करते भी हैं। अर्थात् विकास एक वह क्रिया है, वह धर्म है, जिसमें हम विवेक-पूर्वक सक्रिय सहयोगी होने के लिए हैं।

प्रेम का आरम्भ किस ईस्वी अथवा ईस्वी-पूर्व शताब्दी में है, यह कहना कठिन है। कह सकते हैं कि जहाँ जीव और जड़ की पृथक्ता है, वहाँ ही प्रेम की आवश्यकता है।

आरम्भ में, विज्ञान बताता है कि, पृथिवी अग्नि-खंड थी। फिर आग गलकर जम आई, उसने स्थूलता पकड़ी, मट्टी बनी, पानी बना···आदि।

काफी काल बाद पानी में वनस्पति उगने में आ गई। उसके बाद उस वनस्पति के इर्द-गिर्द ही जीव-जन्तु बन आये, जो चलते-फिरते थे। उसके अनन्तर थलचर प्राणी और पक्षी बने। प्रेम को अगर हम दो लगभग समप्रकृति (जैसे नर और मादा) जीवों के मिलन की परिभाषा में लेवें तो कहा जा सकता है कि जब लिंग की उत्पत्ति हुई, वहीं से प्रेम पहचानने योग्य अर्थात् भावनात्मक हुआ। उससे पहले बिना नर की सहायता के केवल मादा से ही वंश-वृद्धि हो जाती थी। एक ही (जीवाणु) अपने को गुणानु-गुणित करता जाता था। तब ज्यामिति-क्रम से सृष्टि होती थी। पर उस प्रक्रिया को हम प्रेम का नाम नहीं देते, कुछ और नाम देते हैं।

लेकिन अगर पूछा जाय कि सूरज और धरती में क्या सम्बन्ध है ? धरती क्यों उसके चारों ओर चकराती है ? वह स्वयं किस पर टिकी है ? प्रकृति के उपादानों में, जल और थल में, वायु और आकाश में क्रिया—प्रतिक्रिया परस्पर क्यों होती रहती है ? तो इस सब का उत्तर क्या होगा ? उत्तर दे दीजिएगा : कुदरत, कानून, सृष्टि-नियम आदि। शायद विज्ञान कहे : आकर्षण। लेकिन जो एकदम घरेलू शब्द है और जो सुबोध है, मुझे तो वही प्यारा और सच्चा लगता है। वही मुझे हार्दिक उत्तर भी मालूम होता है। और वह है, प्रेम। व्यष्टि और समष्टि की पृथकता को परस्पर सह्य बनाने वाला है प्रेम। उस दुस्सह विछोह को यत्किंचित् पूर्णता से और रस से भर देने वाला तत्त्व है प्रेम।

वह प्रेम कहाँ से आरम्भ हुआ, यह प्रश्न ही तब कैसा? वह तो अनादि है। हम सब नहीं हैं, खंड कुल नहीं है। इसलिए प्रेम ही है। खंड का सम्पूर्णता से विछोह प्रेम को अनिवार्य बनाता है।

स्थूल से सूक्ष्म, हिंसा से अहिंसा,—यह गति प्रेम के घने और व्यापक होते जाने में स्वयंमेव गर्भित हो जाती है। देश और काल की संकीर्णता से जो प्रेम जितना अबाधित होता जायगा, वह उतना ही सूक्ष्म और अहिंसक होगा। और जो जितना संकीर्ण होगा, वह उतना ही स्थूल और हिंसायुक्त होगा।

ऐक्योपलब्धि की चेष्टा में इस तरह बढ़ते-बढ़ते प्रेम एक जगह आवश्यक रूप में लिंगातीत हो जायगा। वह प्रेम ब्रह्मचर्यमय होगा। ब्रह्मचर्य अप्रेम नहीं है। वह देहातीत का प्रेम है। इसी लिहाज से सच्चे प्रेम का नाम है अहिंसा। हिंसा में भी मेरी स्थापना के अनुसार तो प्रेरणा के तौर पर जो तत्त्व काम करता होता है वह भी प्रेम ही है। लेकिन वह विकासशील नहीं है, वह तो मरणशील है और क्षणिक है। विकासशील प्रेम सदा अहिंसोन्मुख होगा।

२३—प्रतिभा

प्रश्न—मनुष्य की प्रतिभा बहुमुखी होते हुए भी किसी एक दिशा में विशेषतः प्रवृत्त होती है। क्या उसी एक दिशा में अधिकाधिक विशेषता प्राप्त करने को विकास का वैज्ञानिक ढंग कहने में आपको कोई आपत्ति है ?

उत्तर—विकास वैज्ञानिक होने के लिए एकांगी होना चाहिए, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता। इष्ट सम्पूर्णता है। एक दिशा की विशेषज्ञता कभी, बल्कि अक्सर, सम्पूर्णता-लाभ में बाधा हो जाती है। बड़ा दार्शनिक कच्चा व्यवहारज्ञ होता है। चतुर दुनियादार तनिक अकेलेपन से घबरा जाता है। इस भाँति एक-देशीय दक्षता व्यक्ति पर बन्धन-स्वरूप होती देखी जाती है। प्रतिभा अधिकांश एकांगी होती है। मैं प्रतिभा का कायल नहीं हूँ। प्रतिभा द्वन्द्वज है। प्रतिभा नहीं, मुझे साधना चाहिए। 'प्रतिभा' शब्द में यह गर्भित है कि कोई व्यक्ति जन्म से प्रतिभाहीन भी हो सकता है। मैं यह नहीं मानना चाहता। यह तो ईश्वर के प्रति पक्षपात का अभियोग लगाना ही हुआ कि हम मानें कि अमुक को तो प्रतिभावान् पैदा किया गया है और हमें प्रतिभाहीन ही रक्खा गया है। मैं भरोसा साधना में रखता हूँ। किसी को यह समझने का मौका नहीं है कि उसका उद्धार असम्भव है। 'प्रतिभा' शब्द ऐसी हीन-बुद्धि (Sense of Inferiority) पैदा करने में मदद देता है। अभ्यास और साधना दूसरी ओर सब के लिए मानो आशा का द्वार खोलते हैं। साधना सर्वांगीण विकास में सहायक होती है। मेरे खयाल में विकास उसी को कहना चाहिए जो सर्वांगीण है। देह पर पट्ठे खूब उभर आयँ और मन-बुद्धि निस्तेज रह जायँ, अथवा कि नैय्यायिक बुद्धि प्रखर ही रहे और शरीर सदा रोगी बना रहे, तो इन अवस्थाओं को उन्नत अवस्था

मुझसे न कहा जायगा। मैं पहलवान को समझदार और पंडित को स्वस्थ देखना चाहता हूँ। निर्बुद्धि पहलवान और रुग्न-काय विद्वान् विकास-प्राप्त मानवता का सूचक नहीं हैं। पुरुष स्वस्थ और सूक्ष्म और साधारण होना चाहिए। साधारण होकर भी असाधारण। जन्म-जात विलक्षण मानव (= Prodigies) विकृति के लक्षण हैं, संस्कृति के नहीं। वे प्रकृति के खिलवाड़ (= Freaks of Nature) हैं, उसके विकास के प्रमाण नहीं। इतिहास के महापुरुषों के भी महापुरुष वे समझे गये हैं और समझे जायँगे जिनमें प्रतिभा का चमत्कार उतना नहीं जितना कि अखंड साधना का प्रकाश प्रकट होता है।

प्रश्न—लेकिन क्या आप न्यूटन, कालिदास और महात्मा बुद्ध को उनके अलग-अलग व्यक्तित्व में बड़ा मानने को तैयार हैं। यदि हैं, तो क्योंकर वे सब बड़े होते हुए भी विशेषताओं में विभक्त हैं? क्या उन विशेषताओं में हम प्रतिभा ही को विकसित हुआ नहीं कह सकते?

उत्तर—काम चलाने के लिए जिसको आप चाहें उसको मुझे बड़ा मानने में आपत्ति नहीं है। आज मैं चप्पल सीने का काम सीखना चाहूँ तो निःसंकोच एक चमार भाई को मैं बड़ा मान लूँगा। उदाहरण यह जरा अतिरंजित है, फिर भी केवल यह दरसाने के लिए है कि यहाँ प्रयोजन बनाने वाले बड़ेपन की बात नहीं है, यहाँ तो उस जीवन-तत्त्व की शोध का प्रश्न है जिसके अनुसार मानव-नीति और समाज-नीति निर्धारण करना होगा। तब तो यही कहना होगा कि आपके गिनाये गए इन नामों में बुद्ध के जीवन की विशेषता ऐसी है कि उसमें कोई रंगीनी न थी। उसमें किसी प्रकार की प्रखरता न थी। उसका महत्त्व अधिकाधिक नैतिक था और प्रेम उसका स्वरूप था। इससे बुद्ध की विशेषता को मैं ऐसा मानता हूँ जो प्रयोजन के कारण आदरणीय नहीं है, प्रत्युत स्वभाव में ही वह स्पृहणीय है। वह सदा सब को अनुकरणीय हो सकी है। अर्थात् वह सब काल और सब देश के लिए है और किसी विशेष प्रकार के व्यवसाय आदि से सम्बन्धित नहीं है।

कालिदास कवि थे, न्यूटन वैज्ञानिक थे। कवित्व और वैज्ञानिक होने में थोड़े-बहुत धन्धे का भी मेल है। उनमें स्वकीय भी कुछ है, जब कि बुद्ध में तो अपना कुछ है ही नहीं, सब सबका है। सब समर्पित है। बुद्ध निःस्व हो रहे, इनसे वह मानवता के सर्वस्व हो गए। उनकी प्रतिभा यदि है तो शुद्ध मानवता है। विकास को मैं पूरे तौर पर इसी मानवीय परिभाषा में समझना चाहता हूँ। यदि कोई साहित्य-रसिक न हो तो कालिदास की विशेषता से वह अप्रभावित रह सकता है। इसी तरह तत्त्व-ज्ञान की आरम्भिक जानकारी न रखने वाला न्यूटन के महत्त्व से अछूता रह सकता है। लेकिन बुद्ध से प्रभावित होने के लिए तो आदमी का आदमी होना ही काफी है।

प्रश्न—नैतिकता और प्रेम का जो बड़प्पन बुद्ध को प्राप्त हुआ, क्या वह न्यूटन को वैज्ञानिक और कालिदास को कवि कालिदास रहते हुए अलभ्य था? यदि नहीं तो बुद्ध की महानता के मार्ग में न्यूटन और कालिदास के जैसा प्रतिभावान् होना क्योंकर रुकावट है?

उत्तर—इस प्रश्न का तो यह अर्थ हो जाता है कि बुद्ध क्यों कालिदास और न्यूटन नहीं हुए और क्यों कालिदास बुद्ध नहीं बन गए? मैं इसका जवाब नहीं दे सकूँगा। फिर भी, मुझे ऐसा मालूम होता है कि वह व्यक्ति जिसके प्रति जगत् और इतिहास अधिकाधिक ऋणी होगा, कोई ऐसा ही व्यक्ति होगा जो अकिंचन हो। सम्पत्ति की ओर से अकिंचन, उसी तरह ज्ञान अथवा कला समझी जाने वाली अन्य विभूतियों की ओर से अकिंचन। वह तो प्रकाश-रूप और सेवामय होगा। भीतर आग, बाहर स्नेह। ज्ञानी अथवा लेखक होने की फुर्सत उसे होगी ही कहाँ? या अगर ज्ञानी और लेखक वह होगा भी तो इस भाँति कि जैसे राह चलते की ये उपाधियाँ हों। वे (तत्त्व-ज्ञान और काव्य-ज्ञान) बिलकुल उसके आत्म-व्यक्तीकरण के साधन के रूप में होंगे, उसमें समाए हुए होंगे। इस लिहाज से शायद वह न नामी कवि और न नामी वैज्ञानिक हो सकेगा, क्योंकि वह काव्य और दर्शन का स्रोत ही जो होगा।

प्रश्न—हमारा जीवन दो भिन्न रूपों में व्यक्त होता दीखता है। एक पारस्परिक सम्बन्ध जो नीति के अन्तर्गत हैं और दूसरे अन्य कार्य-कलाप जिन्हें उपयोगी अथवा ललितकलाओं के (Useful or Fine Arts) दायरे में रख सकते हैं। नीति एक रूप है और सब के प्रति उसकी एक-सी माँग है। किन्तु कलाएँ विविध रूप हैं और वे सब रूपों में नहीं, किसी एक ही रूप में किसी एक व्यक्ति के लिए सुलभ है। इसीलिए हम देखते हैं कि पहले में प्रतिभा का प्रश्न ही नहीं उठता और दूसरे में मानव की सहज मनोवृत्ति और उनके अनुसार अमुक के चुनाव का (Selection का) प्रश्न होता है जिसे हम प्रतिभा का नाम दे देते हैं। इस तरह जीवन के नैतिक रूप के साथ-साथ मानव की उस मनोवृत्ति और उसके अनुसार उस विशिष्टांगी चुनाव की प्रवृत्ति को आप क्या उचित नहीं समझते ?

उत्तर—किसी काम के चुनाव को और उस काम को करने की दक्षता को मैं अनुचित क्यों समझूँगा ? अगर उसी का नाम प्रतिभा है, तो बहुत अच्छी बात है।

लेकिन मैं अपनी बात स्पष्ट कर दूँ। हरेक सम्भावना के दो पहलू होते हैं। एक अव्यक्त, दूसरा व्यक्त। अव्यक्त भावनात्मक है, व्यक्त कृत्य-रूप है। अव्यक्त कारण, व्यक्त कार्य।

कृत्य-कर्म में तो भिन्नता और विविधता है ही। उसमें श्रेणियाँ हैं। उसी में ललित कला और उपयोगी कला आदि के भेद हैं। इसी से स्वधर्म जुदा-जुदा हैं।

मेरा कहना यह नहीं है कि आदर्श व्यक्ति उपयोगिता, लालित्य अथवा कर्म से हीन होगा, या वह केवल भावनात्मक ही होगा। वह वैविध्य-शून्य होगा, यह भी नहीं। कहने का आशय यह है कि उसके जीवन का प्रत्येक श्वास और प्रत्येक कर्म जिस भावना से अनुप्राणित होगा, वह अधिकाधिक आदर्श से तरसम होगी। ,यश, नामवरी, दूसरे को नीचा दिखाने की वृत्ति,

महत्त्वाकांक्षा की भावना आदि तरह-तरह की प्रेरणाएँ हो सकती हैं जिनको लेकर व्यक्ति बाहरी किसी अमुक स्थूल कर्म के सम्पादन में असाधारण चातुर्य दिखा उठे। वह देखने में प्रतिभा जान पड़ेगी, लेकिन मैं उस प्रतिभा का कायल नहीं हो पाता हूँ।

प्रश्न—अच्छा कहो या बुरा, लेकिन हम देखते हैं कि कुछ व्यक्तियों में कुछ-न-कुछ असाधारण कर गुजरने की शक्ति होती है। और कुछ में इतनी कम कि मुश्किल से कोई उन्हें जान पाता है। ऐसे दो प्रकार के लोगों में जिस वस्तु का अन्तर है, क्या वह कोई वास्तविक (=positive) चीज़ नहीं है? उसे आप क्या नाम देंगे?

उत्तर—उसको मैं नाम दूँगा 'व्यक्तित्व की एकता'। शक्ति सब में है और जो शक्तिहीन है, दोषी वह स्वयं है। विधाता दोषी नहीं है।

प्रश्न—व्यक्तित्व की एकता, शक्ति और प्रतिभा, इन तीनों में आप क्या भेद मानते हैं?

उत्तर—यथार्थ में मैं भेद नहीं मानना चाहता। प्रचलित शब्दार्थ में तो भेद है ही। उस भेद के लिए क्या आप चाहते हैं कि मैं परिभाषा बनाकर दूँ?

प्रश्न—व्यक्ति की एकता को आप स्पृहणीय मानते हैं?

उत्तर—जरूर।

प्रश्न—लेकिन उपर्युक्त के अनुसार जो लोग अस्पृहणीय कार्य करके असाधारण हो जाते हैं, उनमें व्यक्तित्व की एकता को आप क्यों स्पृहणीय मानेंगे?

उत्तर—असाधारण कार्य करने के लिए सदा निष्ठा की आवश्यकता है। वह कार्य यदि अस्पृहणीय है तो इसी कारण कि उसकी निष्ठा के मूल में ऐक्य-भावना नहीं रही होगी। यों भी कह सकते हैं कि निष्ठा की परिपूर्णता में ही कुछ कमी रह गई होगी। तिस पर कार्य कोई अस्पृहणीय हो सकता है, पर निष्ठा तो किसी भी हालत में अनुचित नहीं कही जा सकती।

शक्ति का उपयोग यदि ग़लत किया जाता है, तो वह शक्ति के विरुद्ध प्रमाण नहीं है। बिजली छूने से आदमी मर जाता है, तो क्या बिजली को फाँसी की सजा दी जा सकती है? मेरी मान्यता है कि अपने भीतर की मन-बुद्धि की एकता ही उत्तरोत्तर व्यक्तित्व की शक्ति के रूप में व्यक्त होती है।

प्रश्न—वह शक्ति जीवन के विभिन्न उपयोगों में प्रयुक्त की जा सकती है, लेकिन क्या आप उसके विशिष्ट रूप से एक ही ओर से प्रयोग किये जाने के पक्ष में हैं।

उत्तर—प्रयोग का रूप दो बातों पर आश्रित है: (१) उस अन्तरंग शक्ति की घनता और परिमाण, (२) परिस्थिति की माँग।

उस प्रयोग में फिर जो इष्ट और अनिष्ट का भेद होता है, वह अधिकांश उसके सामाजिक फल की दृष्टि से चीन्हा जाता है। अतः वह अपेक्षित है। तत्काल का निर्णय कुछ हो सकता है, इतिहास का कुछ और।

प्रश्न—मैं जो जानना चाहता हूँ वह यह है कि व्यक्तित्व की पूर्णता की रक्षा का विचार रखते हुए और उधर समाज के हित का भी, क्या वह जिसे हम विशेषता (Specialization) कहते हैं इष्ट है?

उत्तर—एक हद तक।

जैसे कि कल ही हमें घर में बीमार बच्चे के लिए डॉक्टर ने बताया है कि उसमें कैल्शियम की कमी है। इलाज के लिए इसलिए ऐसे पथ्य और ओषधि की तजवीज की गई है, जिसमें कैल्शियम का भाग ज्यादा हो। अनुमान कीजिए कि आज की भाँति उसके स्वस्थ हो जाने के बाद भी कैल्शियम वाली खूराक जारी रखी जाती है। तो क्या यह सम्भावना नहीं हो सकती कि उससे हित के बजाय अनहित होने लगे?

'विशेषता' (Specialization) में भी ऐसा होता देखा जाता है। आरम्भ में तो विशेषता वाला ज्ञान उपयोगी होता है, उससे दृष्टि प्रशस्त होती है। लेकिन फिर वह एक बन्धन और परिग्रह होने लगता है। दृष्टिकोण उससे सीमित हो रहता है। याद रखना चाहिए कि जीवन एक प्रवाह

है। वह निरन्तर विकास है। मूल्य कहीं भी कोई बँधे हुए नहीं हैं। विशेषज्ञ में अतिवाद आने लगता है और यथावश्यकता की समझ मन्द पड़ जाती है। बुद्धि उसकी जैसे विश्राम के लिए सहारा पा लेती है और वह रुक जाती है। आदमी समझने लगता है कि उसने पा लिया है, और पाते रहने का उसका प्रयत्न शिथिल पड़ जाता है। उसकी प्राण-शक्ति की बेचैनी मूर्च्छित हो जाती है। वह विद्वान् इतना हो जाता है कि शोधक कम रह जाता है,—ऐसा ज्ञानी जो जिज्ञासु नहीं है। अब मानो वह यात्री ही नहीं, रुका-घिरा गृहस्थी है। लेकिन याद रहना चाहिए कि घर कहीं कोई बन्द नहीं हो सकता। चला-चली लगी है और पहुँचना दूर है। दीवारें झूठ हैं और एक दिन विस्तृति का सामना करना ही होगा।

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि खास आदमियों में खास कार्य करने का शुरू से ही कुछ गुन होता है? क्या यह समाज के हित में न होगा कि उन-उन व्यक्तियों को वह कार्य ही एकांततः दिया जाय जो उन्हें रवा है और जिसमें उन्हें रस है?

उत्तर—मानता हूँ। लेकिन 'एकांततः' पर काफी से ज्यादा जोर पड़ा कि अनर्थ भी होने लगेगा। आजकल कारखानों में एक छोटी-सी चीज के तैयार करने की प्रक्रिया के विविध अंग विविध कारीगरों में बँट जाते हैं। एक श्रेणी के मजूरों के जिम्मे उसका बहुत थोड़ा-सा अंश आता है। जैसे कि लीजिए, रोज काम आनेवाली आलपिन को ही ले लीजिए। हो सकता है कि कुछ लोग पिनों के ऊपर के सिरों को बनाते-बनाते उस काम में विशेष चतुर हो गये हों। लेकिन तब पिन की नोक को वे नहीं जानेंगे, उसके बनाने की कल्पना ही उनमें नहीं होगी। न समूचे पिन से उन्हें विशेष सरोकार जान पड़ेगा। बस, उनकी निगाह पिन के सिरों में ही अटकी रहेगी। बरसों-बरस उसी एक काम को करते रहने का परिणाम यह तो हो सकता है कि वे आलपिनों के सिरों के विशेषज्ञ हो जायँ, लेकिन इस प्रकार क्या वे उन्नत नागरिक भी हो सकते हैं?

इसीलिए आपके 'एकांततः' शब्द के लिए मेरे मन में उत्साह नहीं है।

प्रश्न—लेकिन विशेषज्ञता के साथ, जिसे हम उपयोगी मानते हैं, एकांतता न आये, यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर—अगर नहीं हो सकता तो मुझे विशेषज्ञता हासिल करने की जिद भी नहीं हो सकती।

लेकिन ऊपर बीमार बच्चे और कैल्शियम की बात कही। इसी तरह विशेषज्ञता की भी जरूरत रहेगी और विशेषज्ञ भी रहेंगे। उनको अनावश्यक बताने का मेरा अभिप्राय नहीं है। यहाँ हम जीवन की परिपूर्णता का तत्त्व जानना चाह रहे थे न ? सो विशेज्ञता परिपूर्णता नहीं है, वह तो खण्ड की अभिज्ञता है—यह हमको विस्मरण न करना चाहिए।

प्रश्न—जीवन की परिपूर्णता से आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मैं द्वन्द्व-हीनता को व्यक्तित्व की एकता मानता हूँ। वैसी एकता में फिर व्यक्ति की पूर्णता भी है।

प्रश्न—विशेषज्ञता से एकांतता आने का डर आपने बताया है और साथ ही उसे आवश्यक भी। तो क्या आप किसी उदाहरण से बतलायेंगे कि किस हालत में विशेषज्ञता की उस एकांतता के साथ हम जीवन की परिपूर्णता को हासिल कर सकते हैं ?

उत्तर—एक आदमी वही चाहता है, जिसका अपने में अभाव पाता है। स्वप्न अतृप्ति के प्रतीक हैं।

जब तक हममें चाह शेष है, हम अपूर्ण हैं। किन्तु चाह जीवन का लक्षण भी है। To aspire is to live। इसका अर्थ यह भी हो जाता है कि जब तक हमारा (व्यक्तिगत) जीवन सम्भव है, तब तक हम सम्पूर्ण भी नहीं हैं।

इसलिए विशेषज्ञता के लिए वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में पूरा अवकाश है। फिर भी विशेषज्ञता तो सम्पूर्णता हो ही नहीं सकती क्योंकि उसके शब्दार्थ में ही गर्भित है कि कुछ है जो ऐसे विशेषज्ञ के निकट अ-विशेषता अतः पराया (अज्ञात) भी है। विशेषज्ञता इसलिए जरूरी तौर पर, परिबद्ध (=Exclusive) भी हो जाती है। इसी भाव में मैंने कहना

चाहा है कि विशेषज्ञता सम्पूर्णता की राह में बाधा है।

अभी कमजोर बालक के लिए कैल्शियम की खूराक देने का उदाहरण दिया गया है। उस बालक के रोग का जहाँ तक सम्बन्ध है, कैल्शियम-युक्त पदार्थों का विशेषज्ञ उस बालक के लिए सबसे ज्यादा उपयोगी परामर्शदाता समझा जायगा। बच्चे की तात्कालिक अवस्था की दृष्टि से वह विशेषज्ञ विश्व का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो सकता है। पर यह आंशिक दृष्टि ही है। इसी भाँति विशेषज्ञता विभक्त जीवन की विविध में से एक-एक खण्ड के उपयोग की दृष्टि से सम्भव और उपयोगी बनती है। समग्र और अखण्ड जीवन-तत्त्व के विचार से देखें तो वह चीज, यानी वैसी विशेषज्ञता, उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती।

मैंने नहीं कहा कि अमुक वस्तु का विशेष ज्ञान शेष वस्तुओं के ज्ञान में बाधास्वरूप है। लेकिन उस एक वस्तु का ज्ञान सर्वात्म-स्वरूप अखण्ड-तत्त्व के प्रति व्यक्ति के नाते की चेतना को मन्द कर दे तो वह हितकारी नहीं है। लौकिक दक्षता और विशेषज्ञता इसी कारण एक स्थल पर जाकर अहितकारी मालूम होने लगती हैं।

द्वितीय खण्ड

प्रश्नकर्त्ता

श्रीगजानन पोतदार

१—हमारी समस्याएँ और धर्म

प्रश्न—इतने धर्म आदि होते हुए भी आज मानव-समाज में इतनी विषमता और असंतोष क्यों है ? धर्म-प्रवर्त्तकों का प्रयत्न तो यही था न कि मानव-जाति को सुख-शान्ति प्राप्त हो ?

उत्तर—यह तो आसानी से कहा जा सकता है कि धर्म-प्रवर्त्तकों ने जो धर्म चलाया, अनुयायियों ने आचरण तदनुकूल नहीं किया। उन्होंने धर्म को अपने संप्रदाय के लिए एक नारा ही मान लिया।

यह जब कि एक कारण कहा जा सकता है तब सच्ची बात तो यह है कि अशान्ति का और विषमता का बिल्कुल अन्त तो मुक्ति में ही होने वाला है। अगर वर्तमान से हमें पूरा सन्तोष हो तो भविष्य के लिए हम शेष क्यों रहें ? इसलिए जब तक काल है, जब तक गति है, तब तक हमारी दुनिया में असन्तोष के लिए कारण भी वर्तमान हैं। जीवन की भी और कोई परिभाषा नहीं है, गति के अर्थ में ही हम उसे समझ सकते हैं। हाँ, उस गति में संगति अवश्य है। उसी को विकास कह लीजिए।

प्रश्न—क्या इस उत्तर में निराशा नहीं है और क्या इससे निराशावाद का जन्म नहीं हो सकता ?

उत्तर—लेकिन मरीचिका (=utopia) और मोह (=Romance) पर आश्रित आशावादिता भी तो कोई बहुत अच्छी चीज नहीं है। जो उस प्रकार की अन्तिम स्वीकृति, जिसको कि भाग्य अथवा किसी महासत्ता की स्वीकृति कहनी चाहिए, उसके इन्कार पर अपने को कायम रखती है वह आशावादिता अधिक प्रेरक नहीं हो पाती। वह अन्ततः एक छल साबित होती है।

कौन हममें से नहीं जानता कि एक दिन सब को मरना होगा ? यह

जानकर भी हम कर्म से न चूकें, यही तो जीवन की सार्थकता है। नहीं तो मौत की तरफ से अपने को भुलावे में रखकर हम जीवेंगे तो अन्त समय पछतावा ही हाथ लगेगा और घोर प्रतिक्रिया होगी।

पर हम खुद को इतना महत्त्व क्यों दें कि यह ध्यान करते ही हमारा दिल बैठने-सा लगे कि कभी हम नहीं रहेंगे ? समय का प्रवाह अनन्त है। वह चलता ही रहता है, चलता ही रहेगा। लाखों आये, लाखों गये। उन सब ने ही किन्तु अपना जीवन जीया और कर्म किया। समय के अनन्त प्रवाह में वह कर्म-फल नगण्य-सा चाहे लगे, फिर भी उन सब का जीवन निरर्थक नहीं था। वैसी निरर्थकता का बोध हमें कभी डसने को आता है ही। पर उस निरर्थकता के बोध से उद्धार हमें झूठ के अथवा छल के बल से नहीं मिलेगा। श्रद्धा के बल ही हम उससे उबर सकेंगे।

प्रश्न—ऊपर भाग्य अथवा महासत्ता की बात कही है। ऐसे शब्दों को मानव-व्यापार के बीच लाकर क्या बहुत-कुछ जड़ता और विषमता नहीं फैलाई गई है ?

उत्तर—उन शब्दों के पीछे जो सचाई इंगित है उससे अपनी चेतना को तोड़कर अलग कर लेने और फिर उन निर्जीव रह गये हुए शब्दों का अविवेकपूर्वक उपयोग करने से ही वह दुष्परिणाम होता है।

श्रद्धा कभी भी बुरी चीज नहीं है। लेकिन श्रद्धा का लक्षण ही यह है कि वह श्रद्धेय और श्रद्धालु के अन्तर को बराबर कम करती है। जो उन्हें उत्तरोत्तर अभिन्न न करे वह श्रद्धा ही नहीं है।

जो अज्ञेय है वह इसी कारण क्या हमसे भिन्न है ? यों क्या हमारे भी भीतर कुछ अज्ञेय नहीं है ? अज्ञेय का आतंक मानकर भी यदि हम इसी भाँति उसके समीप आये तो कुछ हर्ज नहीं, हर्ज तो पार्थक्य में है। चाहे वह पार्थक्य अश्रद्धा का न होकर मात्र उदासीनता का ही हो। इसलिए सत्य सदा-सदा अज्ञेय बना रहेगा; यह जानकर भी मैं मानता हूँ कि वह सदा अधिकाधिक जानते रहने और पाते रहने के लिए है। वह दुष्प्राप्य नहीं है, इसीलिए तो खोज और भी अटूट होनी चाहिए।

यहाँ 'अज्ञेय' का अर्थ भी स्पष्ट करें। क्या बूँद समुद्र को जान सकती है? वृक्ष जंगल को समझ सकता है? बूँद के लिए समुद्र और वृक्ष के लिए वन क्या अनन्त काल तक अज्ञेय नहीं बने रहेंगे?

यानी बौद्धिक ज्ञान (Rationl Knowledge) दो पृथक् अस्तित्वों के बीच में ही सम्भव है। ज्ञाता और ज्ञेय के बीच के सम्बन्ध का नाम यदि ज्ञान है, तो वही इन दोनों के बीच के अन्तर का नाम भी है। वृक्ष के लिए वन इसीलिए अज्ञेय है कि वे भिन्न सत्ताएँ ही नहीं हैं। इसलिए जहाँ तक जानने का सम्बन्ध है, वहाँ तक वृक्ष लाचार है कि जंगल को न जाने। क्योंकि असल बात तो यह है कि जिस समय वह अपने को वृक्ष जान रहा है ठीक उसी वक्त वह अपने-आपमें जंगल भी तो है, क्योंकि जंगल का भाग है।

इसलिए 'अज्ञेय' शब्द को विज्ञान का तनिक भी बाधक नहीं समझना चाहिए। अज्ञेय को स्वीकार करके विज्ञान की ही अपनी सार्थकता बढ़ जाती है।

प्रश्न—'अज्ञेय' का अर्थ बतलाते हुए ऊपर वृक्ष और बूँद की उपमा दी गई है; परन्तु, इन चीजों में और मनुष्य में यह अन्तर है कि मनुष्य में विचार-शक्ति है। फिर यह उपमाएँ उसे क्योंकर लागू हो सकती हैं?

उत्तर—लागू न हों और न होनी चाहिएँ, इसीलिए ये उपमाएँ दी गई हैं। मतलब है कि अगर व्यक्ति भी अपने को महासत्ता का अंश न मान सके तो पानी की बूँद और जंगल में खड़े जड़-वृक्ष की भाँति ही वह हुआ न? मनुष्य कल्पनाशील प्राणी है, तो इसलिए नहीं कि वह अपने से ऊँचा न उठ सके, यानी अपने को इतना माने कि बड़ी सत्ता को भूल जाय। हमारी बुद्धि हमारा अहंकार है, लेकिन वही बुद्धि यह भी बतलाए बिना नहीं रहती कि अहंकार व्यर्थता है और क्षुद्रता है। उस बुद्धि की बात नहीं सुनें तो उपमा तो उपमा, हम सचमुच में जड़-वृक्ष की भाँति समझे जा सकते हैं।

प्रश्न—तो फिर मानव-जाति की विषमता को दूर करने के लिए क्या प्रयत्न किये जा सकते हैं और कैसे ?

उत्तर—यहाँ 'विषमता' का मतलब विविधता तो नहीं है न ? अर्थात् जो वैचित्र्य है, भिन्नता है, अनेकता है, वह अपने-आपमें समस्या नहीं है। क्योंकि वह कोई बुरी चीज नहीं है। दो न हों, तो 'ऐक्य' का अर्थ क्या रह जाय ? बिना अनेकता के कोई भी सत्ता, कोई भी व्यापार, सम्भव नहीं है। इसलिए प्रश्न बाहरी स्थूल विषमता को मिटाने का नहीं रह जाता। अथवा यदि यह प्रश्न है भी तो इसलिए है कि वह अन्तरंग विषमता का प्रकट फल है और फिर उसी को उत्तेजित करता है।

अब सवाल है कि अन्तरंग विषमता क्या है ? वह विषमता है हमारे मन के विकार।

वह विषमता कैसे दूर हो ?

वह दूर ऐसे हो कि मैं अपने विकारों को यथाशक्य अपने काबू में लाऊँ और दूसरों को उसी के लिए प्रेरित करूँ।

व्यक्तिगत-रूप में सच्ची बुद्धि से आरम्भ किया गया ऐसा प्रयत्न अकेला नहीं रह सकता है। वह गुणानुगुणित होता जायगा और उसका सामाजिक स्वरूप और सामाजिक प्रभाव हुए बिना न रहेगा।

दुनिया को सुधारने का मार्ग अपने को सुधारने के अलावा और नहीं है।

२-ऐतिहासिक भौतिकवाद

प्रश्न—ऐतिहासिक भौतिकवाद के विषय में आपके विचार क्या हैं ?

उत्तर—उसके बारे में मेरा अध्ययन जितना चाहिए उतना नहीं है। ऐसा तो मुझको मालूम होता है कि विचार करने की उस पद्धति में कुछ अधूरापन भी है। जो मेरी उस सम्बन्ध में धारणा बन सकी है, उससे चित्त को समाधान जैसा नहीं मालूम होता। सच बात यह है कि उस शब्द के भाव को ही मैं पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाता हूँ।

प्रश्न—क्या यह सच नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति और पर्यायतः समाज को भौतिक लाभ और ऐहिक सुख की ही सबसे पहले चिन्ता होती है ? और इसी उसूल पर आज तक का इतिहास बनता आया है। ऐसी दशा में धार्मिक आदर्शवाद को मानव-समाज के प्रत्यक्ष जीवन में कौन-सा स्थान है ? क्या भौतिक दृष्टि से ही इसकी ओर देखना अधिक उचित न होगा ?

उत्तर—अगर यह मान भी लिया जाय कि व्यक्ति भौतिक अभिलाषाओं को लेकर चलता है, तो भी यह मैं नहीं स्वीकार कर सकूँगा कि ऐतिहासिक तत्त्व की कुंजी उन अभिलाषाओं की भौतिकता में छिपी हुई है।

व्यक्ति, व्यक्तिगत जीवन में किन्हीं भी प्रेरणाओं को लेकर जीए, दुःख से मरे अथवा सुख से मरे, यह असंदिग्ध है कि उसके जीवन-मरण द्वारा जाति का अथवा इतिहास का ही कोई उद्देश्य अपने को पूरा कर रहा है। व्यक्ति की इच्छाएँ भौतिक दीखती हों सही; पर इतिहास का उद्देश्य भौतिक है यह मानना धृष्टता का काम होगा। विकासवाद के अनुसार वनस्पति

जीवन बढ़ते-बढ़ते आज मानव-चेतना तक आ गया है तो क्या इसको भौतिक लाभ कहें ? मानवता का विकास क्या उसकी नैतिक संस्कृति में ही हमको नहीं दिखाई देता है ? अगर विकास का अभिप्राय सांस्कृतिक है तो फिर आदर्श किसी प्रकार भी अनुपयोगी नहीं ठहरता, क्योंकि संस्कृति की प्रेरणा आदर्शानुभूति है ।

इसके बाद मुझे तो इसमें सन्देह है कि सचाई के साथ यह माना जा सकता है या नहीं कि मानव-व्यक्ति भौतिक तृष्णाओं पर ही चलता है । माँ बेटे को क्यों पालती है ? मित्र मित्र को मित्र क्यों मानता है ? शहीद क्यों शहीद हो जाता है ? उत्सर्ग और त्याग के उदाहरण क्यों देखने में आते हैं ? मैं और आप क्यों एक-दूसरे से इस समय झगड़ नहीं रहे हैं ? आदि-आदि बहुत से ऐसे प्रश्न हैं जो मेरे लिए यह मौका नहीं छोड़ते कि मैं भौतिकता को जीवन की पहली और अन्तिम प्रेरणा मान लूँ । बल्कि प्रति-क्षण मुझको यह मालूम होता है कि मनुष्य और मनुष्य-समाज जाने-अनजाने अनिवार्यतया भौतिकता के काबू से ऊँचा उठता जाता है और वह जितना ही ऊँचा उठता है उतना ही अपनी मनुष्यता को सार्थक करता है । पशुता का कानून ही जिसके लिए कानून है, वह मनुष्य भी कैसा है ? वह निरा पशु है और निरा पशु कोई मनुष्य हो नहीं सकता ।

मानव-समाज की समस्याओं को भौतिक आधार पर समझना और खोलना मेरे खयाल में इसी हेतु से अपर्याप्त समझा जा सकता है कि मनुष्य केवल भौतिक नहीं है । उसमें आत्मा भी है । उसमें प्रेम देने और प्रेम पाने की माँग भी है । वह विचारधारा, जो मानवता के उस मूल गुण को बिना ध्यान में लाये मानव-दुःखों का निपटारा करना चाहती है, केवल अपने को भुलावा दे रही है ।

मानव भौतिकता में बन्द नहीं है, इससे उसकी समस्याएँ भी भौतिक बुद्धि द्वारा नहीं खुलेंगी । वह केवल विज्ञान से नहीं खुलेंगी—उस विज्ञान में सच्चे जीवन का योग भी देना होगा ।—सच्चा जीवन यानी निःस्व समर्पण का जीवन ।

प्रश्न—'पशुता के कानून' से आपका क्या मतलब है ? उसमें और मनुष्य के कानून में मूल अन्तर क्या है ?

उत्तर—यों तो पशु और मनुष्य में बहुत अन्तर नहीं है; फिर भी जो अन्तर है वह एक बात को स्पष्ट कर देता है। वह बात यह कि पशु अपने समूह-गत व्यक्तित्व को नहीं समझता दीखता। मनुष्य अपने साथ-साथ परिवार को, जाति को, समाज को भी मानता है। इसलिए पशु-वर्ताव की नीति को 'पशु-बल की नीति' कहा जा सकता है। जिसमें ताक़त है वह विजयी होगा, जो कमजोर है उसे खा डाला जायगा। वहाँ एक का अपनापन ही उसके लिए पहला और अन्तिम विचारणीय विषय है। मनुष्य ऐसे आचरण नहीं कर सकता, क्योंकि वह लाचार है कि अपने से बड़ी किसी सत्ता को माने। इसलिए उसके वर्तन की नीति ताक़त की नीति नहीं रहती, वह कुछ और हो जाती है। क्या हम उसको अहिंसा कहें ?

विज्ञान के साथ जो सच्चे जीवन के योग की बात कही उसका भावार्थ यही अहिंसा यानी प्रेम-भावना का योग है। पूर्ण अहिंसक पूर्ण मनुष्य है।

प्रश्न—'अहिंसा' शब्द का आज खूब उपयोग किया जा रहा है और इसके अर्थ भी नाना प्रकार के लगाये जा रहे हैं। परिणाम यह हुआ है कि इसके कारण हमारी असली समस्याएँ और उलझी-सी दिखाई देने लगी हैं। इससे आगे, इस शब्द के अर्थ का ठीक माप भी समझ में नहीं आता। तो क्यों उस शब्द को बचाकर सादी बोलचाल की भाषा से हम काम न चला लें ? आप ही बताइए उस शब्द से यहाँ आपका क्या भावार्थ है ?

उत्तर—क्लिष्टता लाने की इच्छा से वह शब्द प्रयुक्त नहीं किया गया। वह वैसे तो चलते सिक्के की तरह प्रचलित हो गया दिखता है। उसमें कठिनाई कहाँ है ? लेकिन हाँ, लोग उससे अलग-अलग भाव लेते हैं। भाववाचक सभी शब्दों के साथ ऐसा होता है; पदार्थ-वाचक शब्दों के साथ ऐसा झगड़ा नहीं उठता। जो वैसे स्थूल पदार्थ के बोधक नहीं हैं उन सभी शब्दों के बारे में गलतफहमी मिलेगी। इसका उपाय उन शब्दों का बहिष्कार

नहीं है। उपाय यही है कि उन शब्दों में कुछ आचरणीय तत्त्व हम देखें और कुछ अपनी अनुभूति का तथ्य उनमें डाल सकें। वैसा न हो, उन शब्दों के उच्चार के पीछे कोई वास्तविकता न दीखती हो, तो सुनकर भी ऐसे शब्दों को अनसुना कर देना चाहिए। और अनुभूति-हीन शब्द तो अपने मुँह से निकालना ही नहीं चाहिए।

'अहिंसा' शब्द की भिन्न लोग भिन्न परिभाषा देते हों तो कोई बाधा नहीं है। बाधा तभी उपस्थित होती है जब ऐसे लोग अपने अर्थों को लेकर आपस में झगड़ा मचाने पर तुल जाते हैं।

अहिंसक पुरुष, यानी प्रेमी पुरुष। जो चीटियों को चीनी खिलाता है और पड़ोसी की खबर नहीं रखता वह अहिंसक नहीं है। जो अपने सुख को दूसरे के साथ बाँटता है और दूसरे के दुख को स्वयं बाँट लेना चाहता है, अहिंसक वह है। हिंसा नहीं करता : इसका मतलब है कि प्रेम करता है। कर्महीनता झूठी अहिंसा का लक्षण है। जब कर्म न होगा तब हिंसा ही कहाँ से होगी? ऐसी धारणा अहिंसा नहीं निर्जीवता पैदा करती है। जैसे अपने को मार लेना मुक्त हो जाना नहीं है, वैसे ही कर्म से बचना हिंसा से बचना नहीं है। अहिंसा तो बाहरी रूप है, भीतर तो उसके प्रेम की आग जलती रहनी चाहिए। उस आग के तेज से ही कर्म का बन्धन क्षार होता है। और वैसा अहिंसक-कर्म अकर्म कहाता है।

प्रश्न—आज की स्थिति को देखते हुए क्या आपको यह आशा करने के लिए गुंजाइश दिखाई देती है कि यह अहिंसक वृत्ति मानव-जाति के जीवन में इतनी काफी बढ़ जायगी कि उससे हमारी समस्याएँ सुलझ सकें?

उत्तर—आशा न करने का हक ही मैं अपना नहीं मानता। निराशा मुझे नहीं। लेकिन आशा-निराशा का प्रश्न ही कहाँ उठता है जब कि मेरा विश्वास है कि अहिंसक वृत्ति से ही मानवता का काम चलेगा? क्या मैं यह मान लूँ कि मानव-जाति एक रोज मर-मिटकर समाप्त होगी और पशुता ही खुल खेलने को रह जायगी? ऐसा मैं कभी, कभी, कभी नहीं मान सकता।

लेकिन अतिशय आशा की अधीरता ही क्यों ? मैं तो मानता हूँ कि व्यक्तिगत हिंसा अब बहुत ही कम हो गई है, यानी वह लोगों की तबीयत से अधिकाधिक हटती जाती है। हाँ, सरकारी हिंसा का अभी भी फैशन है। राष्ट्र लड़ते हुए शरमाते नहीं बल्कि गर्व मानते हैं। लेकिन वह भी क्या अपने-आप में उन्नति नहीं है कि व्यक्तिगत मामलों में हिंसा एकदम निकृष्ट समझी जाती है ? कुछ ही पहले इज्जत के नाम पर विलायतों में ड्यूएल लड़ने का भद्रजनोचित रिवाज था। भारत में भी आपसी घरेलू-मामलों में इज्जत के नाम पर भयंकर तनाजे छिड़ जाया करते थे। ऐसी बातें अब पुरानी लगती हैं। क्यों न आशा की जाय कि एक दिन सरकारी हिंसा भी अन-फैशनेबिल हो जायगी ? आज तो बेशक वैसा नहीं दीखता। पर एक प्रचण्ड महायुद्ध क्या दुनिया की आँखों को इस सचाई की तरफ खोल देने के लिए काफी नहीं होगा ? मैं तो मानता हूँ कि आगामी महायुद्ध का यही काम होगा।

प्रश्न—इस उत्तर में आपने अहिंसा के केवल एक पहलू तक, यानी शारीरिक हिंसा तक, ही अपना उत्तर सीमित रखा है। मेरे प्रश्न का तात्पर्य कुछ और भी है। मैं अहिंसा के उन सब पहलुओं के विषय में उत्तर चाहता हूँ जिनका आप अहिंसा की व्याख्या में समावेश करते हैं।

उत्तर—यह तो बहुत बड़ा सवाल है और जितना यह बड़ा है उतना ही छोटा उसका उत्तर होना उचित है। मैं यों कहूँगा—

सम्पूर्णता को परमात्मा कहो। उसका अज्ञेय भाग सत्य है! प्राप्त सत्य अहिंसा है। मानव चूँकि अपूर्ण है, इससे उसका सामाजिक धर्म अहिंसा ही है।

ऊपर के शब्दों में अहिंसा-सम्बन्धी मेरी पूरी स्थिति आ जाती है। पर क्योंकि अहिंसा बड़ी चीज है, इससे छोटी बातों में हमें ओझल हो जाने की आवश्यकता नहीं है। हिंसा रोकना है तो उसके स्थूल रूप से ही आरम्भ करना होगा। और यहाँ अहिंसा-धर्म का प्रतिपादन भी तो अभिप्राय नहीं है।

प्रश्न—तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानव-समाज की विषमता तथा उसके असन्तोष को यथासम्भव कम करने का एक मात्र उपाय अहिंसक-वृत्ति है। जब तक यह न हो तब तक अन्य कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। यही न ?

उत्तर—बेशक, मैं इसे स्वीकार करता हूँ।

३—औद्योगिक विकास : मजूर और मालिक

प्रश्न—वर्तमान औद्योगिक विकास और उसके साथ पैदा होने वाली श्रेणी-युद्ध आदि अहिंसा-विरोधी भावनाओं की बाढ़ को देखते हुए तो आज यह उम्मीद नहीं दिखाई देती कि मानव-समाज में अहिंसा-वृत्ति स्थिर हो सकेगी। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस वृत्ति के सिवा मानव-समाज को शान्ति या सुख नहीं मिल सकता। तो फिर, अहिंसा-वृत्ति और औद्योगिक विकास का मेल किस प्रकार जम सकता है?

उत्तर—नहीं जम सकता है और इसलिए वर्तमान औद्योगिक विकास को ही अपनी शक्ल बदलनी पड़ेगी, क्योंकि यह तो मैं असम्भव मानता हूँ कि हिंसा आदमी का स्वभाव बन जाय। वह औद्योगिक विकास, जिसमें कि परस्पर की स्पर्धा के कारण बल आता है, मानवता को सुख-चैन की ओर नहीं ले जा सकता। इससे एक जाति अथवा एक देश समृद्ध होता भले ही दीखे, पर उसी जाति या उसी देश को थोड़े दिनों बाद यह पता चले बिना न रहेगा कि उस समृद्धि में उसका विनाश भी है। साम्राज्य-विस्तार, जब तक वह विस्तार होता रहे, अच्छा लगता है; लेकिन वही साम्राज्य एक रोज बोझ हो आयगा, यह निश्चय है। जिसमें माल तैयार करने वाले को उसकी खपत के लिए मंडियाँ खोजनी पड़ती हैं, अर्थात् जहाँ उत्पादन, उत्पादन के निमित्त, अथवा दूसरे शब्दों में पूँजी के हित में किया जाता है, ऐसा औद्योगिक-विकास विनाश भी है। क्योंकि जो लोग ऐसे औद्योगिक विकास में अग्रसर होते हैं वे किसी दूसरे देशों के लोगों को प्रमादी और परावलम्बी भी बनाये रखते हैं। 'माल तो तैयार होते रहना ही चाहिए, क्योंकि मशीन में पैसा जो खर्च हुआ है—चाहे उस माल की अब जरूरत हो या न हो,

मशीन में लगी पूँजी का पूरा मुनाफा वसूल होना ही चाहिए।' इस नीति का परिणाम यह होता है कि कृत्रिम साधनों से उस माल की माँग पैदा की जाती है और फैलाई जाती है। फलस्वरूप देखने में आता है कि जीवन की जरूरी आवश्यकताएँ अधूरी रह गई हैं, फिर भी, बाजार आसाइश की अनावश्यक चीज़ों से पटा पड़ा है। जिसको अँग्रेजी में 'लक्जरीज' कहते हैं, यानी मौज-विलास की चीजें, उनकी ओर जबरदस्ती रुचि पैदा की जाती है। तभी तो ऐसे लोग भी होने लगे हैं जिन्हें चाहे खाने को न मिले परन्तु जिनका साज-सँवार की कुछ वस्तुओं के बिना फिर भी काम नहीं चल सकता। तब प्रश्न होगा कि औद्योगिक विकास का उचित रूप क्या हो? मैं समझता हूँ, उद्योग में अब विकीरण (=Decentralization) शुरू होना चाहिए। इसका मतलब है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने से उद्योग आरम्भ कर दे; यानी, जहाँ तक मुझसे बने मैं अपनी पार्थिव जरूरतों का बोझ दूर के लोगों पर न डालूँ। इससे पड़ोसी-प्रेम पैदा होगा और शोषण घटेगा। उद्योग का यह सच्चा विकास है। एक जगह इकट्ठे होकर जो पाँच हजार लोग एक जैसा काम करके जितना उत्पादन कर सकते हैं, वे पाँचों हजार आदमी अगर उतना ही श्रम अपनी जगह रहकर करना आरम्भ करें तो भी मशीन न होने पर भी, मैं समझता हूँ, उत्पादन कम नहीं करेंगे। इस तरह उत्पादन, कुछ बढ़ ही जायगा कमेगा नहीं। और अगर तौल में वह उत्पादन कुछ कम भी हो, तो भी समाज का सुख चैन तो उससे बढ़ेगा। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मजदूर स्वाधीन भाव से उद्यमी होकर मजदूर नहीं रहता, यानी वैसे अपनी बुद्धि का विकास भी करता है। साथ ही उसके परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्य उसके काम में हाथ बँटा सकते हैं,—उत्पादन में भी और उद्योग के विकास में भी उसके सहायक हो सकते हैं। उनकी उत्पादन-शक्ति अन्यथा बेकार जाती है।

प्रश्न यह जरूर है कि क्या मजदूर अपने घर पर करने के लिए कुछ काम पा भी सकता है? वर्तमान परिस्थिति बेशक उलझी और पेचीदा है। आज तो उद्यम से न घबराने वाला आदमी भी अपने गाँव को उजाड़

कर मिल में मजूर बनने को लाचार होता है। किन्तु इसका मतलब यही है कि रोग गहरा है और उपाय भी तीखा होगा।

सच्चे औद्योगिक विकासारंभ का उपाय यही है कि हम जीवन की स्थूल आवश्यकताओं के बारे में अधिकाधिक स्वावलम्बी बनने की कोशिश करें। घरेलू और देहात के उद्योगों को, जो अब लुप्त-प्राय होते जा रहे हैं, बल पहुँचाएँ और उन उद्योगों को संगठित करें। यानी शहर से तोड़कर गाँव की ओर हम अपने को ले जायँ। इसका यह मतलब नहीं कि गाँव में शहरियत ले जायँ। नहीं, शहरीपन को एकदम शहर में ही छोड़ दें और देहाती बनकर देहात में ही अपना समूचा जीवन मिला दें। मैं नहीं मानता कि देहात में सांस्कृतिक वृत्तियाँ भूखी रहेंगी। हाँ, सांस्कृतिकता के नाम पर जो आडम्बर रच डाला गया है, और जिसको अपने चारों ओर बटोरे रखना संस्कारिता का लक्षण मान लिया गया है, उसका सुभीता बेशक देहात में नहीं है। लेकिन यह तो अच्छी ही बात है कि देहात में जाकर वैसे इज्जत के साज-बाज से सहज छुट्टी मिल जाती है।

संक्षेप में व्यवसाय और अर्थ के क्षेत्र में विकीरण की नीति (=Industrial and Economic Decentralization) और संस्कृति के आधार पर केन्द्रीकरण की नीति (=Cultural Centralization) व्यवहार में आनी चाहिए।

प्रश्न—आपने सांस्कृतिक एकत्रता (=Cultural Centralization) और आर्थिक स्वावलम्बन की (=Economic Decentralization की) बात कही, वह वस्तुतः आवश्यक होते हुए भी, किसी एकाधिपति के अनुशासन के (=Totalitarian Stat के) सिवा असम्भव जान पड़ती है। यानी ऐसी स्थिति हिंसा के बल पर ही लाई जा सकती है। अगर अहिंसा के सिद्धान्त पर स्थिर रहा जाय तो यह स्थिति कभी न आयगी।

उत्तर—आर्थिक स्वावलम्ब-विस्तार (=Progressive Economic Decentralization) और एकतन्त्रशाही (=डिक्टेटर-

शिप) ये दोनों विरोधी वस्तुएँ हैं। डिक्टेटरशिप के माने ही हैं एक केन्द्र में सिमटी हुई भौतिक ताक़त। अगर आर्थिक दृष्टि से परिवार अथवा नगर अथवा प्रान्त स्वावलम्बी होने लग जावें तो उनमें विवेक-संगत स्वाभिमान भी जग जायगा। और ऐसी अवस्था में कोई उनके ऊपर डिक्टेटरी सत्ता तो असम्भव ही हो जाती है। हाँ, केन्द्र एक ऐसा तो होना ही चाहिए जहाँ से तमाम देश को ऐक्य प्राप्त हो : जैसे शरीर में हृदय। उसी को सांस्कृतिक एकता का आधार (=cultural centralization) कहा।

वह अवस्था, जब कि आर्थिक और पार्थिव दृष्टि से व्यक्तिमात्र पराधीनता से छूट जाय और स्वाधीनचेता हो जाय, लाना आसान नहीं है। पर इष्ट वही है। और उसको सम्भव बनाने के मार्ग में संस्थागत शासनाधिकारों से भी लाभ ले लेना होगा। जिसको कहते हैं 'लेजिस्लेचर्स' यानी कौंसिलें, उनका उपयोग भी करना होगा।

और उसमें लेजिस्लेशन को कार्यरूप में परिणत करने के लिए विद्यमान शासन-तन्त्र से भी सहायता ली जायगी। किन्तु वह सब किया जाय, उससे पहले कुछ व्यक्तियों को इस सम्बन्ध में आचरणारूढ़ होकर अपनी सदाशयता को प्रमाणित करना होगा। वे लेखन से और वाणी से लोकमत को इस विषय में चेतायँगे। लोकमत शनैः-शनैः बन चलेगा, तब शासन-तन्त्र के उपयोग का समय आयगा। क्योंकि शासन-तन्त्र स्वयं अन्त में संगठित लोकमत के हाथ की वस्तु है।

इस प्रक्रिया में खतरा एक वही है : डिक्टेटरशिप। लेकिन अगर नीति-निर्माताओं का ध्यान सच्चे तौर पर आर्थिक आत्म-निर्भरता के उद्देश्य की ओर है तब डिक्टेटरशिप की आशंका एकदम दूर हो जाती है। लेकिन अगर ऐसा नहीं है, आर्थिक केन्द्रीकरण होने दिया जा रहा है और बड़े-बड़े कल-कारखाने वाले उद्योगों का मोह है, तो डिक्टेटरशिप आये बिना नहीं रह सकती। नाम चाहे कुछ हो,—फासिज्म हो, यहाँ तक कि चाहे प्रणाली पार्लमेण्टेरियन हो, फिर भी वस्तुतः डिक्टेटरशिप ही होगी जो कि आर्थिक केन्द्रीकरण का अन्तिम फल होगी। और जहाँ डिक्टेटरशिप है,

जहाँ हर घड़ी लड़ाई की तैयारी ही है।

प्रश्न – तब आप यान्त्रिक उद्योगों के विकास और डिक्टेटरशिप में क्या अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं? डिक्टेटरशिप को अगर हम नहीं चाहते तो यान्त्रिक उद्योगों का, यानी यन्त्रों का, हमें वहिष्कार कर देना चाहिए। इसके सिवा आर्थिक स्वावलम्ब-विस्तार या 'डीसेण्ट्रलाइज़ेशन' कैसे हो सकता है? क्योंकि यान्त्रिक उद्योगों का विकास और 'डिसेण्ट्रलाइज़ेशन' परस्पर विरोधी हैं।

उत्तर—यन्त्र और यान्त्रिक उद्योग अपने-आपमें पाप नहीं हैं। हाथ से काम में आने वाली चीज क्या यन्त्र नहीं है? चर्खा यन्त्र क्यों नहीं है? कुम्हार का चाक भी यन्त्र ही है। इस भाँति चर्खे और चाक को उपयोग में लाना एक प्रकार से यान्त्रिक उद्योग भी ठहरता है।

इसलिए यन्त्र, और उद्योग में यन्त्र का उपयोग, यह दोनों निषिद्ध नहीं हैं। निषिद्ध इसलिए नहीं हैं कि दोनों ही मनुष्य की मनुष्यता के विकास में सहायक हुए हैं, और हो सकते हैं।

लेकिन यान्त्रिक जीवन-नीति जो कि यन्त्र के लिए मनुष्य को काम में लाती है, मनुष्य के लिए यन्त्र को नहीं, उस नीति और सभ्यता का समर्थन नहीं हो सकेगा।

अब प्रश्न है कि क्या कोई ऐसा माप है जो एक यन्त्र को विधायक और दूसरे को विघातक बतला दे सके? तो मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न का उत्तर यह बन सकता है कि जिसके कारण मानव-सम्बन्ध बिगड़ें, जिससे दो व्यक्तियों के बीच मालिक और मजदूर का सम्बन्ध बनता हो, वही निषिद्ध है। एक मालिक हो दूसरा मजदूर हो, यह स्थिति समाज के लिए विषम है और इसमें विस्फोट का बीज है।

कहा जा सकेगा कि उद्योगों पर से व्यक्तिगत प्रभुत्व को उठा देने से, यानी उन को राष्ट्रगत (nationalize) या समाजगत (= Socialize) कर देने से तो यह आशंका मिट जाती है। किन्तु ऐसा ऊपर से होता दीखता हो, फिर भी पूरी तौर से और असल में वह विषमता इससे नहीं

मिटती। क्योंकि उद्योगों के राष्ट्रगत (=nationalize) कर देने पर भी दूसरा कोई मुल्क तो जरूर रहेगा जिसके लोगों को इस उद्योग का दास बनाया जायगा। जहाँ से कच्चा माल आयगा, और जहाँ पक्का माल खपेगा, इन उद्योगों के सम्बन्ध में उन देशों की स्थिति तो शोषित की ही होगी न ?

फिर जैसा ऊपर कहा, उद्योगों के एक जगह केन्द्रित हो जाने से भौतिक अधिकार केन्द्रित हो जाता है और वैसी केन्द्रित प्रभुता का नाम ही डिक्टेटर-शिप है। जहाँ मशीन लोगों को मजदूर बनाने के काम मे लाई जाती है वहाँ वह किसी दूसरे को मालिक भी बनाती है। सैकड़ों दासों के पीछे एकाध मालिक होता है। इसी का तर्क-शुद्ध बढ़ा-चढ़ा रूप है कि लाखों-करोड़ों अनुगत हों और एक डिक्टेटर हो। किन्हीं भी दो के बीच में अगर दासता और प्रभुता का सम्बन्ध रहने दिया जाता है, तो उस रोग का उत्कर्ष स्वभावतः डिक्टेटर-शाही में सम्पूर्ण होता है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि पूँजीवाद डिक्टेटरशाही को जन्म देता है।

जहाँ मशीन के उपयोग का परिणाम यह हुआ कि उस मशीन में लगी पूँजी के मुनाफे की (Return की) लगन प्रधान हो गई, वहाँ ही वह मशीन और वह उद्योग दानवी हो गया। क्योंकि तब मशीन के पेट भरने की चिन्ता आदमी को खाने लगती है, और तब उस मशीन के पेट को भरने के लिए आदमियों के पेटों को काटना पड़े तो क्या अचरज ?

मशीन में आकर्षण है, इसलिए मशीन घर में आई नहीं कि वही घर की स्वामिनी बन जायगी और घर के लोग उस स्वामिनी के चाकर हो रहेंगे इस तरह के डर की आप बात कहते हैं और इसलिए सुझाते हैं कि मशीन मात्र को घर में न घुसने देने की बात मुझको कहनी चाहिए। नहीं, मैं वह बात नहीं कह सकता। हाँ, मशीन में जिसे वैसा आकर्षण है वह उसका त्याग कर दे। लेकिन वैसे आकर्षण की जरूरत नहीं है, इसलिए उससे घबराने की भी जरूरत नहीं है। अतः मशीन-मात्र में निषेध-भाव रखने का मैं समर्थक नहीं हूँ। आखिर क्या मानव-बुद्धि और प्रतिभा का चमत्कार यन्त्र-निर्माण में नहीं दीखता ? त्याज्य अहंकार है, मानव-बुद्धि का फल तो त्याज्य

नहीं है। अतः जहाँ अहंकार फूला हुआ बैठा है और अपने को महायन्त्रों से घेरकर सुरक्षित बनाये हुए है, वहाँ तो निर्भयता के साथ बढ़ना होगा और उस झूठे दर्प को चुनौती दे देनी होगी। पर मानव-मेधा का फल तो अमर है न ? उस फल के प्रति हमारी आदर-भावना ही रहेगी।

प्रश्न—आपने कहा कि जिन उद्योगों में मजदूर और मालिक का सम्बन्ध आ जाता है, वे निषिद्ध हैं। क्या कुछ उद्योग ऐसे न होंगे जो व्यक्तिगत रूप से चल ही नहीं सकते, लेकिन जिनका चलना यदि उचित नहीं तो जरूरी तो है ही। उदाहरणार्थ बिजली का उद्योग। ऐसे उद्योगों में तो मालिक-मजदूर का सम्बन्ध जरूर आ-यगा। अगर यह सम्बन्ध निषिद्ध है तो इन उद्योगों को बन्द किया जाय ? और अगर ऐसे उद्योग चलते रहें तो यह निषिद्ध सम्बन्ध निभाया कैसे जाय ? क्या इस तत्त्व की उपस्थिति अन्त में घातक न होगी ?

उत्तर—इस वक्त अगर सब नहीं तो अधिकतर उद्योग ऐसे हैं जिनमें मालिक-मजदूर-सम्बन्ध के बिना काम नहीं चलता। परिस्थिति को देखते हुए यह अनिवार्य मालूम होता है कि वे उद्योग चलें। बेशक कह देने-भर से वे उद्योग सुधर या गिर नहीं सकते। यह भी संदिग्ध है कि आज उन सबको एक चोट में गिराना सम्भव भी हो, तो उचित होगा या नहीं। कपड़े की मिलों को गिरा देने से तुरन्त तो यही परिणाम होगा न कि कपड़े की कमी पड़ जायगी और अपराध-वृत्ति को उत्तेजना मिलने की सम्भावना उससे बढ़ेगी। या विदेशी लोगों की आ बनेगी। इसलिए उपाय यह नहीं है कि आदर्श को एक सैद्धान्तिक घोष बनाकर इन्कलाब से कुछ बात ही न की जाय। यह अधैर्य का परिचायक होगा। कुछ भी करने के लिए धीरज रखना जरूरी है।

फिर क्या किया जाय, यह प्रश्न है। तो यह तो किया ही जा सकता है कि मैं अपने विश्वासों का अपने जीवन में पालन करूँ। जो निषिद्ध है उसका निवारण नहीं कर सकता तो उसके साथ असहयोग तो कर ही सकता हूँ। मिथ्या के प्रति असहयोग का मतलब है, जो मैं सत्य मानता हूँ उसके

प्रति कटिबद्धता। इससे मैं उद्योग के विकास की जो दिशा ठीक समझूँ उस ओर बढ़ चलूँ, जिसका यहाँ अर्थ है कि मैं हाथ का उद्योग आरम्भ कर दूँ। जब स्वयं ऐसा करूँ तब औरों को भी उसके लिए प्रेरित करूँ। जिसको सर्वोदय (=Decentralization of Power) कहा जाय, वह कानून के जोर से नहीं होने वाला। वह तो शिक्षा-संस्कार के बल पर धीरे-धीरे होगा। सच बात यह है कि श्रद्धा अडिग चाहिए और साथ कर्म-तत्परता भी हो।

४—औद्योगिक विकास : शासन-यन्त्र

प्रश्न—क्या राष्ट्रीय अर्थ-तन्त्र (=Economic Nationalism) अनर्गल औद्योगिक विकास के परिणामों को किसी हद तक कम कर सकता है ?

उत्तर—राष्ट्राधीन पूँजी-तन्त्र या आपके Economic Nationalism में जो भाव आता है वह पूँजीवाद के आधार पर बढ़ाये गये औद्यौगिक विकास का विरोधी नहीं है। इटली और जर्मनी, यहाँ तक कि आज के रूस की, या फिर इंग्लैण्ड की अथवा अन्य देशों की भी नीति में क्या एकोनमिक नेशनिलज्म की (=Economic Nationalism की) भावना नहीं है ? लेकिन उससे तो कठिनाइयाँ बढ़ती ही दिखाई दे रहीं हैं। इसलिए यह मानने का अवकाश नहीं है कि उस प्रकार की भावना ऊपर जिस विकीरण की (=Decentralization की) बात कही उसमें मददगार हो सकेगी। बल्कि हालात देखते हुए तो वह बाधा ही है।

प्रश्न—औद्योगिक विकास के साथ ही कलों का उपयोग कृषि-कार्य आदि में भी किया जाने लगा है। क्या इसे प्रोत्साहन देना उचित होगा ?

उत्तर—कल का उपयोग वहाँ तक ठीक है जहाँ तक किसान को जरूरत से अधिक उस पर निर्भर नहीं बन जाना पड़ता। लेकिन अगर मशीन का मतलब यह है कि किसान हर किसी छोटे-बड़े काम के मौके पर एक स्पेशलिस्ट की कृपा का प्रार्थी हो रहता है, तो बुराई है। तब अनायास किसान की मेहनत से खेत में उत्पन्न होने वाले अन्न का स्वामित्व उनके हाथ में जा रहेगा जो कल-कारखानों के मालिक हैं। वे फिर बड़े स्वार्थों के प्रतिनिधि होते हैं। परिणाम यह होगा कि अन्न भूखे के पेट के लिए नहीं बल्कि

राष्ट्रों के राग-द्वेष की आग को तेताए रखने वाले ईंधन के काम में आने लगेगा। बहुत बड़े पैमाने के फार्म मेरे खयाल में तो मानव-सम्बन्धों को शुद्ध बनाने की दृष्टि से आज हिन्दुस्तान की हालत में उपादेय नहीं हैं। वैसे फार्म बिना खूब चुस्त और जटिल मशीनों के चल ही नहीं सकते। साथ ही जहाँ बेढब मशीन आई, वहाँ थोड़ी जमीन से काम भी नहीं चलता। इस तरह, किसी के पास बहुत अधिक जमीन होने से उसे आवश्यक रूप में मशीन सूझती है और जो मशीन पा लेता है उसे बहुत जमीन हथियाने की सूझेगी। इससे राग-द्वेष का चक्कर तीव्र होगा और समाज में विषमता बढ़ेगी। इसलिए यन्त्र भी वैसा ही उपकारी है जिसके चलाने में किसी को मालिक और किसी को दास न बनना पड़े, अर्थात् जिसे एक आदमी सँभाल सके और एक परिवार जिसका पेट भर सके।

प्रश्न—अगर यन्त्र के उपयोग के इस बन्धन को मंजूर कर लिया जाय, तो अवश्य ही खेती में हमें प्रकृति की मेहरबानी पर निर्भर रहना पड़ेगा और हर वर्ष किस्मत को और भगवान् को रिझाने या कोसने के सिवा कोई मार्ग खुला नहीं रहेगा। जब कि हम यह जानते हैं कि यन्त्रों की सहायता से हम परिस्थिति पर काफी नियन्त्रण रख सकते हैं, तो ऐसी स्थिति में या तो प्रकृति के सहारे नैया छोड़ देनी चाहिए या यन्त्रात्मक कृषि से आने वाली इन बुराइयों को मंजूर करना चाहिए। इनमें से कौन-सा मार्ग आप श्रेयस्कर समझते हैं?

उत्तर—नहीं, किसान के हाथ में या तो बड़े ट्रैक्टर ही दें, या नहीं तो उसे भाग्यवादी बना दें कि संकट आने पर वह हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रह जाय : ये ही दो मार्ग हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। मेरा मतलब यह नहीं है कि हम सार्वजनिक सहयोग से कुछ काम कर ही न पायँ। मैं तो यह मानता हूँ कि सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिए सार्वजनिक प्रयोग (=measures) होंगे और सम्मिलित भाव से प्रकृति की अकृपा से लड़ने के लिए उद्योग भी भरपूर होगा। ऊपर महायन्त्र का जो विरोध है उसका आशय केवल

यह है। कि उसे मनुष्य और मनुष्य के बीच बाधा बनकर घुसने न दिया जाय किसान और किसान के परिश्रम के बीच जब कोई बहुत बड़ा यन्त्र आ जाता है, तो वह किसान अपने श्रम का मालिक नहीं रहता, वह लगभग अपने ही परिश्रम का मजदूर बन जाता है। और ऐसा होते ही नाना प्रकार के शोषण की संभावनाएँ समाज में पैदा हो जाती हैं। मेरा आशय है कि श्रमी अपने श्रम का मालिक हो। जो मशीन वह चलाए उसका भी वह मालिक हो। जब मशीन आदमी की मालिक होने लग जाती हैं, और अधिकतर महायन्त्रों के व्यक्तिगत प्रयोग में ऐसी ही स्थिति हो जाती है,—तब मशीन मानवी न होकर दानवी हो जाती है। मैं यह नहीं समझ पाता कि श्रमी और उसके श्रम के बीच किसी भीमाकृति यन्त्र को न लाने से प्राकृतिक असुविधाओं का मुकाबिला करने की आदमी की सामर्थ्य किस तरह कम हो जाती है ? बल्कि इस तरह तो वह सामर्थ्य बढ़ ही जायगी। पानी को स्वच्छ करने वाली मशीन का कौन विरोध करता है ? ऐसे ही नहरें भी बनाई जायँगी, और भी इस तरह के सार्वजनिक हित के सब काम होंगे जिनमें बड़े यन्त्र जरूरी होंगे। किन्तु श्रमी का श्रम उससे न छिन पायगा।

प्रश्न—सार्वजनिक सहयोग की बात आपने कही लेकिन इस बात की सफलता में मुझे बहुत सन्देह है। क्या यह अच्छा न होगा कि जमीन हर एक किसान की हो, जो यन्त्र स्वयं चला सके और जिनसे उसे लाभ हो सकता है उनका वह उपयोग करे और सार्वजनिक हित की योजनाएँ हों वे सब सरकार द्वारा संचालित की जायँ। इसमें फिर नौकर और मालिक का सम्बन्ध आयगा; लेकिन, राज्य का नौकर होना तो बुरी बात नहीं है। और अगर मालिक-नौकर का सम्बन्ध अन्य सब क्षेत्रों से निकल भी जाय, तो भी राज्य के नौकर तो जरूर ही होंगे। वे तो न निकाले जा सकेंगे ?

उत्तर—स्टेट अपने-आप में तो कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है न ? वह सब की है और किसी की नहीं है। इसलिए यह तो आ ही जाता है कि जब

तक लोगों में सार्वजनिक हित को अपना हित मानने और तदर्थ परस्पर सहयोग भाव से मिलने की सहज वृत्ति न हो जाय, तब तक स्टेट नामक संस्था को वैसा सहयोग संगठित करना होगा। यह बात ठीक है कि सार्वजनिक सेवक राज्य-कर्मचारी ही हो सकता है। उससे भी ज्यादा यह ठीक है कि असल में प्रत्येक राज्य-कर्मचारी प्रजा-सेवक ही है। राज्य का पैसा प्रजा ही का पैसा है। इसलिए स्टेट का नौकर होने का अर्थ तो, सच पूछा जाय, जनसेवक होना ही है। इसलिए वह गलत भी नहीं है। पर ऐसा होता नहीं है, अथवा बहुत कम होता है। राज्य-कर्मचारी अपने को अफसर का नौकर और प्रजा का अफसर मानते हैं,—जैसे प्रजा से भिन्न भी राज्य की कोई सत्ता हो! असल में तो स्टेट, जो शासन सब के अन्दर होना चाहिए किन्तु नहीं है, उसी का बाहरी रूप है। भीतर का शासन ज्यों-ज्यों जागता जायगा, त्यों-त्यों ही बाहर का तन्त्रीय शासन, यानी स्टेट, व्यर्थ पड़कर निश्शेष होता जायगा।

प्रश्न—राज्य के नौकर होने में आप कोई गलती नहीं मानते। अफसरी मनोवृत्ति जो नौकरशाही में होती है उसी को आप अनुचित मानते हैं। फिर क्या नागरिक-शिक्षा का ठीक-ठीक प्रचार होने से एक राष्ट्र में ऐसे राज्य के नौकर नहीं बन सकते जो अपने को जनसेवक मानें?

उत्तर—क्यों नहीं बन सकते? जरूर बन सकते हैं। और वैसी कोशिश होती रहनी चाहिए।

प्रश्न—फिर राज्य के हाथ सब उद्योगों का स्वामित्व होने में आपको क्या आपत्ति है?

उत्तर—उसमें खराबी यही मुझ को दीखती है कि उद्योग केन्द्रित होने की ओर झुकेंगे। केन्द्रित न हों तो स्टेट के हाथ में उद्योगों के रहने का कोई अर्थ ही नहीं है। उद्योग केन्द्रित हो जायँगे तो उनकी उपज और खपत में फासला बढ़ेगा जिसको भरने के लिए बिच-भइयों की (middle men की) जमात खड़ी होगी। मिडिलमैन का श्रम-उत्पादक श्रम नहीं

होता, फिर भी वस्तु के मूल्य पर उस व्यापारी के मुनाफे के हिस्से का काफी बोझ पड़ता है। साथ ही उत्पादन और खपत में जब फासला बढ़ने लगता है तब और प्रकार के शोषण भी शुरू होने लगते हैं। मिल-मालिकों का सार्वजनिक हित से अलग कुछ विशिष्ट ही स्वार्थ होने लग जाता है। जरूरतमन्द की जरूरतें पूरी करने में नहीं, बल्कि उनको बढ़ाने में उन्हें अपना स्वार्थ दीखने लगता है। वे जनता का हित नहीं देखते, पूँजी का हित देखते हैं। केन्द्रित उद्योग से मानव और मानव के बीच के शोषण के सम्बन्ध को मजबूत ही बनाया जा सकता है। स्टेट के हाथ में उद्योग दे देने से यह समस्या कहाँ हल होती है? तिस पर दुनिया अभी राष्ट्रों में विभक्त है। वह समूची एक स्टेट तो है नहीं। इस तरह मशीन से बहुत माल तैयार करने वाली स्टेट जरूरी तौर पर उस माल को खपाने के लिए मण्डी की जरूरत में हो रहेगी। दूसरे शब्दों में वह आर्थिक दासता उत्पन्न करेगी। उसे उपनिवेश की माँग होगी जहाँ से कच्चा माल उन्हें मिले और जिसके सिर पर पक्का माल थोपा जा सके। और यही क्या साम्राज्यशाही का (=Imperialism का) आरम्भ नहीं है?

प्रश्न—अगर उद्योग स्टेट के हाथ में नहीं, तो वे कुछ इने-गिने पूँजीपतियों के हाथ में होंगे जो अपने पूँजी के बल पर स्टेट को हमेशा दबाये रखेंगे और राष्ट्र को उनके इशारे पर नाचना होगा। क्या यह स्टेट के हाथ में उद्योगों के केन्द्रीकरण से भी अधिक जोखिम की स्थिति नहीं?

उत्तर—हाँ, अगर मशीन के मोह को न छोड़ा गया तो ऐसा होगा ही। पूँजीवाद का अगला परिणाम है स्टेटवाद। वह समाजवाद के (=Socialism के) नाम पर हो, कम्यूनवाद के नाम पर या फ़ासिज़्म के नाम पर, स्टेट-वाद आतंकवाद ही है।

आतंक वहाँ अव्यवस्थित और बचाव का साधन (=Defensive) न रहकर सिद्धान्तगत एवम् सुव्यवस्थित हो जाता है। स्टेट का देव (Diety) युद्ध की पूजा माँगता है। उपाय मुझे एक ही मालूम होता है। वह है

Economic Decentralization अथवा घरेलू उद्योगों का उद्धार।

प्रश्न—इच्छा से हो जाने वाली बात तो यह है नहीं। एक ओर श्रद्धा और दूसरी ओर पूँजी की ताकत : इस विषम मुकाबले में क्या श्रद्धा ठहर सकती है ?

उत्तर—क्यों नहीं ठहर सकती ? पूँजी की ताकत जब बहुत बड़ी दीखती है तब उस ताकत की कमजोरी भी सामने आ जाती रही है। आज क्या दुनिया समस्याओं से परेशान नहीं है ? क्या वह युद्ध के किनारे पर ही नहीं खड़ी है ? युद्ध की भीषणता किससे छिपी है ? हाँ, यह ठीक है कि चोट खाने से पहले सबक सीख लेना मुश्किल है। टूटने से पहले मोह मोहक ही होता है। आज हाथी आदमी के काम आता है। उनमें पहले युद्ध क्या नहीं हुआ होगा और क्या आदमी उस युद्ध में नहीं जीता होगा ? आदमी जिस बल से हाथी से जीत सका और हाथी जिस बल के रहते हुए भी हार सका, अन्त में उन्हीं दोनों बलों का अन्तर ही वहाँ भी पल्ली-शिल्प का सहारा होगा। मशीन का अपना जोर ही उसे ध्वंस तक ले जायगा। इसके माने यह नहीं कि केवल विश्वास की रट से काम चलने वाला है। अभिप्राय यही है कि श्रद्धायुक्त स्वल्पारंभ छोटी चीज नहीं है। बीज गड़ चलना चाहिए और उसको सिंचन मिलना चाहिए। फिर तो दरख्त के बड़े होने में कोई अचरज की बात नहीं है। यह आक्षेप कि बीज छोटा है वृक्ष की विशालता को रोक नहीं सकता। इसलिए दूसरे को तो अधिकार भी हो कि वह बीज को छोटा माने, स्वयं बीज को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने को क्षुद्र माने। उसे मुँह दाबकर धरती में पैठ जाना चाहिए, ऊपर-ऊपर रहकर तो बिलकुल सम्भव है कि वह अपने को छोटा अनुभव कर उठे, और इसी सोच में सूख जाय। लेकिन विश्वासपूर्वक अपने-आपको गाड़ लेने पर वह अगर एक दिन नष्ट भी होगा, तो वृक्ष के मूल को तो उपजा चुका होगा।

दैत्याकार मशीन के भेद को जो समझता है वह उससे डरता नहीं है। हर मशीन की एक कल रहती है, वहीं वह कमजोर है। जिसने उसको

समझा वह मशीन का स्वयं चालक हो जाता है। आकार के लिहाज से तो मशीन दैत्य है ही, और हजारों को बेलाग पीस डाल सकती है। पर जिन्होंने उसका भेद पकड़ा है उनके आगे वह निरी बेबस हो रहती है। इसलिए मशीन के भेद को पाकर उसके आकारके मोह को छोड़ देना चाहिए।

घरेलू उद्योग में मशीन के तत्त्व का उपयोग निषिद्ध नहीं है। सिर्फ दैत्याकारता का (Mass production का) ही विरोध किया जाता है।

प्रश्न—श्रद्धा और पूँजी की ताकत के बीच के द्वन्द्व को आपने मनुष्य और हाथी के युद्ध की उपमा दी है। तो क्या यह स्पष्ट नहीं है कि मनुष्य हाथी से हिंसा के बल पर ही जीत पाता है? हाँ, यह हो सकता है कि उसकी हिंसा में कुशलता भी होती है, जो क्या और भी अधिक खतरनाक नहीं कही जानी चाहिए?

उत्तर—हिंसा के बल पर आदमी हाथी से विजय पा जाता है, यह कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि बस चले तो क्या हाथी आदमी को बिना चीरे छोड़ देगा? हिंसा के लिहाज से हाथी को हीन नहीं कहा जा सकता है। अगर वह कम है तो हिंसा की शक्ति में कम नहीं है। मेरे खयाल में हाथी की हार और आदमी की जीत इसमें है कि हाथी का बल स्थूल है, आदमी का बल वैसा स्थूल नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि मशीन का (अर्थात् पूँजी का) बल स्थूल है। इससे प्रेम के बल के आगे वह हारा ही रखा है। प्रेम के माने हैं सहयोग। घरेलू उद्योग सहयोग-द्वारा बड़ी-से-बड़ी मशीन को मात कर सकते हैं। जापान की औद्योगिक सफलता का एक राज यह भी है कि मशीन से तो उसने काम लिया, लेकिन उसमें घरेलूपन को निबाहा। इससे श्रम की कीमत (Labour) वहाँ मँहगी नहीं हुई और उस श्रम की समस्या भी उतनी विषम नहीं हुई। इसीलिए सस्तेपन में वह सब देशों को मात कर सका। घरेलू उद्योग में जिस बल का बीज मैं देखता हूँ वह यही है। उसमें सबका पारस्परिक सम्पर्क बना रहता है और बढ़ता है, और परस्पर के हित विरोधी न

बनकर बहुत कुछ एकत्रित होते जाते हैं। वह बल बृहदाकार मशीन में (=Large Scale Production में) नहीं है। उससे परस्पर का सद्भाव कम होता है और स्पर्धा के बीज बोये जाते हैं। उसमें विनाश (=Disintegration) छिपा हुआ है। मशीन का वह बल भी अबल है, जैसे कि हाथी की देह का डील ही उसका अबल हो जाता है।

मशीन की सफलता भी तो तभी दीखती है कि जब सैकड़ों हजारों आदमी एकत्रित भाव से वहाँ काम करते हैं। मैं यही कहना चाहता हूँ कि वह हजारों आदमियों का एकत्रित भाव वहाँ सजीव नहीं हो पाता। वे रहते तो पास-पास हैं, पर मन उनके आपस में फटे रहते हैं। इतना ही नहीं, वे भीतर से एक-दूसरे की काट में रहते हैं। मेरा कहना यह है कि मनुष्यों में वैसी स्थूल एकत्रता हो चाहे न हो, पर उनमें सजीव ऐक्य होना चाहिए। कृत्रिम एकत्रता के बल से हार्दिक ऐक्य का बल हर लिहाज से प्रबल दिखलाई देगा, इसमें मुझे रंचमात्र शंका नहीं है। इस भाँति घरेलू उद्योग से उत्पादन के कम हो जाने की आशंका भी नहीं रहती। और सच यह है कि व्यर्थ उत्पादन अगर कम हो जाय तो इससे संस्कृति और सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान का भला ही होगा। क्योंकि मानवता की व्यर्थ उत्पादन के काम से बची हुई शक्ति ज्ञान और विज्ञान की साधना में लगेगी। समस्याएँ हमारी कम होंगी और मालूमात बढ़ेंगी।

प्रश्न—अगर केन्द्रित थोक उत्पादन को (=Centralised mass Production को) आप त्याज्य मानते हैं तो विज्ञान के लिए क्या अवसर (=Scope) रह जाता है?

उत्तर—विज्ञान पूँजी के जूए से खुल जाने पर निकम्मा और आवारा हो जायगा, ऐसी आशंका करना विज्ञान का अपमान करना है। आशा करनी चाहिए कि विज्ञान अपने को इससे ज्यादा जानता है। वैज्ञानिक अपने योग्य करने के काम को पूँजीपतियों से और डिक्टेटरों से पायँगे नहीं तो वे बेकार रहेंगे, ऐसा समझना मानो वैश्य को ब्राह्मण के ब्रह्मज्ञान का मालिक बना देना है। इस भय का कोई कारण नहीं है। और अगर आज

विद्यागुरु ब्राह्मण वैश्य का आश्रित बना हुआ है तो यह स्थिति अप्राकृतिक है। ज्ञान-विज्ञान राष्ट्रों की लड़ाई को अधिकाधिक बीभत्स बनाने के अलावा और किसी दूसरे काम में आ नहीं सकते, यह माना नहीं जा सकता। अभी वे स्वार्थ-साधन के काम में आते हैं, तब वे सत्य की सेवा और सर्वोदय के लिए युक्त होंगे। मुझे तो मालूम होता है कि सत्य की ओर मनुष्य जाति की प्रगति औद्योगिक समस्याओं के निपटारे पर और भी बन्धन-मुक्त होगी और वैज्ञानिकता पूँजीगत व्यवसाय की चेरी न होकर कला की भाँति स्वाधीन होगी।

प्रश्न—मेरा मतलब यह था कि वैज्ञानिकों का यह कर्तव्य है कि अपने शोध-कार्य से वह अधिक लोगों की सेवा करें। अर्थात् विज्ञान का उपयोग यदि मानव-जाति को देना है तो उसे स्वयं थोक उत्पादन (= mass Production) के तरीके की ही शरण लेनी होगी। अगर यह न हुआ तो वैज्ञानिक जो कार्य करेंगे उनसे किसी को कोई लाभ न होगा और अन्त में उनके सामने आर्थिक दृष्टि से संकट आ जाने से उनका कार्य असम्भव हो जायगा। क्या यह एक विषम-चक्र (= Vicious circle) ही नहीं है ?

उत्तर—जिस थोक उत्पादन को (= mass Production को) रोकने की बात कही वह वही है जिसके निमित्त से दो समूहों, वर्गों अथवा देशों में शोषण का सम्बन्ध बनता है। अर्थात् जिसके लिए बाजार पाने का सवाल होता है और फिर तनातनी चल निकलती है। यानी जिन बड़े उद्योगों का हेतु व्यवसाय है, पूँजी का बढ़ाना है, ऊपर की बात उन उद्योगों के अर्थात् व्यवसाय-वाद के विरुद्ध है।

कल्पना यह नहीं है कि एक अकेला आदमी ही खुर्दबीन (= microscope) बनाए और वह किसी कारखाने में न बने। मेरा खयाल है कि माइक्रोस्कोप इतने बनें कि वह हर छोटी-बड़ी शिक्षा-संस्था के लिए सुलभ हो जायँ तो अच्छी ही बात होगी। इस तरह ज्ञान-विज्ञान के उपादानों के उत्पादन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगना चाहिए। प्रत्युत उनको तो

और प्रोत्साहन ही मिलना चाहिए। उनके थोक उत्पादन की जरूरत तो और अधिक ही होगी। प्रश्न तो Industrial large scale Production अर्थात् व्यावसायिक उद्योगों का है। उसका तो विस्तृतीकरण (=Decentralization) ही एक उपाय है।

प्रश्न—आप केन्द्रहीनता को (Decentralization को) इसका एक ही उपाय मानते हैं। साथ ही आप यह भी चाहते हैं कि सांस्कृतिक केन्द्रीयता भी आवे। मैं इन बातों को परस्पर-विरोधी समझता हूँ। क्या यह सच नहीं है कि व्यावसायिक केन्द्रीकरण के अभाव में, संस्कृति की भी आज जो केन्द्रीयता की ओर प्रवृत्ति है वह भी जाती रहेगी?

उत्तर—मैं वैसा नहीं समझता। बल्कि उससे उल्टा समझता हूँ। बड़े उद्योगों के कारण जो एकत्रता आई है, वह बिल्कुल ऊपरी है। एक मिल में बीस हजार आदमी काम करते हैं। क्या हम यह समझें कि उन बीस हजार में आपस में कोई कौटुम्बिक भाव की एकता है? वैसा नहीं है। बल्कि उनमें परस्पर मत्सर-ईर्ष्या और नोंच-खींच के भाव रहते हैं। और सच्चा प्रेम दो स्वाधीन व्यक्तियों के बीच में ही सम्भव है। जो एक-दूसरे के अधीन हैं, उनमें सच्चा सौहार्द नहीं हो पाता। इस तरह यदि हार्दिक सद्भाव यानी सांस्कृतिक एकता को सम्भव बनाना है तो वह आर्थिक स्वावलम्बन के आधार पर ही सम्भव बनेगी,—आर्थिक स्वावलम्बन यानी Economic Decentralization।

मन एक चाहिए, तन तो जुदा-जुदा ही रहेंगे। जहाँ देह-सम्पर्क की कामुकता है वहाँ मन के ऐक्य की सम्भावना स्थायी नहीं होती। तन की पवित्रता तन को पर-स्पर्श-हीन रखने में है। मन की भलाई दूसरों के मनों के साथ उसको मिला देने में है।

प्रश्न—आपने कहा कि तन जुदा-जुदा हों, मन एक चाहिए। लेकिन क्या आर्थिक स्वावलम्बन का एक खास परिणाम यह भी न होगा कि हर आदमी के विचार अपने तक ही सीमित रहेंगे? बड़े-

बड़े उद्योगों में (large scale industries में) देश के भिन्न-भिन्न भागों में जो सम्पर्क रहता है और उससे जो सर्वांगीण उन्नति होती है, वह न रहकर लोगों की दृष्टि कूपमंडूक की तरह हो जायगी। फिर मन एक कहाँ रहेंगे ? केन्द्र का नाश चाहने में (Decentralization में) पार्थक्य भावना (Separatist Tendency का) बीज भी तो है। क्या हम उसमें भीषण हानि न देखें ?

उत्तर—बेशक वह खतरा है। हम को उससे आगाह रहना चाहिए। हिन्दुस्तान के इतिहास में वह खतरा और वह हानि काफी साफ नजर आती है। आत्मा-शुद्धि और बाह्य अपरिग्रह के सिद्धान्तों का इस प्रकार आचरण किया गया कि व्यक्ति अपने में गड़ गया और असामाजिक होने लगा। व्यक्तिगत आचरण में अति-शुद्धि की चिन्ता की जाने लगी और छूत-छात तक नौबत आ गई ! उधर तापसी लोग समाज-संपर्क से दूर वन में मोक्ष खोजने पहुँचे। वह एकाकीपन के आदर्श का खतरा, किन्तु, अगर हमें दूसरी अतिशय इकट्ठे-पन की गलती में डाल दे तो इससे भलाई नहीं होगी। दूसरी ओर हम देखते तो हैं कि इकट्ठा-पन (=Concentration) इतना घना होता जा रहा है कि गाँव उजड़ रहे हैं और शहर में आबादी इतनी गिचपिच होती जाती है कि उसमें से तीन चौथाई को हवा और रोशनी अत्याधुनिक वैज्ञानिकता भी काफी नहीं दे पाती।

व्यावसायिक उद्योग के कारण लोग हठात् एक-दूसरे के परिचय में आवे, यहाँ तक तो उसका लाभ ही है। लेकिन जिस भावना से वे एक-दूसरे के पास खिंचे, यानी स्वार्थ की भावना, वह हितकारी नहीं है। सहयोग ठीक है, तनातनी ठीक नहीं है। और जहाँ परस्पर-संयोग किसी सांस्कृतिक भावना को सामने रखकर नहीं होता, वहाँ जल्दी या देर में वह वैर का कारण हो जाता है।

व्यक्ति अकेला बन जाय, दूसरों से सब आदान-प्रदान छोड़ बैठे, यह तनिक भी मेरा अभिप्राय नहीं है। ऐसा करना प्रगति का तिरस्कार करना

होगा। लेकिन तन में तो व्यक्ति अकेला ही रहेगा, तभी सच्चे मन से वह मिल सकेगा। इसलिए अपनी आवश्यकताओं के बारे में वह जितना सूक्ष्म और स्वावलम्बी हो उतना ही उसे मौका है कि वह समाज के प्रति अपना अक्षुण्ण दान कर सके। अकेलापन या आत्म-निर्भरता परम साध्य के तौर पर अपने-आप में इष्ट नहीं है। इष्ट है तो इसी हेतु से है कि वह साधना हमें सेवा के अधिक योग्य बनाती है। अन्त में यदि वह दूसरे के साथ सहयोग करने और उसकी सेवा करने में काम नहीं आती तो ऐसी हमारी आत्मसाधना आडम्बर ही है।

हम एक-दूसरे से दूर जावें, ऐसी बात नहीं है। पर एक-दूसरे के हित को ध्यान में रखकर परस्पर पास आवें, कहने का मतलब यही है। व्यावसायिक हेतु में कल्याण-कामना से नहीं बल्कि मतलब साधने के खयाल से एक-दूसरे को हम जानते-पहचानते हैं। सांस्कृतिक हेतु की यही आवश्यकता है। एक-दूसरे को जानने-पहचानने की आवश्यकता से निवृत्त नहीं हो जाना है। वह तो धर्म है। पर प्रयोजन-सापेक्ष मिलन जल्दी दुर्गन्धित और मलिन हो जाता है। उस मिलने में फटने के कीटाणु रहते हैं।

प्रश्न—तो आप समाज के बीच परस्पर-सम्पर्क अधिक-से-अधिक रहना ठीक समझते हैं। मैं भी समझता हूँ कि यह सम्पर्क अधिक-से-अधिक होना चाहिए। यही नहीं प्रत्येक मनुष्य को, यदि सारा संसार सम्भव न हो, तो, कम-से-कम अपने देश या खण्ड का निरीक्षण करने का मौका जरूर होना चाहिए। इसके लिए आवागमन के तरीके उसको सुलभ होने चाहिएँ। यह काफ़ी खर्च की बात है। जब बड़े-बड़े उद्योग नहीं रह जावेंगे तब तो आवागमन और भी महँगा होगा और आमदनी लोगों की कम होगी। तब क्या यह न होगा कि हज़ार इच्छा होने पर भी सम्पर्क असंभव हो जायगा और हम जो चाहते हैं उसके ठीक विपरीत परिणाम निकलेगा ?

उत्तर—संपर्क व्यापक होना चाहिए, घनिष्ठ भी होना चाहिए। व्याव-

सायिक हेतु को लेकर अब भी जो लोग इधर-उधर काफ़ी घूमते हैं उनका साहस तो खुल जाता हो, लेकिन इससे उनकी सांस्कृतिक पूँजी बढ़ जाती है, यह प्रमाणित होता हुआ नहीं दीखता है। अर्थात् घूमना और विचित्रताओं का निरीक्षण करना उपयोगी है अवश्य, किन्तु वह अनिवार्यतया नैतिकता का साधक नहीं है। जो पिंड में है वही तो ब्रह्माण्ड में है, इसलिए क्षेत्र की दृष्टि से परिमित दायरे में रहना सांस्कृतिक दृष्टि से भी संकुचित बन जाना है, ऐसी बात नहीं है। ईसा के जमाने में आने-जाने के साधन द्रुत-गामी नहीं थे, और जो होंगे भी वे ईसा को उपलब्ध नहीं थे। ईसा का समूचा जीवन परिमित क्षेत्र में ही बीता। लेकिन क्या इस कारण उनके जीवन में अपूर्णता रह सकी? फिर भी घूमना-फिरना मस्तिष्क को विशद करने में साधारणतया उपयोगी ही है। उससे सहानुभूति व्यापक होती है और जी खुलता है।

किन्तु व्यावसायिक बृहद् उद्योगों के अभाव में यातायात के साधन क्यों दुर्लभ हो जाने चाहिएँ, यह मैं नहीं समझ सका। रेल, मोटर, हवाई जहाज, समुद्री जहाज का बनाना निषिद्ध नहीं ठहराया जा रहा है। पर उनके निर्माण की वर्तमान प्रेरणा को बदलने का आग्रह जरूर किया जा रहा है। वह प्रेरणा व्यावसायिक की जगह सांस्कृतिक होनी चाहिए। वैसा यदि सम्भव हो, और अगर आज होने में आ जावे, तो अन्य (पड़ोसी अथवा विदेशी) राज्यों से अपनी रक्षा करने अथवा उन पर आक्रमण करने के लिए सामरिक तैयारी रखने में जो विपुल मानव-शक्ति व्यय की जा रही है, वह सब बच जायगी। अगर लड़ाकू जहाज कुछ कम हुए, टैंक कम हो गए, तोप-गोले ढालने वाले कारखाने घट गए, बड़ी-बड़ी कपड़ों की मिलें कम हो गईं, तो इसका यह आशय कभी नहीं बनता कि सफरी जहाज, रेल, मोटर आदि भी कम हो जायँगे। बल्कि वैसी अवस्था में टेलीफोन क्यों न और भी सुलभ हो आवेंगे, और उसी भाँति रेडियो? मानव-सभ्यता और विज्ञान ने जो सौन्दर्य और सुविधा प्रस्तुत की है, मानवता के ऐक्य के हित में उसका तो प्रयोग किया ही जायगा। लेकिन जो विषफल भी उत्पन्न हो गया है,

उसको खाकर मरने का आग्रह नहीं करना चाहिए। आज कठिनाई यही है कि यातायात के (=Communication के) साधन मुख्यता से सरकारों के सरकारी हित-साधन के विशेष काम में आते हैं। जनता का हित मानो उनसे रुँगे में ही निभता है। विपत्ति यही है और इसी को दूर करने के लिए यह कहा जाता है कि आर्थिक विकीरण (=Decentralization) होना चाहिए जिससे कि व्यावसायिक होड़ा-होड़ी बन्द हो और हम परस्पर मिलकर सांस्कृतिक विज्ञान की बढ़वारी करें।

प्रश्न—उद्योग-व्यवस्था में ये जो कुछ परिवर्तन आप आवश्यक समझते हैं क्या आप उन्हें सम्भव भी मानते हैं? यदि हाँ, तो किस तरह?

उत्तर—सम्भव नहीं मानूँ तो मतलब होगा कि केवल आधे दिल से उन्हें आवश्यक समझता हूँ।

किस तरह? तो उत्तर होगा कि स्वयं प्रारम्भ करके। बड़े व्यावसायिक उद्योग टूटें, इसकी सीधी राह यह है कि मैं नैतिक भावना से कोई भी छोटा-मोटा उद्योग शुरू कर दूँ। मेरी भावना जो कि नैतिक है उस उद्योग को तमाम स्पर्द्धा (=Competition) और अश्रद्धा की झुलस के बीच सूखने न देगी और दूसरे व्यक्तियों को भी उधर खींचेगी। फिर संगठन, व्यवस्था, कौशल आदि अन्य सामाजिक गुण हैं जिनको अपने में जगाकर समर्थ बनाना होगा।

यह आगाही रखनी होगी कि अनीति-बल से (=Compulsion से) काम तनिक न लिया जाय।

प्रश्न—औद्योगिक विकास का अन्तिम तथा आदर्शरूप आप कौन सा मानते हैं? उस स्थिति में मानव-समाज की व्यवस्था में और आज की व्यवस्था में मूलभूत भेद क्या होगा?

उत्तर—मूल भेद यह होगा कि मालिक और मजूर का सम्बन्ध टूटकर पूँजी और श्रम में भाईचारे का और सविवेक सहयोग का सम्बन्ध हो जायगा। सहयोग पर बड़े उद्योग चलेंगे। उसमें एक कुछ काम करेगा तो

दूसरा कुछ और। उनके दायित्वों में विभेद होगा तो थोड़ा-बहुत अधिकारों में भी अन्तर हो जायगा। लेकिन इस सबके होते हुए भी, यानी विषमता होते हुए भी, उनमें सद्भावना अर्थात् समता होगी। देश स्टेट रूप न होकर मानो एक बड़े कुटुम्ब का रूप होगा। कुटुम्ब में छोटे-बड़े होते हैं, वैसे ही देश में भी होने को छोटे-बड़े हो सकेंगे। कुटुम्ब में क्या छोटे-मोटे मन-मुटाव नहीं होते? वे न हों तो जिन्दगी जिन्दगी ही नहीं। लेकिन वह आपस में हल कर लिये जाते हैं। वैसे ही तब उनका साधारण समाधान किसी बाहरी पुलिस और मजिस्ट्रेट की मदद के बिना हो जा सकेगा।

प्रश्न—हम इस ओर आगे बढ़ रहे हैं या नहीं, इसकी परख क्या हो सकती है?

उत्तर—धर्म-भावना और नैतिक-भावना की कमती-बढ़ती ही अवनति और उन्नति की पहचान समझनी चाहिए। मन में हमारे कटुता है तो हम उन्नति नहीं कर रहे हैं। उन्नति अहिंसा द्वारा ही सम्भव है।

प्रश्न—आपने कहा कि देश एक परिवार की तरह होगा जो प्रेम के उसूल पर चलेगा। ऐसी हालत में जो उद्योग आदि होंगे, उनका मालिक कौन होगा? स्टेट न होगी तब ऐसा कौनसा तरीक़ा या संगठन होगा जिससे इस परिवार का कारोबार, प्रेम के उसूल पर ही क्यों न हो, सुनियंत्रित किया जा सके?

उत्तर - मालिक कौन होगा? अगर मैं यह कहूँ कि मालिक कोई नहीं होगा, तो क्या आपको इससे यह प्रतीत हो आता है कि तब सुव्यवस्था ही नहीं हो सकेगी? मान लीजिए, आपस में एक-दूसरे से दूर-दूर रहने वाले कुछ खगोल-विशेषज्ञ विशेष रूप में टेलिस्कोप में दिलचस्पी लेते हैं। अब कुछ ऐसे भी व्यावहारिक लोग हैं जो टेलिस्कोप के बनाने में रसपूर्वक भाग ले सकते हैं। तो मैं यह कह सकता हूँ। कि टेलिस्कोप बनाने के व्यवहारज्ञ लोग मालिक होंगे, और उस टेलिस्कोप के प्रकार के निर्णय करने वाले वैज्ञानिक लोग भी मालिक होंगे। 'मिल्कियत' और 'मालिकी' यह शब्द आज के दिन किसी क़दर खोटे पड़ गये हैं। नहीं, तो सच पूछा जाय तो मैं

क्या अपना भी मालिक हूँ ? क्या मैं ईश्वर को अपना मालिक मानकर स्वयं अपने को साफ़-सुथरा और ईमानदार नहीं रख सकता हूँ ? अगर मैं ऐसा कर सकता हूँ तो बिना किसी एक विशिष्ट व्यक्ति अथवा संस्था में (=State में) मालिकी की भावना को केन्द्रित किये कारखानों का काम क्यों सुचारु रूप से नहीं चल सकेगा, यह समझ में आने योग्य बात नहीं है।

घर का बुजुर्ग क्या अपने घर के भाई-बहिन, बेटे-बेटी, नाती-बहू सबका स्वत्वाधिकारी 'मालिक' कहा जा सकता है ? उस अर्थ में वह मालिक नहीं है। और जिस अर्थ में वह प्रमुख है उस अर्थ में वैसे प्रमुख तो हर समय हर समुदाय में हो ही जावेंगे। उनके लिए, उनके बनाने-मिटाने के लिए, किसी विधान-विशेष की आवश्यकता अनिवार्य तभी तक है जब तक आपसी सद्भाव की बहुत कमी है।

प्रश्न—आज जो भौगोलिक आधार पर संसार का विभक्तीकरण किया गया है क्या वह इस दशा में नहीं रहेगा, यह आप गृहीत-सा मानते हैं ?

उत्तर—जब मानवता उस तल तक उठ जायगी तब तो प्रतीत होता है कि सचमुच राष्ट्र और राष्ट्र में इतना भेद, कि पासपोर्ट जरूरी हो, नहीं रहेगा। नाम-रूप राष्ट्र तो रह ही सकते हैं। जैसे मेरे और आप के अलग-अलग नाम हैं और उन नामों के अलग-अलग होने से सुभीता ही होता है, उन नामों की पृथक्ता के कारण सहसा लड़ाई नहीं हो जाती, वैसे ही हिन्दुस्तान और इंग्लिस्तान ये दोनों भी क्यों न रह सकेंगे ? पर दोनों एक बृहत् परिवार के सदस्य होंगे, हाकिम-महकूम नहीं होंगे।

प्रश्न—जो चित्र आप देख रहे हैं वैसा ही कुछ चित्र साम्यवादी भी अन्त में मानव-जाति का देखते हैं। तो क्या आपको मैं साम्यवादी (=Marxist) कह सकता हूँ ?

उत्तर—अगर वह ऐसा ही चित्र है तो मेरे लिए यह खुशी की बात है। और अगर साम्यवादी मुझे अपनों में का एक समझने लगें तो मुझे आपत्ति न होगी। लेकिन क्या आप कहते हैं कि वैसा है ?

प्रश्न—अंतिम स्थिति तो प्रायः वैसी है परन्तु आपके और उनके मार्ग बिल्कुल उल्टे हैं। इसका कारण यही है कि आपके मानव-समाज के भूत, वर्तमान और भविष्य की ओर देखने के दृष्टिकोण विरोधी हैं।

उत्तर—तो इसके लिए मैं क्या कहूँ?

प्रश्न—यही कि मत-भेद होते हुए दोनों के सहयोग से कार्य करने का कोई तरीका खोजें। क्या ऐसी भी कोई बातें हैं जिनसे यह भी असम्भव हो?

उत्तर—मेरे खयाल में दो सच्चे आदमियों में मतभेद कितने ही हों, फिर भी मेल और सहयोग सम्भव है। यदि वह मेल सम्भव नहीं है तो उनकी सचाई में विकार है।

विचार-भेद तो अलग-अलग बुद्धि रखने के कारण थोड़ा-बहुत अनिवार्य ही है। पर दो व्यक्ति सच्चे हैं, इसका मतलब ही यह है कि सचाई की आवश्यकता के विषय में वे दोनों एकमत हैं, व्यावहारिक सचाई एक है। वह अटूट है, निरपवाद है। वही अहिंसा है।

साम्यवाद, और भी ठीक कहें तो समाजवाद, श्रेणी-विग्रह को बढ़ाना चाहता है। उसी में वह दलित और शोषित का त्राण देखता है।

लेकिन श्रेणी-विग्रह को बढ़ाना अहिंसा के मत को कबूल नहीं हो सकता। शोषित-वर्ग इससे जाहिरा प्रबल और मुक्त होता भी दीखे, लेकिन उस पद्धति से शोषण बन्द नहीं होगा। श्रेणी और श्रेणी के बीच शोषण की सम्भावना रहे ही चली जायगी।

मूल भेद यही मालूम होता है।

प्रश्न—श्रेणी-विग्रह को बढ़ाने की बात यदि फिलहाल छोड़ दी जाय तो क्या आप यह मानते हैं कि वर्तमान औद्योगिक पद्धति में ऐसी श्रेणियाँ बन गई हैं जिनके हित परस्पर-विरोधी हैं?

उत्तर—मैं उनको श्रेणियाँ नहीं कहना चाहूँगा। स्वार्थों में संघर्ष और विरोध हैं ही। कारण स्पष्ट यह कि वे 'स्वार्थ' हैं। लेकिन धनिक की

श्रेणी कोई एक है और निर्धन की श्रेणी कोई दूसरी है, जिनकी कि प्रकृतियाँ ही दो और भिन्न होती हैं, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता है। आदमी आदमी ही है। निर्धन धनी होता है, धनी निर्धन हो जाता है; और दोनों स्थितियों में उसके भीतरी व्यक्तित्व का अन्दाज (= Contents) वही रहता है। पैसे का माप पूरे आदमी को नहीं माप सकता।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो धनिक लोग निर्धनों से प्रेम का व्यवहार क्यों नहीं करते? साधारणतः तो यह देखा जाता है कि धनिक होते ही साधारण व्यक्ति का रुख भी बदल जाता है। वह निर्धन को नीची निगाह से देखने लगता है। क्या यह सच नहीं है कि आज मनुष्य का मूल्य उसके धन से ही आँका जाता है? ऐसा क्यों?

उत्तर—आज यह बहुत-कुछ सच और सम्भव बना डाला गया है। आजकल आदमी की कीमत पैसे के तोल में ही की जाती है। इसी कारण ऐसा है कि धनवान् निर्धन को हीन समझता है और निर्धन भी अपने को नीचा मानने लग जाता है। लेकिन आज जो निर्धन है वह कभी धनवान् बन जाय तो वह भी उसी तरह व्यवहार करने लगेगा। आदमी में अहंकार का बीज है ही। वह धन का, कुल का, पढ़ाई-लिखाई का सहारा पाकर फूल आता है। ऐसे भी आदमी देखने में आये हैं जिनके पास सम्पत्ति नहीं है, लेकिन जिन्हें आत्म-विश्वास है और जो दबंग हैं। इसी तरह सम्पत्ति वाले लोगों में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिनमें रीढ है ही नहीं और जो व्यवहार में निम्न दीखते हैं। इसलिए ससार में एक-दूसरे के स्वार्थों का निरन्तर संघर्ष मानते हुए भी मानवता में कोई निश्चित श्रेणियाँ मानना कठिन होता है। मानें भी तो गुण और वृत्ति की अपेक्षा उन श्रेणियों को मानना समुचित मालूम होता है, अर्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे हिन्दू-संस्कृति का चातुर्वर्ण्य। यों तो मानवता एक और इकट्ठी नहीं दीखने में आती, उसमें विभाग और छोटे-बड़े सम्प्रदाय-समुदाय देखे ही जाते हैं। अनेकानेक बातें हैं जो उन्हें उस तरह विभक्त करती हैं। समाजवाद की श्रेणियों

सम्बन्धी धारणा का अभिप्राय यह है कि आर्थिक विभाजन ही एक और मूल विभाजन है। मुझे वैसा नहीं दीखता। अन्य अनेक तत्त्व हैं जो समुदायों को बनाते हैं और उनको अलग करते हैं। फिर विभाजन की प्रवृत्ति मूलतः अहंकार में से आती है। वह अहंकार अपने को नाना निमित्तों से व्यक्त करता है। वैश्य युग में (औद्योगिक या industrialized युग में) पैसे को अधिक महत्त्व मिल जाने के कारण पैसा मानवीय अहं-बुद्धि और स्पर्धा का प्रतीक-सा बना दीखता है। इसको रोकने का उपाय है अपने व्यावहारिक जीवन में पैसे को उचित से अधिक महत्त्व न देना। यह सीखने की आवश्यकता है।

आर्थिक विभाजन को मन में गहरे बैठाने से व्याधि भी गहरी होगी। वह इस तरह दूर नहीं होगी। क्योंकि जाने-अनजाने इस भाँति पैसे का महत्त्व मन में बढ़ेगा ही।

५—समाज के 'वाद

प्रश्न—धनिक और निर्धन इन दो श्रेणियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मालिक और नौकर के रूप में आता है। और आप पहले कह चुके हैं कि यह सम्बन्ध दूर होना चाहिए। सम्यवादी लोग श्रेणी-विग्रह का आधार लेकर अपने तरीके से यह करना चाहते हैं। इसमें अहिंसा के सिद्धान्त का विरोध है। आप अहिंसा के सिद्धान्त को सुरक्षित रखते हुए मालिक-मजूर-सम्बन्ध को मिटाने का कौन-सा उपाय सम्भव मानते हैं ?

उत्तर—मालिक और नौकर का सम्बन्ध भावनाश्रित है। धन का होना-न-होना परिस्थितिगत है। भावना परिस्थिति से कोई बिलकुल अलग चीज नहीं है। इसी दृष्टि से अर्थ का विषम विभाजन विचारणीय विषय बनता है और उसी कारण उस विभाजन में यथासाध्य समता लाने का प्रयत्न करना चाहिए, लेकिन ध्यान रहे कि मूल प्रश्न मानव-सम्बन्धों के स्वच्छ करने का है प्रश्न यह नहीं है कि मेरे पास कितना है अथवा दूसरे के पास कितना है। प्रश्न यह है कि हममें परस्पर सद्भावना है कि नहीं। एक-दूसरे की आर्थिक-स्थिति में बहुत विषमता होने पर वैसी सद्भावना की सम्भावना कम हो जाती है इसीसे वह बात बार-बार सोचनी पड़ती है। अतः आवश्यक है कि हम आरम्भ से ही मूल बात को पकड़ें तथा व्यक्तिगत व्यवहार में दूसरे के साथ अप्रेम-सम्बन्ध को हम वर्जनीय ठहराकर चलें। किसी के मालिक स्वयं अपने को न समझें, न किसी के गुलाम बनकर दूसरे को ऐसा समझने का मौका दें। मैं समझता हूँ कि अगर प्रश्न सचमुच आपसी व्यवहार में एकता और हित-भावना के प्रचार का है, तो यही पद्धति उसके समाधान की हो सकती है कि हम उस एकता और हित-भावना को आज से ही अपना मन्त्र

बना लें। अन्यथा मालिक कहे जाने वाले आदमी का धन छीन कर गुलाम कहे जाने वाले आदमियों में बराबर बाँट देने से सब मामला सुलझ जायगा, यह समझना भूल है। आदमी की हविस और उसका प्रमाद फिर वैसी विषमता पैदा कर देंगे। असल में अर्थ-विभाजन पर अत्यधिक ध्यान रखने से तो उस अर्थ का मूल्य बढ़ेगा और उसके कारण रोग भी बढ़ता हुआ दिखाई देगा। बाहरी समता लक्ष्य यदि हमारा हो भी, तो इसी हेतु से वह हो सकता है कि उस तरह से लोग आपस में द्वेष-भाव रखने से बचें। वह द्वेष-भाव कम नहीं होता है, तो ऊपर समता हुई-न-हुई एक-सी है। अगर वैसी समता किसी बाहरी कानून से लाद भी दी गई तो वह टिक नहीं सकेगी और बहुत जल्दी पहले से भी अधिक घोर विषमताओं को जन्म दे बैठेगी।

समाजवादी का ध्यान फल की ओर है, बीज बोने की ओर नहीं। कार्य की ओर है, कारण की ओर उसका ध्यान कम है। फल प्रेम का चाहते हैं तो बीज भी तो प्रेम का ही बोना होगा। फलासक्ति बीज की ओर से असावधान हमें कर दे, तो यह दुर्भाग्य की बात है।

प्रश्न—आप कहते हैं कि समाजवादी का मूल कारण पर ध्यान नहीं है। लेकिन असल बात तो यह है कि उसने मानव-जाति के इतिहास की खोज और विश्लेषण करके ही अपना निष्कर्ष निकाला है और उसी के आधार पर समाजवाद की रचना की है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि मूल कारण पर उसका ध्यान नहीं है?

उत्तर—शायद मैं ग़लत शब्द कह गया। यह अभिप्राय नहीं है कि उन्होंने उस ओर कम प्रयत्न किया है। बुद्धि जो कह सकती थी वह उन्होंने कहा और जहाँ वह पहुँच सकती थी वहाँ तक वे पहुँचे। यह भी न कहा जा सकेगा कि वे विचक्षण विचारक लोग अपने बारे में ईमानदार नहीं थे। फिर भी ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने अपने और अपनी बुद्धि के ऊपर बहुत भरोसा कर लिया। बुद्धि हमें सब-कुछ तो नहीं दे सकती। बुद्धि पर एक धर्म लागू है। प्रेम वही धर्म है। जो बुद्धि उस प्रेम को बिना माने चले

वह फिर समाज का कल्याण कैसे साध सकेगी, यह समझने में मुझे कठिनता होती है। क्योंकि जहाँ समाज का प्रश्न आया, वहाँ तो व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों का प्रश्न ही आ गया। वे सम्बन्ध मेल और सहचार के ही हो सकते हैं,—यदि वे अन्यथा होंगे तो उन्हें समाज-कल्याण नहीं कहा जा सकेगा।

जहाँ यह कहा गया कि समाजवाद मूल कारण की ओर देखने से रह गया है वहाँ कुछ और मतलब नहीं है। मतलब यही है कि उन्होंने बुद्धि के हाथ में लगाम देकर कदाचित् हृदय की कोई बात नहीं सुनी। कि बुद्धि-ही-बुद्धि तो नहीं है। हृदय भी तो वह है। और कौन जानता है कि बुद्धि जाने-अनजाने हृदय के वश में नहीं रहती? इसलिए हृदय-शुद्धि और हृदय-परिवर्तन गौण बातें नहीं हैं।

सामाजिक रोग के निदान पाने की समाजवादी की चेष्टा में यत्न की कमी नहीं है। तल्लीनता की भी कमी नहीं होगी। किन्तु हृदय को बाद देकर ऐसी चेष्टा क्या समीचीन समाधान तक पहुँच सकेगी? हृदय से उच्छिन्न होकर बुद्धि क्या भ्रान्त न हो रहेगी।

यह ठीक है कि मनुष्य कोरा और निरा हृदय भी नहीं है। बुद्धि अतीव उपयोगी है। इसलिए यह नहीं कि समाज की ओर विमुख होकर हृदय-शुद्धि के लिए एकान्त जंगल में चले जाने से काम हो जायगा। लेकिन इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जंगल में के संस्पर्श से हो, अथवा कि किसी साधना से हो, हृदय को द्वेष-हीन तो बनाना ही होगा। अन्यथा तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण बुद्धि-प्रयोग द्वारा भी हमारा अथवा समाज का विशेष उपकार हो सकेगा, इसमें भारी सन्देह है।

प्रश्न—इसका मतलब तो यह होता है कि आप समाजवाद और समाजवादियों को निरे बुद्धिवादी या बुद्धि के आश्रित मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे स्वयं भी ऐसा ही कहते हैं। परन्तु क्या हम यह नहीं देखते कि उनके सब कार्यों के मूल में भी महती श्रद्धा है? क्या बिना इस श्रद्धा के वे जो-कुछ कर चुके हैं और कर रहे हैं, वह सम्भव होता?

उत्तर—श्रद्धा तो है। श्रद्धा बिना तर्क अपना मुँह तक नहीं खोल सकता। और समाजवाद के निमित्त तो अनेकों ने उज्ज्वल कर्मण्यता के प्रमाण दिये हैं। वह श्रद्धा के ही नहीं, तो किसके प्रमाण हैं? जहाँ शक्ति है वहाँ श्रद्धा तो है ही।

फिर भी वे अपने को बुद्धिवादी कहते हैं, यह बात निरर्थक नहीं है। वह अर्थ रखती है। और उसी अर्थ से मैं सहमत नहीं हो सकता।

ऊपर जो कहा गया उसका आशय यह नहीं था कि उनमें श्रद्धा-हीनता थी। आशय इतना ही था कि उन्होंने भौतिक परिस्थिति को इतनी प्रधानता दी कि व्यक्ति की भावना को ओझल ही कर दिया। मेरी दृष्टि में भावना उतनी अप्रधान वस्तु नहीं है।

यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने श्रद्धा अपने ऊपर रखी। अपने ऊपर, यानी बुद्धि के नीचे। श्रद्धा अपने से किसी महत्तत्त्व के प्रति नहीं रखी। वैसी श्रद्धा अपने से भी बड़ी हो जाती है, उसमें अपना अहंकार खो जाता है। अन्यथा तो वह श्रद्धा (?) अहंकार-जनित हो सकती है।

मेरा खयाल है कि सामाजिक प्राणी की हैसियत से अहिंसा मानवता का एक ऐसा धर्म है, ऐसी मर्यादा है कि उसका उल्लंघन लाख तर्क-प्रेरणा होने पर भी नहीं किया जा सकता। यानी, नहीं करना चाहिए।

क्या वहाँ इस अहिंसा-धर्म और उस धर्म-मर्यादा का ध्यान पर्याप्त रहा? नहीं रहा तो क्यों नहीं कहा जा सकता कि वह श्रद्धा अहंकारिणी थी?

प्रश्न—हिंसा का जो आक्षेप समाजवादियों के खिलाफ किया जाता है, उसका ऐतिहासिक आधार बिलकुल कच्चा है। उनका कार्य प्रत्यक्ष स्थिति की कठिनाइयों को देखते हुए जितना अहिंसक हो सकता था, उतना रहा। विरोध में हिंसा का बल प्रधान बल होते हुए इससे अधिक अहिंसकता की क्या उम्मीद की जा सकती है? अगर वे कभी हिंसावादी दिखाई दिये तो वह उनकी आत्म-रक्षा-मात्र थी।

उत्तर—यह जानकर मुझे बहुत खुशी है। और यही मैं भी कहना

चाहता हूँ कि जो सफलता समाजवाद को मिली, वह 'वाद' को तनिक भी नहीं मिली। वह सफलता तो समाजवादियों के उत्सर्ग-भरे अहिंसक व्यवहार को ही मिली। जिस अंश में समाजवादियों ने अपने को सचाई के साथ विसर्जित किया, समाज में प्रेम विकीर्ण किया और त्याग की भावना जगाई ठीक उतने ही अंश में उनके प्रयत्न फलप्रद हो सके। उसके आगे जाकर जहाँ 'वाद' का हठ था वहाँ उन्हें हार ही हुई, अर्थात् उल्टा फल सामने आया। समाज के कल्याण के दृश्य के भीतर से आँखों के सामने अकल्याण भी फूटता हुआ दीख आया। तब यह क्यों न कहा जाय कि असल में तो हिंसा-वादियों की मार्फत भी अहिंसा का सिद्धान्त ही प्रकट हुआ? उनका मन्तव्य जो हो, उनके अहिंसक आचरण का सुफल निकला और जहाँ आचरण में भी हिंसा की गन्ध आ गई वहाँ ही विष-फल प्रकट हो आया।

प्रश्न—आप कहते हैं कि सफलता उस 'वाद' को नहीं मिली। उस 'वाद' का सबसे प्रमुख सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति-मात्र को एक आवश्यक न्यूनतम (=Minimum) निर्वाह-साधन प्राप्त होने में तथा अपनी योग्यता सिद्ध करने का मौका मिलने में कोई बाधा न हो। इस प्रकार की समाज-रचना करने में वे सफल हो रहे हैं, यह बात मानने के लिए काफ़ी आधार है। फिर कैसे यह कहा जाय कि उस 'वाद' को सफलता नहीं मिली?

उत्तर—सफलता 'वाद' को मिलती ही नहीं है। किसी भी 'वाद' को नहीं मिलती। लेकिन प्रत्येक 'वाद' के भीतर जो एक सचाई की धारा रहती है उसके कारण ही जो सफलता मिलती दिखाई देती है वह मिलती है। अगर ऐसा न हो और सफलता 'वाद' की मानी जावे तो अन्य 'वादों' की उत्पत्ति कभी न हो और कोई 'वाद' पुराना पड़कर जीर्ण न हो जावे। आज अगर मुसोलिनी या हिटलर अपने-अपने देशों में सर्व-प्रधान बने हुए हैं तो क्या यह कहना होगा कि फासिज्म-नाजीज़्म के सिद्धान्तों की शाश्वत सचाई और सफलता का यह प्रमाण है? मान भी लें कि वह उन 'वादों' की सफलता है, लेकिन क्या फिर यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें स्थायित्व है?

फिर जो स्थायी नहीं, वह सफलता भी क्या है? व्यक्ति की जरूरतें पूरी होने और उसकी योग्यता विकसित होने के मार्ग की सब बाधाएँ समाजवादी-विधान द्वारा शासित देश में हट गई हैं: क्या सचमुच ऐसा प्रमाणित होने में आया है? सोवियट रूस का प्रत्यक्ष परिचय मुझे नहीं है, लेकिन वहाँ के जो मनोमालिन्य की खबरें आती हैं, क्या वे बिल्कुल निराधार हैं? अगर थोड़ी भी उनमें सचाई है तो यह मानने का कारण नहीं रहता कि वहाँ व्यक्ति और स्टेट में, अर्थात् व्यक्ति और समाज में, संघर्ष न्यूनतम अवस्था तक पहुँच गया है।

सब को काफी खाने-पहनने को मिल जाता है इसका प्रमाण अंक-तालिका (=Statistics) काफी नहीं है। उसके बाद खाने-पहनने जितनी ही व्यक्ति की माँग नहीं है। समाज का जीवित ऐक्य और सन्तोष ही इस बात का प्रमाण हो सकता है कि व्यक्ति समर्पित है। क्या आप कहते हैं कि समाजवादी रूस के समाज में वैसी एकता और सद्भावना है?

प्रश्न—इसके लिए तो वहाँ से आने-जाने वाले यात्रियों की रिपोर्टें ही प्रायः एक-मात्र आधार हैं। उनसे तो यही पता चलता है कि एकता और सद्भावना बढ़ती जा रही है। समाज की आर्थिक स्थिति दिनों-दिन अच्छी हो रही है। उतनी विषमता उसमें नहीं है जितनी अन्यत्र है। पैसे को वह महत्त्व नहीं है जो अन्य देशों में है। तो क्या इससे यह नहीं कहा जा सकता कि स्थिति में सुधार हो रहा है?

उत्तर—मैं कौन कहने वाला हूँ कि सुधार नहीं हो रहा है? कहना तो यही है कि अमुक सिस्टम में सफलता नहीं है,—सफलता मानव-सम्बन्धों की स्वच्छता में है। सिस्टम की सफलता अथवा असफलता उसी माप से मापी जायगी। और आज जो सफल मालूम होता है, कल वह असफल नहीं होगा, ऐसा कहना इतिहास को देखते हुए खतरनाक है।

प्रश्न—तो फिर 'वाद' यानी किसी सिस्टम पर सोचने में शक्ति लगाना व्यर्थ है? सद्भाव से हम प्रेरित हों और एक-दूसरे

के प्रति प्रेम का व्यवहार रक्खें, यह काफी है ?

उत्तर—बुद्धि मिली है तो उसका अनुपयोग इष्ट नहीं है। बुद्धि कुछ-न-कुछ सोचेगी जरूर ही। इसलिए एकदम हर 'वाद' से छुट्टी नहीं हो सकती। कहना यही है कि अमुक 'वाद' किन्हीं परिस्थितियों की एक विशिष्ट आवश्यकता और भावना-धारा का प्रतीक है। वह एक (बुद्धि) प्रयोग है। उससे लाभ उठाना चाहिए, उसमें बन्द नहीं हो जाना चाहिए। परिस्थितियाँ सदैव बदलती रहती हैं। कर्म और कर्म-चिन्तन परिस्थितियों के अनुकूल होगा। चिन्तना-कल्पना यों तो सदा वर्तमान से आगे की ओर बढ़ती है। वह सीमा में सीमित नहीं रहती। इससे तत्त्व-चिन्ता यदि हो ही तो फिर वह अज्ञेय-सत्य (ईश्वर) सम्बन्धी होनी चाहिए। हाँ, कर्म-चिन्ता का सम्बन्ध तो वर्तमान से अवश्यंभावी है। वैसा न होने से हवाई महल (=Utopia) बहुत से खड़े हो जायँगे। विवाद भी बहुतेरा उठ खड़ा होगा, पर गति विशेष न होगी।

इसलिए जहाँ कर्म और कर्म-निर्णय का प्रश्न है वहाँ स्वधर्म की अपेक्षा उसको हल करना चाहिए। नहीं तो परिणाम यह होगा कि लोग अनधिकृत बातें कहने लगेंगे, दो किताब पढ़कर बच्चा खुद गुरु को शिक्षा देना चाहने लगेगा। इसीलिए अपनी मर्यादा और अपने धर्म की रक्षा की बात कही जाती है।

ऐक्य-विमुख ज्ञान और कर्म-व्यर्थ होता है। वैसा ज्ञान परिग्रह है और वैसा कर्म बन्धन।

६–मार्क्स और अन्य

प्रश्न—'वाद' के विषय में आपने अभी जो कुछ कहा है उस कसौटी से मार्क्सवाद के बारे में आपके विचार क्या हैं ? उसका सबसे मजबूत और सबसे कमजोर बिन्दु (=Point) आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—यह तो किसी विद्वान् से पूछने योग्य प्रश्न है। मुझे इसमें शंका है कि मार्क्सिज्म समूचे जीवन को छूता है। वह समाज-नीति है। जीवन-नीति नहीं है। जीवन-नीति बहुत-कुछ निर्गुण होगी। राज्य की अपेक्षा वही राजनीति और समाज की अपेक्षा वही समाजनीति बन जायगी वह दर्शन-नीति होगी। दूसरे शब्दों में वह धर्मस्वरूप होगी।

मार्क्सिज्म जीवन-खोज का परिणाम अर्थात् जीवन-दर्शन (=Life Philosophy) नहीं है। वह एक राजनीतिक प्रोग्राम का बौद्धिक समर्थन है। यह उसकी सर्व-सुलभ विशेषता है और यही उसकी मर्यादा भी है।

मार्क्सिज्म स्थिति को व्यक्ति से नहीं जोड़ता। उसकी दृष्टि से दोष अपने में देखने की जरूरत कम हो जाती है और दोषारोपण सामाजिक परिस्थिति में किया जाने लगता है। परिणाम यह होता है कि आज इस घड़ी मुझे क्या कुछ होना और करना चाहिए, इसकी सूझ नहीं प्राप्त होती, न इसकी चिन्ता व्यापती है। समाज-विधान कैसा क्या होना चाहिए, निगाह उसी ओर लग जाती है। स्पष्ट है कि इस भाँति असल होने में विशेष नहीं आता, बुद्धि-भेद बढ़कर रह जाता है। इससे शाब्दिक विवाद को उत्तेजन मिलता है।

मुझे कैसे व्यवहार करना चाहिए, इसके सम्बन्ध में अगर कोई चेतना मुझमें न जागे, और इसकी जगह सोसायटी को कैसा होना चाहिए, इसी

सम्बन्ध के संकल्प-विकल्प मन में चक्कर लगाते रहें तो यह स्थिति न व्यक्ति के लिए न समाज के लिए उपयोगी प्रमाणित हो सकेगी।

मार्क्सिज्म एक 'वाद' है, इसलिए जल्दी समझ में बैठ जाता है। सूत्र रेखाबद्ध होने के कारण उसमें 'फेथ' बनने की सामर्थ्य कम है जो हमारे भीतर तक की जड़ों को भिगो दे और हमें बदल दे। उससे काफी प्रेरणा-शक्ति नहीं मिल पाती।

प्रश्न—अगर वह 'फेथ' नहीं है तो इसका तात्पर्य क्या यही है कि मार्क्सवादी मानवोचित गुणों की ओर अवश्य उपेक्षा करेगा ?

उत्तर—बुद्धि की ओर उसमें इतना झुकाव है कि आचरण की ओर कम ध्यान रहने की सम्भावना हो जाती है। 'फेथ' से यही आशय है कि वह हमारे पूरे व्यक्तित्व में समा जाता है; न मन, न बुद्धि, न कर्म उसके प्रभाव से बच सकते हैं। 'वाद' में 'वाद' होने के कारण अर्थात् संतुलन की (=Dispassion की) बजाय विचाराधिक्य होने के कारण इस प्रकार की अक्षमता सहज पैदा हो जाती है। पर जो कुछ किया जाता है वह पूरे व्यक्तित्व के जोर से किया जाता है कि नहीं ? इसलिए 'वाद' ना-काफी होता है। 'वाद' को घना होकर और अपनी रूक्षता खोकर स्नेह के मेल से धर्म बन जाना चाहिए जिसका अवकाश मार्क्सिज्म में नहीं है।

प्रश्न—तो फिर मार्क्स, लेनिन तथा अन्य मार्क्सवादी जो 'फेथ' में विश्वास न रखते थे, किस शक्ति के सहारे अपने कार्य में इतने सफल हुए ? मार्क्स ने मार्क्सवाद की परिभाषा इतनी सफलतापूर्वक की कि करोड़ों लोग उसके समर्थक बन गये और एक विशाल राष्ट्र लेनिन के नेतृत्त्व में क्रान्ति कर गया। इस सफलता का कारण क्या हो सकता है ?

उत्तर—कुछ काल तक असन्तुष्ट बुद्धिवादी यूरोप के लोगों की समाज-वाद में श्रद्धा जैसी भावना हो गई थी, लेनिन ने उसी से लाभ उठाया। श्रद्धा 'जैसी' भावना ऊपर कहा गया है। 'जैसी' से आशय है कि स्यात्

वह अविकृत श्रद्धा नहीं थी। उसके कलेवर में असन्तोष अधिक था, निर्विकल्प संकल्प-मात्र ही नहीं था। उसमें कटुता का बल था। अंग्रेजी का जो शब्द है 'रिएक्शन', उस शब्द को मैं इसी अर्थ में समझता हूँ। विधायक संकल्प की जगह जहाँ असंतोष की शक्ति की प्रधानता है, जहाँ गर्मी में प्रकाश का संयोग नहीं है, वहाँ मूल प्रेरणा में प्रतिक्रिया है। यूरोप मार्क्स से तीन-चार सदी पहले से मानसिक स्तर पर वाद-विवादग्रस्त था। जीवन की कीमतें बदल रही थीं। विज्ञान के प्रवेश से जीवन का मूल आधार खिसकता मालूम होता था। उद्योग बढ़ती पर था। एक ओर विस्तार-विजय की भौतिक भूख, दूसरी ओर उन महद् उद्योगों के नीचे पिसते हुए लोगों की बेचैनी, इन दोनों के संयोग ने समाजवादी स्वप्न को जन्म दिया। अचरज नहीं कि उस समय के बौद्धिक लोगों का ध्यान इतनी विवशता से उस ओर खिंचा। मार्क्सिज्म निःसन्देह उस समय प्रचलित कई विचार-धाराओं को अपने में समा लेता है। वह उनका समन्वय होने के कारण प्रबल हो सका। लेकिन अन्त में जाकर उसका आधार वर्ग-विभेद है, अभेद नहीं। इसलिए यथाशीघ्र उसकी अपर्याप्तता उभर कर प्रमाणित हो आती है।

प्रश्न—हिटलर तथा मुसोलिनी की आज जो सफलता दिखाई दे रही है, उसका आधार भी क्या श्रद्धा ही है ?

उत्तर—हाँ, मानना होगा कि वही है। वे अपने विचार के साथ जितने एक हैं अर्थात् जितना उसे अपने आचरण में उतारते हैं, उतने ही उनके विचार प्रबल दीखते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि उन विचारों में अपने-आप में कोई स्थिर सचाई है। उनमें उतनी ही सचाई है जितनी जीवन के जोर से डाली जा सकी है।

जीवन चूँकि मूलतः एक है, यानी आत्मैक्य है, इसलिए जो विचार और जो व्यक्तित्व इतिहास के अन्तराल को पार कर सबसे बलशाली और अविरोध्य सिद्ध होगा वह धार्मिक होगा। धार्मिक अर्थात् ऐक्य भावना से परिपूर्ण।

हिटलर और मुसोलिनी, यह तो मानना ही होगा कि, अपने पूरे

व्यक्तित्व से किसी एक मन्तव्य के प्रतिनिधि बन गए हैं। उनमें मानो एक समूचा राष्ट्र ही (तात्कालिक) ऐक्य पा जाता है। यही बात लेनिन में थी। छोड़िए इज़्मों को, लेकिन लेनिन और मुसोलिनी में बहुत फासला नहीं है।

प्रश्न—फिर मार्क्सिज्म और फासिज्म में भी तो बहुत कम फासला रह जाता है ?

उत्तर—मेरे खयाल में यह फासला सचमुच बहुत अधिक नहीं है। उनकी प्रकृतियों में अन्तर नहीं है। घोषों में और तर्कों में अनबन है। मुझे तो जान पड़ता है कि अन्तःप्रकृति से दोनों ही एक हैं। मार्क्सिज़्म बुद्धि-प्रधान है, फासिज़्म कर्म-प्रधान है। लेकिन दोनों ही शक्ति के पूजक हैं।

जैसे पूँजीवाद मार्क्सिज़्म को जन्म देता है कि मार्क्सिज़्म की पूँछ के पीछे मुँह खोले फासिज़्म जरूर आवेगा। वह तो एक चक्कर है। उस पर पड़े कि जाने-अनजाने चकराना ही होता है।

७—लेकिन अहिंसा ?

प्रश्न—अगर मैं इसी तर्क से आपके अहिंसा-वाद को भी फासिज्म और मार्क्सिज्म के साथ ही रखूँ तो आपको कोई आपत्ति न होगी ?

उत्तर—क्या अहिंसा का कोई 'वाद' है, और क्या वह मेरा है ? अगर सचमुच उसमें दूसरे 'वादों' की सब बुराइयाँ रहेंगी तो अहिंसा का 'वाद' निस्संदेह वैसा ही खतरनाक हो जायगा जैसे कि अन्य 'वाद'। किसने कहा है कि अहिंसा का 'वाद' चाहिए, क्या मैंने ? जो चाहिए वह सच्ची खरी जीवित अहिंसा ही स्वयं है, न कि 'वाद'। 'वाद' वाली अहिंसा के वादी नहीं चाहिएँ, अहिंसा के साधक चाहिएँ।

अहिंसा मानने की चीज नहीं, वह करने की चीज है। क्या यह देखा नहीं जाता कि घोष अहिंसा का है, लेकिन जो इस घोष के तले चाहा और किया जाता है उसके भीतर भरी हिंसा होती है ? अहिंसा का वादी अहिंसा के विवाद को लेकर जरा देर में उग्र हिंसक हो जा सकता है। इसीलिए अहिंसा के 'वाद' के मैं उतना ही खिलाफ हूँ जितना अहिंसा के धर्म का श्रद्धालु हूँ। 'वाद' कैसा, अहिंसा तो अखण्ड धर्म है।

कहानी है कि एक धोबी में और साधु में लड़ाई हो गई। मार-पीट की नौबत आई और साधु पिट गये। पिटने के बाद वे अपने इष्टदेव के पास शिकायत लेकर पहुँचे। इष्टदेव ने अपने दूत से पूछा कि यह महात्मा हमारे लिए महात्मा हुए हैं, तुमने इन्हें क्यों नहीं बचाया ? दूत ने कहा कि मैं तो बचाना चाहता था लेकिन उस वक्त मुझे पहचान ही नहीं हो सकी कि दोनों में कौन धोबी है और कौन साधु है। दोनों एक ही तरह लड़ रहे थे।

अहिंसावादी अगर अहिंसा से नहीं तो क्या 'वाद' से पहचाना जायगा? जैसे साधु की पहचान उसकी साधुता ही हो सकती है न कि वेष, वैसे ही अहिंसा की पहचान आचरण से होगी न कि कहने से (=profession से)। अहिंसा का कोई वाद नहीं हो सकता। वाद-गत हो जाने पर अहिंसा मानो कर्तव्य नहीं रहती, वह केवल प्रतिपाद्य हो जाती है। अहिंसा ऐसी चीज नहीं है कि जगह-जगह उसका हम झंडा गाड़ते फिरें, वह तो मन में बैठाने की चीज है। जो अहिंसा की ध्वजा उद्घोष के साथ फहराता है वह अहिंसा की दूकान चलाता है। वह अहिंसक नहीं है।

अन्य 'वादों' में 'वाद' बनने की सम्भावना इस प्रकार न्यूनतम नहीं बना दी गई है। आरम्भ से ही उन्हें 'वाद' के तौर पर परिभाषाबद्ध बनाकर प्रतिपादित किया गया है। इसीलिए उन वादों का मुँह से उच्चार करते हुए विपयाचरणी होना उतना दुर्लभ नहीं है। फिर वे वाद होते भी प्रोग्राम-रूप और अनुशासनबद्ध हैं।

उनमें आत्म-निषेध और आत्म-वंचना की अधिक गुंजायश रहती है। अहिंसा क्योंकि प्रोग्राम-रूप न होकर धर्मरूप है इसलिए, तथा उसमें स्वेच्छा-पूर्वक विसर्जन की शर्त होने के कारण और बाहरी अनुशासन का बन्धन न होने के कारण, वैसी आत्म-वंचना की कम गुंजायश रहती है।

फिर भी वह संकट तो सदा ही बना है और तत्सम्बन्धी सावधानता बेहद जरूरी है। धर्म के नाम पर क्या जड़ता फैलती नहीं देखी जाती? पर वह तभी होता है जब धर्म को 'वाद' अथवा मत-पन्थ बना लिया जाता है। अतः अहिंसा में विश्वास रखने वाले को यह और भी ध्यान रखना चाहिए कि उसका कोई 'वाद' न बन जाय। 'वाद' बनकर वह अहिंसा का निषेध तक हो जा सकता है।

प्रश्न—लेकिन आज तो अहिंसक पुरुषों के बजाय अहिंसा-वादियों की ही वृद्धि हो रही है, यह मानना पड़ता है। क्या यह सच नहीं है कि इस अहिंसावाद के रूप में दम्भ, असत्य और हिंसा बढ़ रही है?

उत्तर—यह कहना अतिरंजित होगा। अहिंसा के विषय में दिलचस्पी होगी तो वह पहले तो बौद्धिक-रूप में ही आरम्भ होगी। हाँ, अगर वह शनैः-शनैः आचरण में न उतरे और अहिंसा-सम्बन्धी दार्शनिक और तात्त्विक चर्चा एक विलास का (= Indulgence का) रूप ले ले, तो अवश्य खतरा है। लेकिन यह कहने वाला मैं कौन बनूँ कि आज अहिंसा में जो दिलचस्पी बढ़ती दीखती है वह सच्ची है ही नहीं, बिलकुल झूठी है ? हाँ, उस विषय में सचेत रहना हर घड़ी जरूरी है, यह बात ठीक है।

८—विकास की वास्तविकता

प्रश्न—आपने कहा है कि सफलता किसी वाद की नहीं उसके समर्थन की श्रद्धा और सचाई को होती है। क्या आप समझते हैं कि श्रद्धा सदैव प्रबल और पवित्र होती है? या जिस कार्य पर वह केन्द्रित हो उस पर उसकी पवित्रता या प्रबलता निर्भर रहती है?

उत्तर—श्रद्धा स्वयं शक्ति ही है। पवित्र-अपवित्र आदि मानव-रुचि-अरुचि द्वारा बनाये गए विशेषण हैं। वे वैज्ञानिक नहीं हैं।

प्रत्येक काम का बाहरी रूप जो भी हो, लेकिन कुंजी तो उसकी अन्तरंग शक्ति में ही माननी होगी। दो व्यक्तित्वों के मूल्य में जो अन्तर है उसको, नहीं तो, फिर किस भाषा में कहा जायगा? एक महापुरुष का दो मिनट चुप बैठना और एक साधारण पुरुष का उतने ही समय तक चुप बैठे रहना, क्या एक-सा मूल्य रखता है? ऊपर से वह एक-सा है, पर उनमें आकाश-पाताल का अन्तर हो सकता है। जीवन का कोई विशेष क्षण अमूल्य जान पड़ता है, अन्य क्षण याद भी नहीं रहते, सो क्यों? इसीलिए तो कि उन मूल्यवान् क्षणों में जीवनानुभूति खूब सजग हो उठी होगी।

इसी कारण मैं यह मानता हूँ कि श्रद्धा की शक्ति निम्न को उच्च बना देती है। पत्थर की मूर्ति को परमात्मा बना देने वाली शक्ति भक्त की भक्ति ही तो है। भक्ति शायद आजकल समझ में नहीं आयगी। लेकिन एक कपड़े के टुकड़े को झंडा कहकर इतनी शक्ति कौन दे देता है कि हजारों देशवासी उस पर क़ुर्बान हो जायँ? वह शक्ति कपड़े के टुकड़े की है या श्रद्धा की? कपड़ा कुछ नहीं है, फिर भी झंडा सब-कुछ बन जाता है, सो क्यों? क्या श्रद्धा के कारण ही नहीं?

इसी से जिस पर श्रद्धा है, उससे अधिक वह महत्त्वपूर्ण बन जाता है

कि कितनी श्रद्धा है।

सत्य कहाँ नहीं है ? श्रद्धा की दृष्टि जहाँ पड़ती है वहीं सत्य को ऊपर ले आती है।

प्रश्न—अगर श्रद्धा में यह बल है, तो क्या एक मामूली या यों कहिए कि एक अनैतिक कार्य भी श्रद्धा के कारण नैतिक और उचित बन जाता है ?

उत्तर—श्रद्धा तो पारस-मणि ही है। जिसको छुआओ वह सोना हो जाता है। किन्तु जो अनीति में आग्रह रख सकता है वह तो मोह है, श्रद्धा वह नहीं है। श्रद्धा का लक्षण है उत्सर्ग। मोह का लक्षण संग्रह और आग्रह है।

प्रश्न—श्रद्धा और मोह की जो आपने व्याख्या की वह बहुत लचीली है। क्या इस व्याख्या का यही मतलब नहीं होता कि अगर किसी को किसी कार्य का मोह है और वह किसी तरह सफल हो जाता है, तो आप उस मोह को श्रद्धा कहेंगे ? इस तरह तो किसी असफल मनुष्य की पवित्र श्रद्धा भी मोह कही जा सकती है ?

उत्तर—हाँ, ऐसे विभ्रम की बहुत आशंका है। असल में मोह आदमी से बिल्कुल तो छूटता नहीं। आदमी की समस्त इच्छा-अनिच्छा और संकल्प-विकल्प अन्त में किसी-न-किसी प्रकार के मोह से जुड़े होते ही हैं। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि जिसे श्रद्धा माना वह भी किंचित् मोह से शून्य नहीं होती। असल में श्रद्धा की आवश्यकता ही मोह के कारण है। किन्तु वह मोह से बचने के लिए होती है, उस मोह को गहरा करने के लिए नहीं।

लेकिन यहाँ शायद हम अनिश्चित जमीन पर आ गये हैं। इसका निर्णय कैसे हो कि श्रद्धा उचित प्रकार की है, या मोहजन्य होने के कारण अनुचित प्रकार की है ? श्रद्धा वह कैसी भी हो, फलदायक वही होती है। उचित है, तो फल सुफल होता है। उल्टी होने पर वही फल दुष्फल गिना जाता है।

एक पहचान अन्त में यही रहती है कि देखा जावे कि व्यक्ति की श्रद्धा का आधार उसका आग्रह है, या वह आधार निवेदन स्वरूप (=confession स्वरूप) है। सच्ची श्रद्धा प्रार्थनामय होनी चाहिए।

प्रश्न—श्रद्धा को सफलता की कसौटी अगर मान लिया जाय तो आप आजकल की फासिज्म, मार्क्सिज्म, अविकृत जनतन्त्रवाद, गाँधी-वाद आदि में से किस का भविष्य सबसे अधिक उज्ज्वल समझते हैं ?

उत्तर—भविष्यवक्ता मैं नहीं हूँ। फिर यह जानता हूँ कि सत्य ही सदा सफल होता है और मानव-समाज के लिए व्यवहार्य सत्य अहिंसा है।

प्रश्न—परन्तु अहिंसा तो कहीं भी नहीं है। अगर कहीं है तो वह केवल विचारों तक ही सीमित है। मैं तो यही समझता हूँ कि मानवता किसी प्रलय की ओर बढ़ती चली जा रही है। कब कहाँ टकरायगी इसका कोई भरोसा नहीं है।

उत्तर—अहिंसा हम से बाहर थोड़े हो सकती है। बाहर देखेंगे तो दीखेगा कि जीव का भोजन जीव है। बाहर तो दीखेगा ही कि सशक्त की जीत है, अशक्त की मौत है। यह भी दीखेगा कि जीवन का मृत्यु में अन्त होता है। मौत से आगे जीवन जा ही नहीं सकता। इस बात को झूठ कौन कहता है ? कोई इसको झूठ नहीं कह सकता। जिस तल पर बहस सम्भव है उस तल का सत्य वही है।

बड़े-बड़े योद्धा और महापुरुष मर गये। और जो आयँगे सब काल के पेट में समा जायँगे। काल तो यम है, अन्धकार है, और नकार है। किन्तु यह जानकर भी आज इस मिनट में जी रहा हूँ, आप जी रहे हैं, इस बात से कैसे इन्कार किया जाय ? लाखों मरते रहें, लेकिन लाखों जनमेंगे भी और जिएँगे। मरेंगे तो मर लेंगे, लेकिन वे इतिहास को आगे बढ़ा जायँगे। क्या जीवन ने कभी मौत से हार मानी है ? और जो जीते जी खुशी से मर गये हैं, क्या उन्होंने मौत के मुँह में पहुँचकर भी जीवन की विजय का सदा के लिए प्रमाण ही नहीं फहरा दिया है ?

इसी से मैं कहता हूँ कि अहिंसा बाहर नहीं मिलेगी। लेकिन जो बाहर दीखता है उससे भी बड़ा क्या वह नहीं है जो भीतर है, इसी से दीखता नहीं है? वह अहिंसा भीतर है। अहिंसा भावात्मक है। भावना कर्म की जननी है। मैं कहता हूँ कि घोर-से-घोर हिंसक-कर्म के भीतर भी कोई अहिंसा की भावना नहीं हो तो वह हो तक नहीं सकता। खूँख्वार जानवर अपने शिकार को मारता है, लेकिन वही अपने बच्चे को प्यार करता है। मैं कहता हूँ कि वह मारता है तो उस प्यार को सार्थक करने के लिए ही शिकार को मारता है। बच्चे को बचाने के लिए शेरनी भी अपने को विपद् में झोंक देती है कि नहीं? सो क्यों? वह मारती है अपने को और अपनों को बचाने के लिए। इस मारने की हिंसा को भी प्रेम की अहिंसा ही सम्भव बनाती है।

लेकिन वह खतरनाक जगह है। यहाँ तर्क कहीं सब-कुछ को उलट-पलट न दे। उथल-पुथल हमारा इष्ट नहीं है। कहना यही है कि अगर इस घड़ी हम साँस ले रहे हैं, तो चाहे उस साँस लेने में भी सैकड़ों सूक्ष्म जीवों कि हिंसा हो जाती हो, लेकिन वह साँस जाने-अनजाने अहिंसा-धर्म को पोषण देने ही के लिए हम ले पाते हैं। वैसा नहीं है तो कुछ भी नहीं है।

पर मैं विश्वास दिलाऊँ तो कैसे? कोयले में आग है, यह कोयला कैसे समझेगा? वह तो देखता है कि वह भीतर तक काला है, परन्तु आग उज्ज्वल है। वह अपने को कालेपन से त्रस्त पाता है। वह किस भाँति समझे कि वह दहकता स्फुलिंग भी हो सकता है? किसी के पास दिया-सलाई हो और उसकी लौ कोयले में छू जाय तो देखते-देखते कोयला शोला हो जायगा। पर वैसा होने से पहले कौन उसे समझा सकता है कि वह और आग एक हैं?

ऐसे ही मेरे पास छुआने को चिनगारी हो तो इस निराशा के अँधेरे को ही उजला बना दूँ। नहीं तो निराशा को क्या दूसरा कोई कभी समझ या समझा पाया है?

पर मैं कहता हूँ कि निराशा के बल पर कौन जी सका है ? इससे निराशा में से ही आशा जगानी होगी। मिथ्या आशा मिथ्या है, लेकिन वह आशा जिसका भोजन निराशा है, जिसके भीतर भौतिक आशा की छाया भी नहीं है, वैसी आशा कभी मूर्छित नहीं होगी। क्योंकि वह प्रार्थना-मुखी होगी, गर्वस्फीत वह न होगी।

प्रश्न—इटली, जर्मनी, रूस आदि राष्ट्रों में जो आज आशा दिखाई दे रही है और इसी आशा के आधार पर जो संगठन उनमें दीख रहा है, उसे आप सच्ची मानते हैं या मिथ्या ?

उत्तर—उस आशा का प्रभाव उन्हें कर्मण्य बनाता दीख रहा है। आशा से इससे अधिक की माँग नहीं करनी चाहिए। यदि वह प्रेरणा देती है, तो काफी है।

हाँ, उनकी सोचने की पद्धति और उनके स्वप्न बेशक मुझको ठीक नहीं मालूम होते। किसी विशेष जाति या दल के प्रति कट्टर बहिष्कार की भावना रखना मेरी समझ में नहीं आता। उसमें मुझे अहंकार की उत्कट गन्ध आती है।

उसके बाद उग्र राष्ट्रीयता से भी मालूम होता है कि हमारा रोग मिटने वाला नहीं है। बल्कि राष्ट्र-भावना की उग्रता स्वयं रोग का लक्षण है।

इसके अनन्तर व्यक्ति-पूजा की भावना भी वहाँ जरूरत से अधिक है। यदि वह भावना हार्दिक हो, तब तो भक्ति की अधिक-से-अधिक घनता भी आपत्ति योग्य नहीं है। लेकिन तरह-तरह के प्रचार से और आयोजन से व्यक्ति के महत्त्व को कृत्रिम रूप से बढ़ाना हितकर नहीं है। वह मानसिक गुलामी को जन्म देता है।

असल में वैज्ञानिक समाजवाद में (=Scientific Socialism में) जब कि व्यक्ति को सर्वथैव समाज के (=State के) अंग-रूप में देखा गया है, तब प्रतिक्रिया के तौर पर फासिज्म मानो समाज के सिर पर व्यक्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए चल पड़ा है। जर्मनी हिटलर है और इटली मुसोलिनी है, बल्कि ये दोनों व्यक्ति स्वयं राष्ट्र से भी बड़े हैं, ऐसी जो

नाजी और फासिस्ट दलों में धारणा पैदा की जाती है वह कल्याण कर नहीं होगी। उससे नुकसान होगा। आज उसके कारण उन राष्ट्रों में जबर्दस्त संगठित एकता दिखाई देती हो, लेकिन उसमें विग्रह और हिंसा के बीज पड़े हैं और जब वे फटेंगे तब आपसी खून बहे बिना राह न रहेगी।

प्रश्न—आज की स्थिति में तो यही दीखता है कि निकट भविष्य में या तो व्यक्ति-प्रधान फासिज्म या समाज-प्रधान साइंटिफिक सोशलिज्म, इन दो में से किसी एक को हमें चुनना होगा। अन्तिम लक्ष्य की दृष्टि से आप किसे चुनेंगे?

उत्तर—क्यों एक को चुनना होगा? इनमें चुनने को विशेष अन्तर नहीं है। सोशलिज्म को वैज्ञानिक और व्यवहार्य बनाते-बनाते वह राष्ट्रीय बन जाता है। वह राष्ट्रीय समाजवाद (=National Socialism) ही क्या फिर फासिज्म नहीं हो चलता? सोशलिस्ट कल्पना में मानवता को राष्ट्र में नहीं, अर्थात् भौगोलिक भागों में नहीं, अपितु आर्थिक वर्गों में विभक्त देखा गया है। किन्तु आज के दिन राष्ट्र-भावना एक जीवित वस्तु है। और राष्ट्र की सत्ता इसलिए आज की जीवित राजनीति के क्षेत्र में पहली वास्तविकता है। अतः सोशलिज्म को अनिवार्यतया इस राष्ट्र-चेतना और राष्ट्र-सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। इस समझौते के बाद यह संदिग्ध हो जाता है कि सोशलिज्म सोशलिज्म भी रहता है या नहीं। क्या अनजाने वह इस भाँति फासिज्म नहीं हो चलता? इन सब बातों को देखते हुए कम्यूनिज्म और फासिज्म में किसी एक को चुनने में कोई अर्थ नहीं रह जाता।

प्रश्न—फासिज्म का ही जहाँ तक सवाल है, वहाँ तक तो वह हमारे अहिंसा और सत्य के कल्पना-मधुर सिद्धान्तों पर आश्रित आन्दोलन में भी बढ़ता दीख रहा है। फिर आप इसी का समर्थन क्यों करते हैं?

उत्तर—अहिंसा के तत्त्व का मैं समर्थन कर रहा हूँ। अहिंसा का चेहरा लगाकर हिंसा का तत्त्व अगर फैलता हो, जो कि सम्भव है, तो उसका तो

विरोध ही करने के लिए मैं कह सकता हूँ। इसीलिए अहिंसा के 'वाद के समर्थकों में मैं नहीं हूँ। अहिंसा धर्म है, और अहिंसा का 'वाद व्यवसाय बन जा सकता है।

अच्छे सिद्धान्त की ओट लेकर बुरा आदमी बुराई करने का सुभीता पाने लगे तो इसमें उस सिद्धान्त का दोष नहीं है। इसीलिए हम भलाई की (धर्म की) कोई पार्टी बनाने की कोशिश न करें। भलाई (धार्मिकता) अगर सच्ची है तो उसका प्रभाव होगा ही। उसमें फैलने और बढ़ने के भी बीज हैं। लेकिन घेरा घेरकर पार्टी-लेबल के ज़ोर से जो अपने को प्रचारित करती है उस में कुछ संदिग्ध चीज़ भी शामिल है और उस संदिग्ध वस्तु का समर्थन मुझ से नहीं होगा।

प्रश्न—आज तो संघ-शक्ति का युग है। और कोई भी सिद्धान्त हो, उसके आधार पर संगठन और 'वाद जरूर बनेगा। अहिंसा का सिद्धान्त जैसे ही महात्मा गाँधी ने प्रस्तुत किया कि तुरन्त ही उसके प्रचार के लिए अहिंसावादी संगठन बने और अहिंसावादियों का प्रचार-कार्य शुरू हो गया। फिर पार्टी न बने, इसका क्या मतलब है ?

उत्तर—संगठन बुरी बात नहीं है। संगठन सामाजिक कर्म के लिए बनता है। उसका आशय यह नहीं कि संगठित पार्टी के ताबे कोई धर्म हो जावे। धर्म का व्यावहारिक प्रयोग करने में संघ और सम्प्रदाय बन जायँगे। उन संघ और सम्प्रदायों में फिर खराबी भी आ चलेगी। संघ के लिए संघसत्ता और सम्प्रदाय के लिए अपना सांप्रदायिक प्राबल्य ही चिन्ता और चेष्टा का विषय हो चलता है। यही खराबी है। धर्म-गत सम्प्रदाय कोई खराबी नहीं पैदा करता, बल्कि कल्याण ही करता है। लेकिन धर्म ही जब सम्प्रदायगत माना जाने लगता है तब खराबी की भी जड़ पड़ जाती है। कोई भी सचाई धीमे-धीमे एक सम्प्रदाय का व्यवसाय बन जाती है, ऐसा देखने में आता है। ऐसा होता है, हो रहा है और होगा। लेकिन इसके लिए किया क्या जाय ? यही कहा जा सकता है कि कोई धर्म जब इस भाँति जड़ होने लगे, तब

उसमें प्राण-प्रतिष्ठापन के लिए उसी से युद्ध करना होगा। इसीलिए तो बार-बार कहा जाता है कि सचाई रूप में नहीं है, वह भीतरी है। किसी बाहरी रूप पर इसीलिए विश्वास गाड़ कर नहीं बैठना चाहिए। किसी पार्टी के हाथ आत्मा को नहीं बेचा जा सकता। हाँ, सहयात्री तो बना ही जा सकता है। जहाँ तक पार्टी स्वाधीन-चेता व्यक्तियों का सम्मिलित संघ है और प्रत्येक सदस्य अपने विवेक का मालिक है, वहाँ तक तो ठीक है। लेकिन जहाँ अन्यथा है वहाँ पार्टी में बुराइयाँ भी आ चलती हैं। अहिंसा के नाम वाली पार्टी में वे बुराइयाँ नहीं आयेंगी, ऐसा कहने का मेरा आशय नहीं है।

प्रश्न—अहिंसा के लिए संगठित प्रयत्न का प्रत्यक्ष जो उदाहरण हमारे समक्ष है, उसे देखते हुए क्या आप कहेंगे कि अहिंसा की पार्टी का कार्यक्रम बुद्धिजीवी वर्ग की हिंसा को छिपाने और अप्रबुद्धों को भ्रम में डालने वाला ही नहीं हो जायगा?

उत्तर—आगे क्या होगा, यह कहना कठिन है। पर हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में अहिंसा के प्रयोग के जो संगठित प्रयत्न चल रहे हैं, उनमें अभी तो अश्रद्धा का मेरे लिए विशेष कारण नहीं है। वजह शायद यह हो सकती है कि महात्मा गाँधी की उपस्थिति, जो स्वयं में प्रज्वलित अहिंसा के स्वरूप हैं, उन प्रयत्नों को सच्ची अहिंसा से च्युत नहीं होने देगी।

प्रश्न—क्या यह सही है? महात्मा गाँधीजी के होते हुए भी हम देखते हैं कि उनके विश्वास-पात्र सहकारी, जो सरकार के मंत्री बने हैं, अपने मानवोचित अधिकारों की रक्षा के लिए शान्ति और अहिंसापूर्ण युद्ध करने वाले गरीबों पर गोलियाँ चलवाते हैं और उसका समर्थन करते हैं। क्या यह अहिंसा है?

उत्तर—उनकी जगह कोई और क्या ऐसा कहने को तैयार है कि बिना गोली चलाये उससे अधिक जानों को जाने से वह बचा सकता था? मुझे नहीं मालूम कि ऐसा किसी ने दावा किया है। तब क्या अहिंसा के नाम पर एक काँग्रेसी मन्त्री अपनी जिम्मेदारी को जानते हुए भी खुली हिंसा होने दे? इससे अगर मन्त्रियों ने लाचार होकर हिंसा को रोकने के निमित्त गोली चलने

दी, तो इससे यह तो साबित हो सकता है कि काँग्रेस की नैतिक-शक्ति अभी काफी नहीं है, और उसका विकास करना चाहिए, परन्तु इससे अधिक उसका यह मतलब नहीं लगाया जा सकता कि अहिंसा के नाम पर हिंसा करके काँग्रेस-मन्त्रियों ने कपट व्यवहार किया। सच बात तो यह है कि शासन का भाग होना अपने-आप में थोड़ी-बहुत हिंसा को वैध स्वीकार करना है ही। वह तो स्थिति की असमर्थता है। उससे अधिक उसे नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न—अगर यह दलील है तो अन्य मन्त्रियों और कांग्रेसी अहिंसावादी मन्त्रियों में इस नाते कौन-सा अन्तर है?

उत्तर—शायद विशेष अन्तर नहीं है। सिवाय इसके कि कांग्रेसी मन्त्री ऐसा करने पर अधिक दुःख अनुभव करते होंगे।

प्रश्न—व्यक्तिगत हिंसा और स्टेट की हिंसा में आप क्या अंतर समझते हैं?

उत्तर—व्यक्तिगत हिंसा में वासना की तीव्रता होती है, दूसरी में वैसी तीव्रता नहीं होती है। फिर स्टेट की हिंसा खुली हुई है और उसके साथ छिपाव का वातावरण कम होता है। फिर जहाँ 'स्टेट' शब्द है, वहाँ उसमें कम-बहुत हिंसा गर्भित है ही। कहा जा सकता है कि वह बहुत-कुछ नैमित्तिक है, संकल्पी उतनी नहीं।

प्रश्न—क्या आप स्टेट की हिंसा को एक पवित्र कार्य भी कहेंगे?

उत्तर—पवित्र नहीं कहूँगा, सामाजिक कर्तव्य वह हो सकती है। पवित्र से मेरा मतलब है कि शुद्ध भावना का आदमी वैसी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेगा ही क्यों!

प्रश्न—तो क्या मैं यह समझूँ कि स्टेट के कार्य का भार लेने वाले आदमी शुद्ध धर्मभावना वाले नहीं होते, न होने चाहिएँ?

उत्तर—और क्या! लेकिन अपवाद की गुंजायश है। वह इसलिए कि इतिहास में कभी-कभी राज्य-शासन और धर्म-शासन एक भी हो जाते हैं। अवतारी पुरुष इसी कोटि के होते हैं। नीति और शक्ति, आदर्श और

व्यवहार, मुक्ति और संसार, दोनों को वे युगपत् साधते हैं। नहीं तो साधारणतया इनमें विरोध ही देखने में आता है। और उस समन्वय के अभाव की अवस्था में सचमुच कोई धार्मिक व्यक्ति गवर्नर नहीं होगा।

प्रश्न—अवतार की आपने बात कही है, क्या आप कोई ऐसा अवतार-पुरुष बता सकते हैं जिसने शासन का भार बिना हिंसा आदि के निभाया हो? मैं तो समझता हूँ कि सब अवतार-पुरुष महा-भयंकर फासिस्ट वृत्ति के लोग रहे हैं क्योंकि यह मान्यता बना दी गई थी कि वे जो कुछ करें सब ठीक है, वही धर्म है।

उत्तर—मोहम्मद साहब की खिलाफत संस्था, आरंभिक ईसाइयत का पोपशासन, बुद्ध की अनुप्रेरणा से प्रभावित सर्वप्रिय अशोक सम्राट्, अथवा कनफ्यूशियस जैसे लोग और आज के गाँधी बहुत कुछ इसके उदाहरण हैं। क्या इनको फासिस्ट कहने के लिए आप मुझे कहेंगे? नहीं। उनकी शासन-पद्धति को फासिज्म कहना अन्याय और अज्ञान मालूम होता है।

प्रश्न—महात्मा गाँधी के विषय में क्या आप यह मानते हैं कि वे राजनीतिक मामलों में जो कुछ कहते हैं, अक्षर-अक्षर सच कहते हैं?

उत्तर—हाँ, मैं मानता हूँ कि अपनी ओर से वे सच ही कहते हैं।

प्रश्न—दीखता तो यह है कि वे स्टेट की हिंसा को ठीक नहीं समझते, फिर भी वे अहिंसावादी मन्त्रियों को आशीर्वाद देते हैं जिन्हें मन्त्रि पद पर पहुँचकर हिंसा करनी पड़ती है। क्या यह सचाई है?

उत्तर—हिंसा अगर एक फूँक से मिट सकती होती तो प्रश्न ही न था। अहिंसा की ओर क्रम-क्रम से उन्नति होगी। आशीर्वाद यदि मन्त्रियों को दिया जाता है तो इसलिए नहीं कि वे हिंसा करें, बल्कि इसलिए दिया जाता कि वे हिंसा को कम करें और अहिंसा की ओर बढ़ें।

आदर्श को अगर व्यवहार्य बनाना है तो व्यवहार से इन्कार करने से नहीं बनेगा। व्यवहार को व्यवहार, यानी आदर्श से कुछ हटा हुआ, नान-

कर ही स्वीकार करना होगा, तभी उसे उन्नत करने की सम्भावना होगी। व्यवहार की मर्यादाओं को बिना स्वीकार किये मर्यादाओं के बन्धन को अति-क्रम करने का अवसर भी नहीं आयगा। मानव-कर्म आदर्श और सम्भव का मेल है। चाहो तो कह दो कि वह समझौता है। जो अमुक परिस्थितियों में सम्भव है, आदर्श उसी को स्वीकार कर अपने को व्यक्त करता है। परि-स्थिति की मर्यादा व्यवहार की मर्यादा तो निश्चित करती है, पर आदर्श को वह नहीं छूती।

इसी दृष्टि से संसार के कार्य-कलाप को देखना चाहिए। हम साँस लेते हैं, इसमें हिंसा है। तो क्या मर जायँ? लेकिन इस तरह आत्मघात क्या हिंसा न होगी? उपाय यही है कि जीने में जितनी अनिवार्य हिंसा गर्भित है, उसको झेल लें और जीवन को एक प्रायश्चित्त, एक ऋण, एक यज्ञ बनाकर चलावें। यह कहकर कि जीवन में ही हिंसा आ जाती है, हिंसा का अन्धाधुन्ध समर्थन नहीं किया जा सकता। उसी भाँति 'अहिंसा' शब्द का भी अन-समझे-बूझे प्रयोग कठिनाई और विरोधाभास पैदा करेगा।

प्रश्न—क्या यही बात सत्य के बारे में भी आप कहेंगे?

उत्तर—सत्य तो बिलकुल ही आदर्श का नाम है। व्यवहारगत सत्य अहिंसा है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सत्य में उस भाँति समझौते का प्रश्न नहीं उठता।

प्रश्न—आपने कहा है कि कभी-कभी राज्य-शासन और धर्म-शासन एक हो जाते हैं। क्या ऐसा शासन धर्मों की विविधता के कारण अब खतरनाक न हो जायगा?

उत्तर—धर्म-शासन में 'धर्म' शब्द से अभिप्राय किसी नाम-वाचक मत-पन्थ से नहीं है। अभिप्राय यह है कि उस स्थिति में शासन का अधि-नायक धर्मभावना से भीगा और ओतप्रोत एवं नीति-निष्ठ पुरुष होता है। जो शासक है, वह सेवक है। तब शासन अधिकार नहीं होता, वह एक जिम्मे-दारी होती है। और शासन-पद जितना ऊँचा हो उस पर आरूढ़ व्यक्ति उतना ही विनम्र, सरल और अपरिग्रही होता है। 'धर्म' शब्द से अगर

असुविधा पैदा होती हो तो उसे 'नैतिक शासन' कह लीजिए। 'सैनिक' के विरोध में 'नैतिक'।

प्रश्न—क्या आप समझते हैं कि नैतिक शासन तब तक सम्भव है जब तक कि देश के सब आर्थिक सूत्र शासन के हाथ में न हों ?

उत्तर—नैतिक-शासन एकतन्त्र (=autocratic) शासन नहीं है। आर्थिक सूत्र एक हाथ में रहने का अर्थ बहुत कुछ ऐसी एकतन्त्रता हो जायगी। इसीलिए तो आरम्भ में औद्योगिक विकीरण की (=Industrial Decentralization की) बात कही गई है। जहाँ अर्थ प्रधान है, वहाँ नीति गौण होती देखी जाती है। शासन नैतिक हो, इसमें यह आशय आ जाता है कि समाज के भिन्न-भिन्न अंगों और प्रसंगों में आर्थिक संघर्ष कम-से-कम हो। उनके स्वार्थों में जितना अधिक विग्रह और विरोध होगा उतनी ही शासन के पास सैनिक तैयारी उन स्वार्थों के बीच संतुलन (=Balance) कायम रखने के लिए जरूरी हो जायगी। बस फिर वह शासन सैनिक ही हो गया, नैतिक कहाँ रहा ? इसलिए अगर एक बार हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि मुष्टि-बल और आतंक के शासन की जगह हमें सहयोग और सद्‌विश्वास बढ़ाने वाला नैतिक शासन चाहिए, तो उसी में से यह निकल आता है कि हमें आर्थिक संघटन को अब अधिकाधिक स्वावलम्बन सिद्धान्त के अनुकूल बनाना चाहिए। उसी को कहिए आर्थिक डिसेण्ट्रलाइजेशन।

प्रश्न—तो क्या मैं यह कहूँ कि वर्तमान अशान्ति निवारण करने का एक-मात्र उपाय आप डिसेण्ट्रलाइजेशन को ही मानते हैं ?

उत्तर—एक-मात्र से क्या मतलब ? अशान्ति के सवाल को चारों ही ओर से हल करना है न ? हाँ, आर्थिक विषमता के कारण जो अशान्ति है, उसको दूर करने का उपाय तो यह मालूम होता है। लेकिन इस केन्द्र-विकीरण को किसी आर्थिक प्रोग्राम का घोष(=cry) बनाने का आशय नहीं है। मैं अपनी जरूरतें कम करूँ और जितना बने उन्हें आसपास से पूरी कर

लेने का खयाल करूँ, इसी में उस इष्ट का आरम्भ है। हाँ, यह मैं मानता हूँ कि शाब्दिक प्रयत्नों से, अर्थात् लिखने-पढ़ने बोलने से, कार्मिक प्रयत्न सच्चे सामाजिक अहिंसक वातावरण को लाने में ज्यादा सफलीभूत होंगे। अखबार चाहे कम हो जायँ, चरखे अधिक होने चाहिएँ।

तृतीय खण्ड

प्रश्नकर्त्ता

श्री प्रभाकर माचवे

१—व्यक्ति, मार्ग और मोक्ष

प्रश्न—संस्कार के बन्धन से आत्मा को मुक्त होना चाहिए या नहीं ? यदि चाहिए तो कैसे ?

उत्तर—जो हमें आत्मानुकूल बनाते हैं, उनको संस्कार कहा जाता है। इस तरह पूर्ण संस्कारी पुरुष मुक्त पुरुष भी है। उस अवस्था में संस्कार बन्धन-रूप होते ही नहीं, वे अभिव्यक्ति-रूप होते हैं। विकारों को तब दबाना नहीं पड़ता, क्योंकि वे स्वयमेव ही नहीं उठते।

इस सिलसिले में मुझे कवि रवीन्द्र का कथन याद आता है कि जो संयम की राह से पाना कठिन होता है, सौन्दर्य की राह से वह सुगम हो जाता है। अश्रेय कहकर जिसे छोड़ना मुश्किल होता है, उसे अरुचिकर पा कर हम स्वयमेव ही छोड़ देते हैं। इसी भाँति संस्कारशील पुरुष के लिए संस्कार बाधा अथवा बन्धन नहीं होते, वे मानो उसकी व्यापकता में सहायक होते हैं।

प्रश्न—संयम क्या है ? क्या पूर्ण संयम सम्भव है ? अगर संयम सापेक्ष है तो उसकी अच्छाई कौन ठहरायेगा, कैसे ठहरायेगा ?

उत्तर—किसी प्रिय लगने वाली किन्तु साथ ही अनिष्ट लगने वाली चीज को तजने का अभ्यास संयम है।

पूर्ण स्थिति में संयम सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ उतनी न्यूनता ही नहीं।

संयम का प्रमाण-परिमाण एक ओर अपनी अन्तस्थ ज्योति और दूसरी ओर समाजोपयोगिता से परिभाषा पाये हुए हैं। संयम का मतलब ही यह है कि व्यक्ति असामाजिक वर्तन न करे। साथ ही यदि वह संयम संस्कार-शीलता को बढ़ाता है तो उसमें यह भी अर्थ हो जाता है कि व्यक्ति की निजता उससे परिपुष्ट हो। संयम की निषेधात्मक मर्यादा है समाज की नीति।

उसकी प्रेरणा है अपने भीतर की एकत्व-लाभ की भावना।

प्रश्न—आप क्यों जीते हैं ?

उत्तर—जब तक मौत न आये, क्या उससे पहले ही मरना होगा ?

प्रश्न—तो क्या अन्तिम ध्येय मौत हुई ?

उत्तर—जीने का अन्त मौत है। अगर ध्येय भी मौत हो सके तो इसी घड़ी मर जाना क्यों न बेहतर समझा जाय ? इसलिए मौत ध्येय तो कभी नहीं है; अन्त बेशक मौत है।

प्रश्न—मौत नहीं, तो फिर ध्येय क्या है ?

उत्तर—ध्येय है मुक्ति।

प्रश्न—मुक्ति क्या ?

उत्तर—व्यापक या व्याप्त सत्ता।

प्रश्न—खुलासा समझाइए।

उत्तर—अब मैं व्यक्ति बनकर रहता हूँ। उससे अतीत बनकर रहना जब मेरे लिए सम्भव हो जायगा तब वह स्थिति मुझ व्यक्ति के लिए मुक्ति होगी।

प्रश्न—यानी मुक्ति हुई व्यक्ति का व्यक्तित्व-नाश ?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—तो यह एक तरह की मौत हुई। और मौत ही नहीं खुदकशी-सी भी जान-बूझकर हुई। यानी मुक्ति और मृत्यु एक हो गये ?

उत्तर—हाँ, एक लिहाज से मुक्ति व्यक्ति की मौत है, क्योंकि वह क्षुद्र व्यक्तित्व का विराट् व्यक्तित्व में मिट जाना है। ऐसी मौत होना बहुत अच्छा है।

प्रश्न—अजी जब व्यक्ति ही नहीं बचा तब विराट् व्यक्तित्व की अनुभूति क्या और 'बहुत अच्छा' क्या ? विराट् की अनुभूति समीप की परिभाषा में ही तो होगी ?

उत्तर—यह पहले से बताने की बात थोड़े ही है। गुड़ का स्वाद तो

असल में चखने से ही मालूम होगा। यों बातों में और सब-कुछ है, असली स्वाद नहीं है।

प्रश्न—पर ऐसा गुड़ का स्वाद क्या जिसकी ज़ुबान के नाश पर ही पता चलने की सम्भावना है?

उत्तर—वह स्वाद एकदम हमसे अपरिचित भी नहीं है। प्रेम में हमें स्वाद आता है। पर प्रेम अपने को दे डालने की आतुरता के सिवा क्या है?

प्रश्न—यानी खोना पाना है? मौत जिन्दगी है? 'है' 'नहीं' हैं?—इस सब का क्या अर्थ होता है। क्या Contradiction की Value (=विरोध का मूल्य) है ही नहीं?

उत्तर—मैं नहीं जानता Contradiction की Value से (='विरोध के मूल्य से') आपका क्या मतलब है। Contradiction से (=विरोध से) खाली किस का जीवन है?

प्रश्न—माना। पर Contradiction (=विरोध) ही तो जीवन का सब-कुछ नहीं है? मौत ही तो जीना नहीं है। सत्य असल में (=भावात्मक रूप में) क्या है? क्या उसे सिर्फ Unknowable (=अज्ञेय) कहकर टाल देना है?

उत्तर—'अज्ञेय' (=Unknowable) कहने से तो शायद वह टलता हो, लेकिन श्रद्धा द्वारा उसी को व्यक्त बनाया जा सकता है।

प्रश्न—व्यक्त अर्थात् ज्ञात?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—फिर क्या?

उत्तर—ज्ञात सत्य का एक पहलू भर है। ज्ञात + अज्ञात + अज्ञेय : सत्य यह सब कुछ है।

प्रश्न—जो अज्ञात और अज्ञेय है, उस पर श्रद्धा कैसे सम्भव है?

उत्तर—जिसे अज्ञात और अज्ञेय कहते हैं, वह हमारे प्राणों के भीतर तो अब भी एकदम अननुभूत नहीं है। हम प्रत्येक भावना की गहराई में उतरें तो

मालूम होगा कि वह हमारे व्यक्तित्व से परिबद्ध नहीं है। इस भाँति हमारी प्रत्येक भावना और हम स्वयं अपने ही निकट अज्ञेय बन जाते हैं। इसलिए अज्ञेय के प्रति श्रद्धा रखना कोई बुद्धिहीनता का लक्षण नहीं है। वह तो एक प्रकार से आत्म-विश्वास का ही एक रूप है। जिसको ज्ञान कहते हैं वह श्रद्धा के एक किनारे को ही छूता है। श्रद्धा ज्ञान की विरोधिनी नहीं है। और ज्ञान के स्वरूप को भी देखिये। हमारे अधिक जानने का मतलब यही होता है कि अज्ञेय का परिमाण हमारे निकट बढ़ जाता है। जो ऐसा नहीं करता, वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है। वह आत्म-वंचना है, अहंकार है।

प्रश्न—ठीक इसी तरह कहा जा सकता है कि श्रद्धा ज्ञान के एक किनारे को छूती है। आत्म-विश्वास क्या चीज है? आत्मा और विश्वास दोनों ज्ञान-गम्य हैं। इनकी मार्फत श्रद्धा नहीं समझी जा सकती।

उत्तर—कहा जा सकता है तो कहिए। मुझसे नहीं कहा जाता।

प्रश्न—'मुझसे' क्या है? इसके मानी हुए कि सब ज्ञान व्यक्तिगत है? फिर ऊपर आपने कहा कि व्यक्ति को व्यक्तित्व छोड़ना चाहिए, अब उसी की शरण आप ले रहे हैं।

उत्तर—वह तो मैं अब भी कहता हूँ। व्यक्ति को अपनी व्यक्तिमत्ता से ऊँचा रहना चाहिए। इस स्थिति में वह जानने से ऊँचा होगा। ज्ञान एक बन्धन है। जो मैंने कहा उसका तो मतलब यही होता है कि मैं मुक्त नहीं हूँ। ज्ञान के बन्धन से छूटा हुआ नहीं हूँ। सारा ज्ञान व्यक्तिगत है। पर अन्त में जाकर व्यक्ति असिद्ध है। इस तरह सारा ज्ञान भी झूठा हो जाता है। ज्ञान और ज्ञात सब माया है, यह वेदान्त की स्थिति इसी दृष्टिकोण से यथार्थ ठहरती है। विज्ञान भी तो बताता है कि सब आपेक्षिक है, Relative है।

प्रश्न—ठीक इसी तरह कहा जा सकता है कि समस्त श्रद्धा बन्धन है। समस्त श्रद्धा व्यक्तिगत है, अतएव असत्य है। ज्ञान असत्य है, श्रद्धा असत्य है। फिर सत्य बनता है सिर्फ अज्ञात जो

फिर ज्ञान की संज्ञा है, श्रद्धा की संज्ञा नहीं है। इस गोरख-धन्धे का कोई अन्त नहीं पायगा। यानी आप जो कहते हैं वह आपके लिए ठीक है, जो मैं कहता हूँ मेरे लिए ठीक है। फिर समझौता क्या है ही नहीं ?

उत्तर—श्रद्धा हम को बाँधती नहीं, खोलती है। क्योंकि श्रद्धा का आधार रेखाबद्ध नहीं होता। जो स्वयं घिरा नहीं है, वह दूसरे को कैसे घेरेगा ? इसलिए भक्त की भक्ति का आधार चूँकि अपरिमेय होता है, निर्गुण होता है, (सगुण मूर्ति तो केवल उपलक्ष्य है, रूपक है) इस कारण यह एकदम असम्भव हो जाता है कि वह भक्ति अथवा श्रद्धा अपने पात्र को परिमित करे। जहाँ श्रद्धा-भक्ति में से यह निर्गुणता का गुण निकल गया, वहाँ कट्टरता आ जाती है। यानी, श्रद्धा स्वयं एक मतवाद हो जाती है।

जिसको साधारण अर्थों में 'ज्ञान' कहते हैं यह वैज्ञानिक दृष्टि से तो रेखा-बद्ध होता ही है। अर्थात् वह मतरूप और 'वाद' रूप होता है। अगर वह मूल में श्रद्धा-प्रेरित नहीं है, तो साफ है कि स्वयं रेखा-बद्ध होने के कारण वह अपने पात्र को (अर्थात् ज्ञानी को) रेखाओं के बन्धन में बाँध लेगा।

मेरी बुद्धि अलग है, आपकी बुद्धि अलग। इसलिए बुद्धि में कोई समझौता नहीं ही है। लेकिन आपकी आत्मा और मेरी आत्मा अलग नहीं है। इसलिए परमात्मा की ओर चलने में समझौता हुआ रखा है। बल्कि वह समझौता उधर के अतिरिक्त और कहीं नहीं ही है। इसी को यों कहो कि जगत् का त्राण आध्यात्मिकता के मार्ग में है। वाद-वादान्तरों से उलझन ही बढ़ने वाली है।

प्रश्न—आत्मा क्या ? आध्यात्मिकता क्या ?

उत्तर—आत्मा वह जो मुझमें है, तुममें है, और दोनों में एक है, और जिसमें हम दोनों एक हैं।

और आध्यात्मिक प्रवृत्ति वह जो इस एकता की ओर बढ़ती है।

प्रश्न—जीवन का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर—जीवन का उद्देश्य ? यानी मेरे-तुम्हारे जीवन का उद्देश्य। वह उद्देश्य है समष्टि के प्राणों के साथ एकरस हो जाना। व्यक्ति अपने को छिटका हुआ अलग न अनुभव करे, समस्त के साथ अभिन्नता अनुभव करे, यही उसकी मुक्ति, यही उद्देश्य है।

प्रश्न—क्या जीवन का उद्देश्य सुख और शान्ति पाना नहीं है ?

उत्तर—मान भी लूँ कि सुख और शान्ति उद्देश्य है; लेकिन तभी सवाल खड़ा होता है कि वह सुख और शान्ति क्या है ? सुख-शान्ति व्यक्ति-गत परिभाषा में समझे और लिए जाते हैं। इसीलिए मैं यह पसन्द नहीं करूँगा कि जीवन के उद्देश्य को सुख और शान्ति के रूप में समझा जाय। मेरा सुख, और मेरी शान्ति मैं अपने ढंग से किन्हीं भी कामों में समझ सकता हूँ। वह दूसरे के सुख और शान्ति से टकरा भी सकता है। इसलिए 'सुख और शान्ति' कहने के बाद 'सच्चा सुख' और 'झूठा सुख,' 'सच्ची शान्ति' और 'झूठी शान्ति'; इस तरह के शब्दों का व्यवहार आवश्यक हो जायगा। ऊपर जो मैंने बात कही उसमें सुख और शान्ति तो आ ही जाते हैं, नहीं तो सुख और शान्ति की दूसरी परिभाषा ही क्या है ?

प्रश्न—मनुष्य स्वार्थी क्यों बनता है ? क्या स्वार्थी बनकर उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है ?

उत्तर—अविद्या के कारण स्वार्थी बनता है; माया-मोह के कारण, श्रद्धा की हीनता के कारण स्वार्थी बनता है।

नहीं, स्वार्थी बनकर उद्देश्य-साधन नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या संसार में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो माया, मोह, अविद्या और श्रद्धा-हीनता से बचा हो ?

उत्तर—कोई अधिक बन्धन में हैं, कोई कम बन्धन में है। पूर्ण मुक्त आत्मा देह धारण ही क्यों करेगा ?

प्रश्न—तो क्या विश्व-भर में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो जीवन के उद्देश्य को जानता हो ?

उत्तर—मैं विश्व-भर के कितने-से व्यक्तियों को जानता हूँ ? बहुत थोड़े व्यक्तियों को जानता हूँ। मेरी प्रतीति है कि कम-अधिक सुलगता हुआ उस उद्देश्य का ज्ञान सभी में निहित है। सबमें आत्मा है। जिनमें वह दहककर प्रज्वलित और ज्योतिर्मय हो गया है वही तो महापुरुष हैं, और वंदनीय बन गये हैं।

प्रश्न—क्या इन महापुरुषों में जो वंदनीय बन गये हैं स्वार्थ नहीं था ? यदि था तो उनका उद्देश्य-साधन किस प्रकार हुआ ?

उत्तर—स्वार्थ यदि होगा भी तो इतना सूक्ष्म कि नगण्य।

प्रश्न—'आर्ट' क्या है ?

उत्तर—यह पुराना सवाल है। इसमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि 'आर्ट' शब्द को लेकर हम कोई झमेला तो नहीं खड़ा करना चाहते हैं। आदमी की आदत हो गई है कि नये शब्द बनाता है और उनके सहारे जीवन में सुलझन नहीं, बल्कि उलझन बढ़ा लेता है।

'आर्ट' शब्द पर हम चकरायें नहीं। उसको लेकर पोथे-पर-पोथे लिखे जाते हैं और वे विभ्रम में डाल सकते हैं। इसलिए 'आर्ट' शब्द के पीछे अगर हमारे मन की कोई भावना न हो तो उस शब्द का बहिष्कार करके ही चलना अच्छा है।

'आर्ट' अधिकांश में ढकोसला है। मेरा मतलब 'वाद वाले आर्ट से है। वह मानव के आत्म-गर्व और आत्म-प्रवंचना पर खड़ा होता है।

यों सचाई की ओर हम चलें तो आर्ट चित्त की उस सूक्ष्म वृत्ति के उत्तर में पैदा होता है जो प्रयोजन नहीं, मिलन खोजती है। मानव में शाश्वत के, सनातन के, अनन्त के प्रति रह-रहकर जो उद्भावना होती है, वही कला की प्रेरणा है। और उसके व्यक्त-फल को कला-वस्तु कहा जाता है।

प्रश्न—क्या जीवन में उसका होना आवश्यक है ?

उत्तर—आवश्यक से भी अधिक है, अनिवार्य है। लेकिन 'आर्ट' शब्द पर होने वाली बहस आदि बड़े सहज भाव से अनावश्यक हैं।

—:—

२–धर्म और अधर्म

प्रश्न—धर्म क्या है ?

उत्तर—बड़ा अच्छा प्रश्न किया गया है कि धर्म क्या है ? जैन-आगम में कथन है कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।

इस तरह स्वभाव-च्युत होना अधर्म और स्वनिष्ट रहना धर्म हुआ।

मानव का धर्म मानवता, दूसरे शब्दों में उसका अर्थ हुआ आत्मनिष्टा।

मनुष्य में सदा ही थोड़ा-बहुत द्वित्व रहता है। इच्छा और कर्म में फासला दीखता है। मन कुछ चाहता है, तन उस मनको बाँधे रखता है। तन पूरी तरह मन के वस में नहीं रहता, और न मन ही एकदम तन के अधीन हो सकता है। इसी द्वित्व का नाम क्लेश है। यहीं से दुःख और पाप उपजता है।

इस द्वित्व की अपेक्षा में हम मानव को देखें तो कहा जा सकता है कि मन (अथवा आत्मा) उसका 'स्व' है, तन 'पर' है। तन विकार की ओर जाता है, मन स्वच्छ स्वप्न की ओर। तन की प्रकृति को विकार स्वीकार करने पर मन में भी मलिनता आ जाती है और उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। इससे तन की गुलामी पराधीनता है और तन को मन के वश रखना और मन को आत्मा के वश में रखना स्वनिष्टा, स्वास्थ्य और स्वाधीनता की परिभाषा है।

संक्षेप में सब समय और सब स्थिति में आत्मानुकूल वर्तन करना धर्माचरणी होना है। उससे अन्यथा वर्तन करना धर्म-विमुख होना है। असंयम अधर्म है; क्योंकि इसका अर्थ मानव का अपनी आत्मा के निषेध पर देह के काबू हो जाना है। इसके प्रतिकूल संयम धर्माभ्यास है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो धर्म को कहीं भी खोजने जाना नहीं है। वह

आत्मगत है। बाहर ग्रन्थों और ग्रन्थियों में वह नहीं पाया जायगा, वह तो भीतर ही है। भीतर एक लौ है। वह सदा जगी रहती है। बुझी, कि वहीं प्राणी की मृत्यु है। मनुष्य प्रमाद से उसे चाहे न सुने, पर वह अंतर्ध्वनि कभी नहीं सोती। चाहे तो उसे अनसुना कर दो, पर वह तो तुम्हें सुनाती ही है। प्रतिक्षण वह तुम्हें सुझाती रहती है कि यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है, यह तुम नहीं हो।

उसी लौ में ध्यान लगाये रहना; उसी अन्तर्ध्वनि के आदेश को सुनना और तदनुकूल वर्तना; उसके अतिरिक्त कुछ भी और की चिन्ता न करना; सर्वथैव उसी के हो रहना और अपने समूचे अस्तित्व को उसमें होम देना, उसी में जलना और उसी में जीना : यही धर्म का सार है।

सूने महल में दिया जगा ले। उसकी लौ में लौ लगा बैठ। आसन से मत डोल। बाहर की मत सुन। सब बाहर को अन्तर्गत हो जाने दे। तब त्रिभुवन में तू ही होगा और त्रिभुवन तुझ में, और तू उस लौ में। धर्म की यही इष्टावस्था है। यहाँ द्वित्व नष्ट हो जाता है। आत्मा की ही एक सत्ता रहती है। विकार असत् हो रहते हैं जैसे प्रकाश के आगे-आगे अन्धकार लुप्त होता जाता है।

प्रश्न—अधर्म क्या ?

उत्तर—जो धर्म का घात करे वह अधर्म। अधर्म अभावरूप है। वह सत्‌रूप नहीं है इससे अधर्म असत्य है।

इसी से व्यक्ति के साथ अधर्म है। समष्टि में तो अधर्म जैसा कुछ है ही नहीं। अतः कृत्य में धर्माधर्म का भेद व्यक्ति की भावनाओं के कारण होता है।

अधर्म स्व-भाव अथवा सद्भाव नहीं है, वह विकारी भाव है, अतएव पर-भाव है।

जीव के साथ पुद्गल की जड़ता को कम करने वाला, अर्थात् मुक्ति को समीप लाने वाला जब कि धर्म हुआ, तब उस बन्धन को बढ़ाने वाला और मुक्ति को हटाने वाला अधर्म कहलाया।

धर्म इस तरह स्व-पर में और सत्-असत् में विवेक-स्वरूप है। अधर्म का स्वरूप संशय है। उसमें जड़ और चैतन्य के मध्य विवेक की हानि है। उसके वश होकर जड़ में और जड़ता में भी व्यक्ति ममत्व और आग्रह रखता दीखता है। जड़ को अपना मानता है, उसमें अपनापन आरोपता है और इस पद्धति से आत्म-ज्योति को मन्द करता है और स्वयं जड़वत परिणमन का भागी होता है।

नित्य-प्रति के व्यवहार में जीव की गति द्वन्द्वमयी देखने में आती है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, रति-अरति। जैसे घड़ी का लटकन इधर-से-उधर हिलता रहता है, उसे थिरता नहीं है, वैसे ही संसारी जीव का चित्त उन द्वन्द्वों के सिरों पर जा-जाकर टकराया करता है। कभी बेहद विरक्ति (अरति) आकर घेर लेती है और जुगुप्सा हो आती है और घड़ी में कामना और लिप्सा (रति) लग जाती है। इस क्षण इससे राग, तो दूसरे पल दूसरे से उत्कट द्वेष का अनुभव होता है। ऐसे ही, हाल खुशी और हाल दुखी वह जीव मालूम होता है।

अधर्म इस द्वन्द्व को पैदा करने वाला और बढ़ाने वाला है। द्वन्द्व ही नाम क्लेश का है।

धर्म का लक्ष्य कैवल्य स्थिति है। वह नित्य और साम्य की स्थिति है। वहाँ सत् और चित् ही हैं। अतः आनन्द के सिवा वहाँ और कुछ हो नहीं सकता। विकल्प, संशय, द्वन्द्व का वहाँ सर्वथा नाश है।

अधर्म का वाहन है विकल्प-ग्रस्त बुद्धि। ममता, मोह, माया में पड़ी मानव-मति।

उसका छुटकारे का उपाय है श्रद्धा। बुद्धि जब विकल्प रचती है तो श्रद्धा उसी के मध्य संकल्प जगा देती है।

श्रद्धा-संयुक्त बुद्धि का नाम है विवेक।

जहाँ श्रद्धा नहीं है वहाँ अधर्म है। उस जगह बुद्धि जीव को बहुत भरमाती है। तरह-तरह की इच्छाओं से मनुष्य को सताती है। उसके अधीन होकर मनुष्य अपने भव-चक्र को बढ़ाता ही है। ऐसी बुद्धि का लक्षण है

लोकैषणा। उसी को अधर्म का लक्षण भी जानना चाहिए।

पुण्यकर्म समझे जाने वाले बहुत से कृत्यों के पीछे भी यह लोकैषणा अर्थात् सांसारिक महत्त्वाकांक्षा छिपी रह सकती है। पर वह जहाँ हो वहाँ अधर्म का निवास है। और जहाँ अधर्म है वहाँ धर्म का घात है।

इस बात को बहुत अच्छी तरह मन में उतार लेने की आवश्यकता है। नहीं तो धर्माधर्म का तात्त्विक भेद इतना सूक्ष्म हो जाता है कि जिज्ञासु के उसमें खो रहने की आशंका है।

मुख्य बात आत्म-जागृति है। अपने बारे में सोना किसी को नहीं चाहिए। आँख झपकी कि चोर भीतर बैठ जायगा। वह चोर भीतर घुसा हो तब बाहरी किसी अनुष्ठान की मदद से धर्म की साधना भला कैसे हो सकती है? इन्द्रियों की चौकीदारी इसलिए खूब सावधानी से करनी चाहिए। जो अपने को धोखा देगा उसे फिर कोई गुरु, कोई आचार्य, कोई शास्त्र और कोई देवता कहीं नहीं पहुँचा सकेगा। अपने को भूलना और भुलाना अधर्म है। जागते रहने और जानते रहने द्वारा अधर्म का पराभव होता है।

विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

शब्द	पृष्ठ-संख्या
अनैतिक	१७, ८८
अधिकार	३६, ४८, ५०, ११९, १४६
अवज्ञा	४१, ४८
अपराध	४४, ९०, १६०
अभिभावक	७५, ७६, ७९, ९७
अभिव्यक्ति	८४, ८६
अहंकार	१०७, ११५, ११६, २४१
अनुशासन	११८
अबला	१२३
अर्द्धनारीश्वर	१२८, १३०
अवकाश	१६८, १६९
अस्पृहणीय	१९८
असाधारण	१९८
अहिंसा	२११, २१२, २१३, २४५, २५३, २५४, २५५, २५८, २५९, २६२, २६३
अहिंसक-वृत्ति	२१२, २१४
अज्ञेय	२०६, २०७, २७३, २७४
अवनति	२३७
अशोक	२६५
अधर्म	२७८, २७९, २८०, २८१
अतीत	१६९, १८२
अन्तर्ध्वनि	२७९
अव्यक्त	१९७
आनन्द	५६, ५७, ५८, ६०
आकर्षण	६२
आन्तरिक	७६
आत्मा	१०५, १७८, १८५, १८६, २७५, २७९
आदर्श	१९७, २६५, २६६
आर्थिक	२४१
आशा	२६०
आध्यात्मिकता	२७५
आर्ट	२७७
आत्म-जागृति	२८१
आतंकवाद	२२७
आस्तिक	१०५
इतिहास	१५, १६
इटली	२६०
ईश्वर	१४५
ईसा	२३५
उद्योग	२२६, २२७, २३३
उन्नति	२३७
उद्देश्य	२७६

एकतन्त्रवादी २१७, २१८
एकान्ततः २००
औद्योगिक-विकास २१५, २१६, २१७
कर्तव्य ७, ८
काम ८८, ९०
कोमलता १२६
कठोरता १२६
क्रान्ति १४९, १५०, १५२, १६८, १६९
केन्द्रीकरण २१७
फल २२३
केन्द्रित २२६, २२७
कैपीटल १७३
काल १७६, १८०, १८२, १८४, २५८
कालिदास १६६
कर्म २४८
कांग्रेस २६३, २६४
कनफ्यूसिअस २६५
कैवल्य २८०
खंडन १७०
गवर्नर ३५
गिरस्ती १२७, १२८
गुणातीत १२१
गति १७८, १७९, १८०, २०५
घरेलू उद्योग २२९, २३०
चुनाव १९, २०
चेतन १९१
जाति ३२
जीवन १७८, १८५
जापान २२९
जमींदार २४, २५
जर्मनी २६०
जीव २८०
जड़ १९१
जैन-आगम २७८
तन २७८
दिल्ली १७८, १८३, २७१,
द्वन्द्व २८०
देश १, ३२, १८४
दण्ड ११७, १३८
दार्शनिक १९४
दैत्य २२९
दैत्याकारता २२९
दमन १५२
धर्म ३, ३६, १३८, १४८, १७९, २०५, २६२, २६६, २७८, २७९, २८०, २८१,
ध्येय ११२, १७९
धनवान २४०
धार्मिक २५१
न्यूटन १९६
नैतिकता १७, १८, ८८, १८९
नैतिक ११९, १८९, १९०, २६७

न्याय १३६
निर्धन २४०
निराशा २५६, २६०
परिवार २२, ११४, १२०, १२१
परमात्मा २७, १०५, १८३,
पंचायत १४६
पशु १५६
पशुता १५६, २११
पूँजीपति १६३
पूँजी १७४, २१५, २२८
परिस्थिति १७५, १७६, १७७
परिपूर्णता २०१
पार्टी २६२, २६३
पोप २६५
प्रेम ३, १५, ४६, ६१, ६२, ६३, ६६, ८०, ८५, ८६, १६२, १६३
प्रगति १६
प्रभा १६
प्रतिनिधि ४०
प्रयोग १६६
प्रकृति-विज्ञान १८८
प्रतिभा १६४
प्रजनन ८८
पुरुष १२२-१३०
पुद्गल २७६
प्रालीतारियत १७३
फेथ २५०
फासिज़्म २५२, २६१, २६५
फांसी १५१
बुर्जुर्ग २२, २३
बल ४३, १८६
वर्तमान ४४, ४६, १६६
बाह्य ७६
ब्रह्मचर्य ८२, ८३
बुद्धि २०७, २४८, २७५, २८०
बुद्ध १६५, २६५
ब्राह्मण २३०, २३१
मर्यादा ४७, ४८, १७६
मौत ८०
महापुरुष ३७, ३८, १६५, २५६, २७७
मेक अप १०२
मातृत्व ११२
मृदुता १२६
मशीन १३५
मूल्य १४१
मनुष्य १५६, २११, २१६
मनुष्यता १५६, २११
मार्क्स १७१
मार्क्सवादी १७२
मालिक २३७, २३८, २४२
मुसोलिनी २५१, २६० २७६
मार्क्सिज़्म १४६, २५०, २५२,

मोह २५७
गांधी (वाद) २५८,२६३,२६५
मोहम्मद साहब २६५
मन्त्री २६४,२६५
मुक्ति २७२
मन २७८
मजदूर (मजूर) १३५,१३८,१४०
भूख ६,७
भविष्य ४४,४६,१६६
भजन १३२,१३३
यन्त्र २१६,२२४,२२५
योग्यतम १८७,१८८
युद्ध १८५
राष्ट्र ११,१२,३२,४०,६३,२३८
राजनीति १६
राज-क्रान्ति १८५
राष्ट्रीयता २६०
राष्ट्रीय अर्थतन्त्र २२३
रवीन्द्र २७१
रूस २४७
रोटी १३३,१३५
लोकमत १६३,१६४
लेनिन २५०
विकास १५,१६,१४६,,१७६,१८०,
१८१,१८२,१८३,१६१,
व्यापार ६
विधान १६
वोट १
व्यक्तिगत-सम्पत्ति २३
विज्ञान २६,२३०
व्यक्ति २७,२६,३४,३५,४०,४७,
१११,१२०,१२१,१७५
व्यक्तित्व ३६,११६,१६८,२७२,
२७४,
विवाह ६३,६५,७४,७५
विश्वास ११२
वर्ग १६०,१६१,१७३
विषमता १४४,१६२,२०५,२०८
वर्ग-विग्रह १६२
वैज्ञानिक १६६,२५६
विशेषता १६६
विशेषज्ञता २०१,२०२
विकीरण २१६,२२३,२६७
वैश्य २३०,२३१,२४१
व्यवसाय २३१
बौद्धिक ज्ञान २०७
वाद २४६,२४८,२५०,२५३,२५४
वैज्ञानिक-समाजवाद २६०
व्यवहार २६५,२६६
वर-वधू ७४,७५,७६,७७
संस्कृति १,६६,२१०,२१७
सांस्कृतिक ६६,२३३,२३४,२३५
स्वाधीनता १
सभ्यता १,३२,१८४

सरकार ५
स्वार्थ ८,९,२३९,२४०,२७६
समाज १५,२२,२६,२७३०,३१, ४०,४७
स्वराज्य ४३
सम्बन्ध-विच्छेद ६८
सन्तति ८२,८४,८७,९२
सन्तति-निरोध ८८,८९
सम्भोग १९
सौन्दर्य १००,१०१
स्व ११२,१८४,१८५
स्त्री १२२,१३०
समकक्षता १२४
सार्वजनिक १२६
सगुण १३२
सहयोग १४६
संस्था १६६
समाजवादी १७१,१७२,२४३,२४७
सत्य १७८,२०६,२७३
स्थूल १८४, १९१
सूक्ष्म १८४, १९१
सम्पूर्णता २१३
साम्राज्य २१५
समाज-गति २१९
सर्वोदय २२२, २३१
स्वावलम्बन २३२
साम्यवादी २३८
साम्यवाद २३९
समाजवाद २४०,२४३,२४४,२६१
सद्भावना २४२
स्टेट ३४, ३५, ४२, १४५
समता २४२
सम्प्रदाय २६२
संगठन २६२
संस्कार २७१
संयम २७१
सत्ता १७७, १७९
सरवाइवल १८७, १८८
सार्थकता १८१
शासक १६
शासन ३६, ४३, २६७
शारीरिक १००
शोषण १६१
शिक्षण ९६
शान्ति २७६
हिंसा १५२, १५३, १७०, १९१, २१३, २२९, २३९, २६४
हिटलर २४६, २५१, २६०
ज्ञान १६, २७४
श्रद्धा ५१, २०६, २२८, २४५, २५६, २५७ २७४, २७५
श्रम १४०, १७४, २२५
श्रेणी २४०
श्रेणी-विग्रह २३९

जैनेन्द्र-साहित्य (६)

प्रस्तुत प्रश्न

आज की दुनिया को परेशान करने वाले सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रश्न और उनके समाधान

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली।

कैफ़ियत

इस युग की सभ्यता को राजनीतिक कहिए। समस्याएँ राजनीतिक मानी जाती हैं और मानवता के त्राण को भी राजनीतिक रूप में देखा जाता है। इतिहास का अर्थ उसी नजर में लगाया जाता है और भावी के निर्माण में भी उसी दृष्टिकोण का प्रयोग है।

पर उस राह लड़ाई है समाधान नहीं, यह परिणाम आज प्रत्यक्ष भी है। राजनीति अधूरे जीवन को छूती है। राजनीतिक सभ्यता से जीवन सभ्य नहीं होगा। जीवन का निर्माण ऐसे न होगा, वह मुक्ति की ओर यों नहीं बढ़ेगा। वह सभ्यता जो देना था दे चुकी। उसकी अपर्याप्तता अब जग-जाहिर है। एक विस्फोट और वह समाप्तप्राय है। और वातावरण में इतनी आतंक की बारूद भरी है कि विस्फोट का काल बहुत नहीं टल सकता।

तब जरूरी है कि एक अधिक स्वस्थ, अधिक निर्भय और समन्वयशील जीवन-विधि का सूत्रारम्भ हो और वही दृष्टिकोण लोक में प्रतिष्ठित किया जाय। उसी की नींव पर सच्चा और दृढ़ और सुखी भविष्य खड़ा होगा।

शायद यह पुस्तक धृष्टता हो। मैं मोह-मुक्त नहीं हूँ। इस दुनिया का कुछ चाहना पाप है। पर चाह से एकदम छुट्टी कहाँ ? और जो लक्ष्य के अनुगत है वह चाह कर्तव्य भी हो जाती है। सो जो हो, यह पुस्तक सामने आने देने का साहस मुझसे बन रहा है।

दरियागंज, दिल्ली
६।८।३८

जैनेन्द्रकुमार

भूमिका

इन प्रश्नों के प्रश्न-कर्ताओं में मैं भी एक हूँ। इसी से मुझ पर उस बारे में कुछ कहने का भार और दायित्व आता है। वह भार और अधिकार अपेक्षाकृत मुझ पर अधिक है क्योंकि एक तो इस पुस्तक का आरम्भ ही मुझसे हुआ है, दूसरे उसके अधिकांश में मेरे ही किये हुए प्रश्न हैं। इसलिए मुझे योग्य है कि प्रश्नकर्ता के नाते मैं अपनी और परोक्षतः उन अन्य की बात पाठकों को कहूँ।

सबसे पहले शायद मुझे बताना चाहिए कि मैं प्रश्न-कर्ता क्यों बना? जैनेन्द्रजी स्वयं लेखक हैं और इस विषय की पुस्तक भी वे एक या अनेक स्वयमेव लिख सकते थे। फिर किस लिए यह प्रश्नोत्तर का आडम्बर?

हाँ, पुस्तक वह प्रश्नों के बिना लिख सकते थे। लेकिन क्या यह भी स्वाभाविक नहीं है कि इस जीवन के सम्बन्ध में किसी के अपने कुछ प्रश्न हों और वह उनका उत्तर किसी लेखक ही से सुनना चाहे? लेखक का लेखन-कार्य जीवन या प्रश्नों के उत्तर-प्रत्युत्तर-स्वरूप ही सम्भव बनता है। सो वैसे प्रश्न, मैं समझता हूँ, हरेक के साथ लगे रहते हैं और उनका उत्तर एक लेखक से उपयुक्तता के साथ माँगा जा सकता है। बस यही स्थिति समझिए जहाँ कि इस पुस्तक की जड़ जमी। जैनेन्द्रजी से मेरा सम्पर्क हुआ और प्रश्नोत्तर का मौका मिला। आखिर एक दिन यह भी सूझा कि ये प्रश्नोत्तर लेखनी-बद्ध ही क्यों न किये जायँ जिससे बहुतों को नहीं तो कम-से-कम मुझ-जैसे व्यक्तियों को विचारार्थ कुछ मिल सके।

इस ढंग से यह पुस्तक बनी और ऐसी ही इसमें विशेषताएँ आ गई हैं: एक जैसे यही कि उसके विषय-विस्तार और विकास में कोई निबंधात्मक क्रम नहीं देख पड़ता। आरम्भ और अन्त उसका जिस प्रकार हुआ है उसके

पीछे कोई बाहरी सोच-विचार नहीं है। जो प्रश्न सबसे आगे आया, उसी से आरम्भ बन गया और जहाँ आकर प्रश्नों का तारतम्य और सूत्र रुक गया वहाँ स्वभावतः अन्त हो गया। समूची पुस्तक ही के बारे में यह सच नहीं है, बल्कि उसमें आये सभी विषय-प्रसंग उसी प्रकार एक के बाद एक उठते और चलते गये हैं।

किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध का अभाव तो उन्हीं में क्या जीवन की किन्हीं भी दो वस्तुओं में असम्भव है। हाँ, किसी प्रस्तुत सिद्धान्त के प्रतिपादन में जो नक्शे-बन्दी की जाती है, वह यहाँ नहीं है। वे तो प्रश्न हैं और अलग-अलग हैं तो इसलिए कि वे अवश भाव से बिना क्रम की प्रतीक्षा के दिमाग के जीवन के पर्दे से चहकते और उठते हैं। और यदि वे किसी एक सूत्र से सम्बन्धित हैं, तो वह भी इसलिए कि वे सब उसी एक जीवन-जिज्ञासा में से उठते हैं और हमारे व्यक्ति-वैभव्य को मार कर किसी एक ही समन्वय सत्य की खोज से प्रेरित होते हैं। मैं तो कहूँगा, जहाँ तक इस प्रस्तुत पुस्तक के प्रश्न, किसी अनिवार्यता से मेरे या अन्य प्रश्न-कर्ताओं के दिमाग में जागे हैं, चाहे वे फिर कैसे भी असम्बद्ध प्रतीत होते हों, असल में वहीं तक प्रयोजन की सिद्धि हुई है। और इसके विपरीत जहाँ तक किसी पूर्व विचार या सिद्धान्तों को लक्ष्य कर प्रश्नों का आयोजन हुआ है, वहाँ तक मानना चाहिए कि लक्ष्य की सिद्धि नहीं हुई है, और बुद्धि का विलास होकर रह गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकरणों की बाबत भी स्वीकार करना होगा कि प्रश्न समाप्त होने के अनन्तर केवल पाठकों की सुविधा के लिए प्रश्नान्तर्गत विषय-वैषम्य को देखकर और कुछ अनुपात का ध्यान रखकर परिच्छेदों का विभाग किया गया है। इसीलिए किसी में गठन की एकता नहीं है और किन्हीं में इतना साम्य है कि उनका विभक्त किया जाना अन्याय-सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कुछेक को बहुत छोटा, और कुछेक को बहुत बड़ा छोड़ देने की लाचारी हुई है।

यह तो प्रश्न और उनके कारण पुस्तक के विधि-प्रकार की बात हुई। किन्तु पुस्तक के मुख्य पुरोधा अर्थात् उत्तरदाता के बारे में भी अपना दृष्टि-कोण व्यक्त करना शायद मेरे लिए आवश्यक है। यदि मैं ठीक समझा हूँ तो उनके लिए भी मैं कहूँगा कि उत्तर उन्होंने प्रस्तुत नहीं किये हैं, बल्कि वे प्रस्तुत हुए हैं। यह कहने का मेरा मतलब उस अनायास भाव से है जिससे वह उनसे प्राप्त हुए हैं। लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि जैनेन्द्रजी कोई बड़े पण्डित हैं या बहुत अभ्यासी हैं, अथवा बहुश्रुत हैं। नहीं, एक और अनायासता भी है जो कि पांडित्य और अभ्यास की बात को बिल्कुल भूलकर सम्भव बन उठती है। अर्थात्, जब कि व्यक्ति किसी समस्या का हल पेश करने का दावा या दायित्व लेकर नहीं बैठता है, बल्कि उसके प्रति केवल अपने को व्यक्त करता है। जिस समाज, जिस राष्ट्र अथवा दुनिया में वह रहता है, उसके प्रति उसकी अपनी भावना है—एक जीवित आस्था है। और जब कोई समाज, राष्ट्र और दुनिया का प्रश्न उसके सामने आता है तो उत्तर में जैसे शुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप उसके अन्तर से वही भावना व्यक्त हो जाती है। वह तो भावना का वाहक है। किन्तु वह भावना क्या है, यह वह स्वयं नहीं जानता। वह निर्गुण (=without attributes) और अपरिभाष्य (=without definition) है। वह कोई बुद्धिगत वाद या सिद्धान्त भी नहीं है जिसे खड़ा करने के लिए उसे युक्तियों के चुनाव का प्रयास करना पड़े। नहीं, भावनाशील व्यक्ति कोई सत्य का अटल स्तम्भ खड़ा करने की कोशिश नहीं करता है और न युग-युगान्तर उसकी रक्षा के लिए उसके चारों ओर कोई तर्क का किला बनाने की उसे चिन्ता होती है। न उसे किसी क्षण यह चिन्ता होती है कि उसकी बात को अन्य लोग मानें ही। और इसीलिए उसके उत्तर में क्या, समस्त जीवन में यदि वह भावना-प्रधान है तो अनायासता रहती है। ऐसी कुछ अनायासता जैनेन्द्रजी के उत्तर देते समय मैंने अनुभव की। इसीलिए पाठकों से मैं निवेदन कर देना चाहूँगा कि वे उन उत्तरों को इसी पहलू से पाने की कोशिश करें। उस कोशिश में यह ध्यान तनिक न होना चाहिए कि उन्हें

किसी बात को मानने के लिए बाध्य किया जा रहा है क्योंकि वह स्वयं ही उनसे अपने को परिबद्ध नहीं समझते हैं। बल्कि समझना चाहिए कि यह उनके कुछ क्षणों की अभिव्यक्ति है जो किन्हीं प्रश्नों के उत्तर में उस उपलब्धि से हुई है। फिर भी यदि अनायास पाठक के हृदय में प्रश्नों के उत्तर जगह लेने चलें तो दूसरी बात हैं। इसी से हो सकता है कि उत्तरों में यहाँ-वहाँ युक्ति और तर्क का उल्लंघन अथवा आदि और अन्त के दरम्यान संयुक्तता और शृंखला की कमी भी दीख पड़े। लेकिन इस प्रकार की सँकरी सुसंगता को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए, बल्कि शब्दों के परोक्ष में उस चीज को देखना चाहिए जो कि यदि है, तो वही असलियत है।

—हरदयाल

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

१. देश : उसकी स्वाधीनता - - - १
२. विविध देश : उनका पारस्परिक सम्बन्ध - - - ५
३. देश: इकाई और उनका अन्तरंग - - - ११
४. शासन-तन्त्र-विचार - - - १६
५. व्यक्ति और शासन-तन्त्र - - - ३४
६. व्यक्ति और समाज - - - ४७
७. कर्तव्य-भावना और मनोवासना - - - ५६
८. आकर्षण और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध - - - ६३
९. विवाह - - - ७४
१०. सन्तति - - - ८२
११. सन्तति, स्टेट और दाम्पत्य - - - ९३
१२. सौन्दर्य - - - १००
१३. आकांक्षा और आदर्श - - - १०५
१४. ध्येय - - - ११२
१५. समाज-विकास और परिवार-संस्था - - - ११४
१६. स्त्री और पुरुष - - - १२२
१७. अर्थ और परमार्थ - - - १३३
१८. मजूर और मालिक - - - १३५
१९. क्रान्ति : हिंसा-अहिंसा - - - १४९
२०. व्यक्ति और परिस्थिति - - - १७५
२१. जीवन-युद्ध और विकासवाद - - - १८७
२२. प्रतिभा - - - १९४

द्वितीय खण्ड

१.	हमारी समस्याएँ और धर्म	२०५
२.	ऐतिहासिक भौतिकवाद	२०६
३.	औद्योगिक विकास : मजूर और मालिक	२१५
४.	औद्योगिक विकास : शासन-यन्त्र	२२३
५.	समाज 'वाद'	२४२
६.	मार्क्स और अन्य	२४६
७.	लेकिन अहिंसा ?	२५३
८.	विकास की वास्तविकता	२५६

तृतीय खण्ड

१.	व्यक्ति, मार्ग और मोक्ष	२९१
२.	धर्म और अधर्म	२७८

प्रथम खण्ड

प्रश्नकत्त

श्री हरदयालसिंह 'मौजी'

प्रस्तुत प्रश्न

१—देश : उसकी स्वाधीनता

प्रश्न—किसी देश की स्वाधीनता से आप क्या समझते हैं?

उत्तर—'देश' एक भूखंड का नाम है। परन्तु भूमि खंडित नहीं है। अपना काम चलाने-भर के लिए हम भूमि को विभक्त रूप में देखते हैं। इस विभाजन में नदी, समुद्र-तट, पर्वत-माला आदि प्रकृति के उपादानों से भी सहायता ली जाती है। यह देश का बाहरी रूप हुआ।

अब, मानव के नाना समुदायों ने अपने वर्तन और वृद्धि के निमित्त अपने काल-क्षेत्र के अनुकूल संस्था-संघ, नीति-नियम, भाषा-संस्कार, और आचार-विचार उपजाए। उस सब प्रयत्न-फल को समन्वित भाव में 'संस्कृति' कहिए। इन संस्कृतियों में स्वभावतः एक-दूसरे की अपेक्षा कुछ भिन्नता और विशेषता रहती है। इसी को देश का (की सत्ता का) अंतरंग स्वरूप कहना चाहिए।

अतः देश की स्वाधीनता वह स्थिति है जो उस अमुक भूखण्ड को (-के वासियों को) अपनेपन में सुरक्षित रहने दे, फिर भी शेष भू-भाग और अन्य भूखंडों के प्रति उसे मेल बढ़ाने में सहायता दे।

स्वाधीन का मतलब अपने अधीन होना है—किसी और देश का उस पर आतंक न हो। साथ ही यह भी उसका मतलब होना चाहिए कि किसी अन्य देश पर उसे लोभ की अथवा आक्रमण की लालसा न हो। क्योंकि अगर वैसी लालसा है, तो उतने अंश में उसको स्वस्थ नहीं कहना होगा।